नयी समीक्षा

लेखक

अमृतराय

हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस

विषय-सूची

लेखक की ओर से

इस पुस्तक में सन् ४७ और ४८ के बीच लिखे गये मेरे फुटकर साहित्यिक लेख संगृहीत हैं। लेखों का रचनाकाल हर लेख के अंत में दे दिया गया है। संग्रह करते समय लेखों में जहाँ तहाँ कुछ संशोधन किया गया है।

इन वर्षों में मेरे विचारों में भी प्रगति हुई है, इसलिए यह कहना ठीक होगा कि ये लेख पूरी तरह मेरे आज के विचारों का दर्पण नहीं हैं। जो लेख एकदम गलत लगे उन्हें तो खैर संग्रह में जगह ही नहीं दी गयी; लेकिन ये जो लेख आपके सामने हैं, इनमें भी कुछ ऐसे हैं जिन्हें मैं आज लिखना जरूरी न समझता या अगर लिखता भी तो दूसरी तरह से, दूसरी जगहों पर जोर देकर। इसके साथ ही इस पुस्तक में ऐसे कई लेखों की कमी खटकती है जिनकी आज तत्काल जरूरत है, मसलन् ऐसे लेख जो प्रगति-विरोधियों के गढ़ पर और भी सीधी, जोरदार चोट करते हों। इसके साथ ही साथ गौर करने की एक चीज यह भी है कि साहित्य के मैदान में वर्ग-संघर्ष की तीक्ष्णता की एक-सी चेतना सभी लेखों में नहीं मिलती। इसका एक कारण यह तो है ही कि इन आठ वर्षों में वर्ग-संघर्ष की तीक्ष्णता एक-सी नहीं रही है, आज जो स्थिति है उसकी कल्पना भी दस बरस पहले नहीं की जा सकती थी। तब किसी के लिए भी यह कहना कठिन होता कि दस बरस के अंदर-अंदर अपने देश में भी ऐसी हालत पैदा हो जायगी। मगर इसके बावजूद यह कहना जरूरी है कि इस खामी का असली कारण है साहित्य और राजनीति की गलत, सुधारवादी समझ। वर्ग-संघर्ष की तीक्ष्णता पर पर्दा डालना ही सुधारवाद की मुख्य विशेषता है। अपने अंदर इसी चीज से लड़ना हर मार्क्सवादी-लेनिनवादी आलोचक का पहला काम होना चाहिए। सुधारवाद क्रांतिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद का वर्ग-शत्रु है और उसके साथ वैसा ही निर्मम बर्ताव करना चाहिए। पूँजीवादी परिवेश में रहनेवाले मार्क्सवादी भी लगातार अपने परिवेश से असर लेते रहते हैं, इसलिए उनको अपने इस पूँजीवादी दुश्मन की ओर से और भी सतर्क रहना चाहिए।

अपनी इन कमजोरियों और खामियों के बावजूद यह पुस्तक साहित्य की प्रगतिशील, जनवादी समझ को खूराक पहुँचाती है और इससे हमारे आंदोलन को मदद मिलेगी, इसी विश्वास के साथ यह पुस्तक आपके सामने रखी जा रही है।

—लेखक

जनवरी १९५०]

नयी समीक्षा

आलोचना का मार्क्सवादी आधार

हमारे साहित्य में आज आलोचना के अनेक मानदंड प्रचलित हैं। उन्हीं अनेक मानदंडों में से एक लेकिन सबसे गतिशील और प्रबल मार्क्सवादी आलोचना है। हमारे साहित्य में इसका प्रचलन और प्रसार कुछ ही वर्षों से हुआ है। मार्क्सवादी आलोचना बड़ा विशद विज्ञान है, इसलिए हमें उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। तभी हम किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे जिससे हमारे साहित्य का कल्याण होगा। शुद्ध मन से किसी समस्या पर विचार करना ही किसी सच्चे साहित्यसेवी का लक्ष्य हो सकता है। व्यर्थ के वितंडावाद को प्रश्रय देना कभी भी ठीक नहीं होता। पहले ही से अपने को ठीक और शेष संसार को ग़लत मानकर तर्क करने की प्रवृत्ति समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझाने ही में अधिक योग देती है। इसलिए आइए, सबसे पहले यह देखें कि मार्क्सवादी आलोचना क्या है। मार्क्सवादी आलोचना क्या है, यह भलीभाँति समझ लेने पर यह बतलाने में विशेष कठिनाई न होगी कि मार्क्सवादी आलोचना क्या नहीं है।

यों हमारे साहित्य में इस विषय का काफ़ी विस्तार से विवेचन हो चुका है। और पूर्ण विस्तार से इसका सांगोपांग विवेचन करने के लिए कई पोथियाँ लिखना आवश्यक होगा। यहाँ पर बहुत संक्षेप में केवल यह बतलाना उद्दिष्ट है कि मार्क्स-वादी आलोचना का बीजमन्त्र क्या है, समाज और साहित्य के विकास का वह कौन-सा सिद्धान्त है जिसे लेकर मार्क्सवादी आलोचना चलती है और जिसके अनुसार वह समस्त पुरानी और नई साहित्य-राशि की व्याख्या करती है।

मार्क्सवादी आलोचना का बीज मार्क्स का यह कथन है कि मनुष्य का दैनंदिन जीवन उसकी चेतना पर आश्रित नहीं, वरन् इसके विपरीत

मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक *जीवन पर आश्रित होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि इस पदार्थ-जगत् का अस्तित्व मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र और निरपेक्ष है; परन्तु मनुष्य की चेतना का आधार यह पदार्थ जगत् है। उसकी चेतना की सत्ता पदार्थ-जगत् से स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं है। उसकी चेतना वस्तु-सापेक्ष है, परिस्थिति-सापेक्ष है, समाज-सापेक्ष है। पदार्थ-जगत् का अस्तित्व तो रहेगा ही, किसी को उसकी चेतना हो या न हो; क्योंकि उसका अस्तित्व व्यक्ति की चेतना के बाहर है। मेरे कमरे की दीवार तो रहेगी ही, मैं उसे देखूँ या न देखूँ, मेरा सिर उससे टकराये या न टकराये। मेरे संज्ञाहीन या चेतना-शून्य हो जाने से दीवार की इयत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार जैसे पागलखाने के सैकड़ों पागलों के यह सोचने पर भी कि वे मुक्त हैं, उनके चारों ओर की ऊँची ऊँची दीवारें बिना खिसके हुए, अचल, पूर्ववत् उन्हें कारावद्ध किये रहती हैं। यही बात मनुष्य की चेतना के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। पदार्थ-जगत् से हटकर उसके अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वस्तु-जगत् ही उसका मूलाधार है, उससे स्वतंत्र और निरपेक्ष वह कुछ नहीं है। इस बात को यदि सरल रूप में कहें तो कहेंगे कि परिस्थितियाँ मनुष्य की चेतना को गढ़ती हैं। अतः साहित्यकार की चेतना को भी परिस्थितियाँ गढ़ती हैं। जिस समाज का वह प्राणी होता है, जिन परिस्थितियों में वह उठता-बैठता, सोता-जागता तथा जीविकोपार्जन करता है, उनसे प्रभावित हुए बिना उसका साहित्य नहीं रह सकता। साहित्यकार चाहे या न चाहे, परिस्थितियाँ उस पर प्रभाव डालेंगी ही, सामयिक समाज रचना की छाप उस पर पड़ेगी ही। परिस्थितियाँ विचार-धारा पर प्रभाव डालती हैं और विचार-धारा परिस्थितियों पर। दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर—यह सामान्य तथ्य जिसे स्वीकार करने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होगी, यही मार्क्सवादी आलोचना का बीज है। भारतीय शास्त्रकारों ने भी साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय संबंध को सदा स्वीकार किया है। इस लिए यह कहना ठीक होगा कि मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति कोई विचित्र, 'न भूतो न भविष्यति' वाली वस्तु नहीं है। वह भारतीय

---

* It is not the consciousness of people thet determines their everyday life, but on the contrary, their social life determines their consciousness. (Marx : Capital)

साहित्य और विश्व साहित्य की सर्वोत्तम परंपराओं का क्रान्तिकारी विकास है। उसकी ओर से व्यर्थ ही सशंक होने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसकी उत्पत्ति साहित्य के साथ किसी प्रकार का अत्याचार करने के लिए नहीं, बल्कि उसे एक स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए हुई है और वह आधार वही है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, जिसे स्वीकार करने में किसी को कोई कठिनाई न होगी। थोड़ी कठिनाई शब्दों के कारण भी हो जाया करती है। इसलिए उन्हें भी ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक होता है।

'साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है' यह वाक्य मार्क्सवादी आलोचना में बहुधा दीख पड़ता है। इससे कुछ लोगों ने यह अनुमान लगाया और अपने अनुमान के आधार पर प्रचारित किया कि मार्क्सवादी आलोचक साहित्य को रोटी की समस्या हल करने के एक साधन से अधिक महत्त्व नहीं देते। कालान्तर में इसी अनुमान को 'रोटीवाद' की संज्ञा से विभूषित किया गया और प्रगतिवाद को रोटीवाद का पर्याय करार देकर प्रगतिवादी साहित्य की निन्दा ज़ोर-शोर के साथ होने लगी। तो फिर 'साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है' इससे मार्क्सवादियों का क्या प्रयोजन है? विश्वसाहित्य के उद्भव और विकास का सिंहावलोकन करने के पश्चात् मार्क्स ने सिद्धान्त बनाया कि मानव-मस्तिष्क की अन्य सभी उपजों के समान साहित्य भी अन्ततः समाज के आर्थिक सम्बन्धों, उत्पादन के सम्बन्धों से निर्दिष्ट होता है। साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। हमने यह भी देखा कि उसके प्रमाण के लिए बहुत तर्क जुटाने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह एक स्वयंसिद्ध बात है। 'साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है', यह वाक्य भी इसी बात को तनिक भिन्न ढंग से कहता है। समाज ब्रह्म-जैसी कोई निराकार वस्तु तो है नहीं। समाज मनुष्यों का होता है। मनुष्य अपनी जीविका उपार्जन करते हैं। जीविकोपार्जन की क्रिया में वे एक दूसरे से किसी निश्चित सम्बन्ध में बँध जाते हैं, बँधते जाते हैं, बँधे रहते हैं। जीविकोपार्जन के साधन भी स्थिर और अपरिवर्तनीय तो हैं नहीं, अतः उत्पादन अर्थात् जीविकोपार्जन के साधन जब विकास के एक धरातल पर रहते हैं तो एक प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध होता है और जब उसमें कोई विकास या परिवर्तन आता है तो उसी के अनुसार इस सामाजिक सम्बन्ध में भी विकास या परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार उत्पादन के साधनों के विकास के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता चलता है। एक समय था कि समाज में सब लोग बराबर थे। मृगया ही उनके जीवकोपार्जन

का साधन था। सब लोग मिलकर आखेट करते थे और मिलकर उसका उपभोग करते थे। यह आदिम साम्यवाद का युग था। कालान्तर में दासप्रथा का प्रचलन हुआ। युद्धों में बन्दी बनाये गये शत्रु दास होने लगे और इतिहास में पहली बार दो मानवों के बीच दास और प्रभु का सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रभु इसी नाते प्रभु थे कि उत्पादन के साधन—भूमि—पर उनका आधिपत्य था और दासों को उनकी आज्ञा का पालन करना होता था, नहीं तो अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। दास-प्रथा में प्रभु का क्रीतदास के जीवन (और मृत्यु!) पर पूर्ण अधिकार होता था। वह उसे चाहता तो मार डालता, चाहता तो जिलाता, कोई चूँ तक नहीं कर सकता था, क्योंकि वह अपने दास अथवा दासों के समूह का प्रभु था। शताब्दियों तक मानव-समाज की यही दशा रही। इस बीच उत्पादन के साधन विकास करते रहे, मानव-समाज धीरे-धीरे विकास की ओर बढ़ता रहा, यहाँ तक कि एक समय ऐसा आया जब दास और प्रभु का सम्बन्ध विकास का अवरोधक और इस हेतु अनुपयुक्त जान पड़ने लगा। दासों ने अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिए विद्रोह किये, अपने प्राणों की बाजी लगाई, अपने उस पशु-वत् जीवन की अपेक्षा मर जाने को उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा। उनके विद्रोहों की संख्या और शक्ति तथा घनत्व में अभिवृद्धि हुई। साथ ही दास-प्रभुओं को पशु के समान जड़ और अज्ञान प्राणियों के स्थान पर ऐसे लोगों की आवश्य-कता हुई जिनमें कार्य करने की कुछ समझ हो, जो काम को समझने की क्षमता रखते हों। इस प्रकार इतिहास हमको बतलाता है कि जब उत्पादन के साधनों में धीरे-धीरे होनेवाला विकास, और तदनुसार सामाजिक चेतना में होने वाला विकास दोनों इस दशा को पहुँच गये कि दास और प्रभु का संबंध समाज के विकास को अवरुद्ध करने लगा, तब जीवन की अबाध गतिशीलता ने दासप्रथा को हटाकर उसके स्थान पर स्वामी और भृत्य के सम्बन्ध की स्थापना की। शताब्दियों तक विश्व भर में स्वामिप्रथा या सामन्तशाही का बोलबाला रहा। जीवन का निर्बन्ध विकास उत्पादन के साधनों को सतत विकसित करता रहा, यहाँ तक कि भाप के इञ्जन और विज्ञान के अन्य आविष्कारों ने उन्हें इतना अधिक विकसित कर दिया कि कालान्तर में सामंतवाद, वही सामन्तवाद जिसने मानव-समाज को दासप्रथा से मुक्त करके उसे प्रगति की ओर उन्मुख किया था और इस प्रकार अपने को एक प्रगतिशील समाज-रचना प्रमाणित किया था, स्वयं सामाजिक विकास के मार्ग का रोड़ा बन गया। स्वामी और भृत्य के सम्बन्ध से अब काम नहीं चलता था। दूसरे, भृत्य भृत्य बने रहने के लिए तैयार भी न थे और निरन्तर संघर्ष कर रहे

थे, जिसमें वे जो चाहें कर सकें, जहाँ चाहे आ-जा सकें। विज्ञान के आविष्कारों के फल-स्वरूप सद्यः विकसित उत्पादन के साधनों, कल-कारखानों को भी ऐसे ही लोगों की आवश्यकता थी जो एक सामंत की सम्पत्ति बनकर एक जगह न पड़े रहें बल्कि जहाँ भी उनकी आवश्यकता हो, वहाँ उपलब्ध हो सकें। और इस प्रकार कालान्तर में संसार के बहुत-से देशों से सामंतशाही हटी और उसके स्थान पर पूँजीवाद की स्थापना हुई, जिसने अपनी पूर्ववर्ती सभी समाज-रचनाओं की भाँति एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में इतिहास के प्रांगण में प्रवेश किया; और तभी पूँजीपति तथा मजदूर की श्रेणियाँ बनीं। मर अन्ततः वह प्रगतिशील नहीं रह पाया और स्वयं प्रतिगामी तथा समाज को पीछे ढकेलनेवाला बन गया, क्योंकि उसके बीज में ही दोष था। उसके बीज में भी वही दोष है जो दासप्रथा, स्वामिप्रथा या सामन्तवाद में था—उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का स्वामित्व। इसी को व्यक्तिगत सम्पत्ति (प्राइवेट प्रॉपर्टी) भी कहते हैं। दासप्रथा, सामंतवाद और पूँजीवाद सबके बीज में यह व्यक्तिगत संपत्ति का दोष था, इस लिए ये सब समाज रचनाएँ कालान्तर में प्रगति की अवरोधक और प्रतिगामी बन गयीं। इन सभी समाज रचनाओं के मूल में एक ही बात है : सबका आधार शोषण है। ये सभी शोषण के प्रकार-भेद हैं, शृंखलाओं के प्रकार-भेद हैं। अस्तु।

इस प्रकार समाज के विकास पर ऐतिहासिक रूप से दृष्टि पात करने पर हमें भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि उत्पादन के साधनों के विकास के साथ-साथ समाज ने विकास किया है, उन्हीं के अनुसार भिन्न-भिन्न कालों की समाज रचना में परिवर्तन आया है और भिन्न-भिन्न समाज रचनाओं में भिन्न-भिन्न सामाजिक सम्बन्धों की स्थिति रही है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न सामाजिक संबन्धों में बँधे हुए लोगों के संघर्षों (वर्ग-संघर्ष), उनके क्रियाकलापों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी अनिवार्य रूप से पड़ा है। उत्पादन के साधन ही मानव-समाज के विकास के मूल में हैं और वे आर्थिक होते हैं, इसीलिए यह कहा गया कि साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है।

इस विवेचन के उपरान्त यदि हम मार्क्सवादी आलोचना की कोई परिभाषा देना चाहें तो कहेंगे कि मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्‌घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।

मार्क्सवाद कोई जड़ मतवाद नहीं है। वह जीवन का एक सर्वांग-संपूर्ण गतिशील दर्शन है। वह जीवन को बदलने, समाज को बदलने, संसार को बदलने का अस्त्र है। वह कोई कोरा सिद्धान्त नहीं है। जो व्यक्ति मार्क्सवाद को एक चिरंतन गतिशील, विकासशील दर्शन के रूप में नहीं देखता, वरन् उसे कोई किताबी सिद्धान्तों का एक ढेर मात्र समझता है, उसने मार्क्सवाद को तनिक भी नहीं समझा। मार्क्सवाद की इस आत्मा को ठीक से न समझने के कारण कभी-कभी 'मार्क्सवादी' आलोचक बड़े यांत्रिक, अत्यन्त जड़ रूप में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रयोग साहित्य की आलोचना के निमित्त करते हैं और अर्थ का भयानक अनर्थ कर बैठते हैं। ऐसी भूलों का बड़ा भारी दुष्परिणाम यह होता है कि आलोचक की अज्ञता इस अत्यन्त वैज्ञानिक आलोचना-पद्धति की अपूर्णता तथा एकांगिता की दलील बन जाती है। इसी प्रकार की यांत्रिकता के लिए आज से पचपन साल पहले एंगेल्स ने पॉल अर्न्स्ट नामक एक 'मार्क्सवादी' आलोचक को बुरी तरह फटकारा था। नारवे के महान् नाटककार इब्सेन (जिनके कुछ नाटकों, 'गुड़ियाघर', 'समाज के स्तंभ' आदि का अनुवाद हिन्दी में हुआ है) की आलोचना करते समय अर्न्स्ट महोदय ने कुछ बड़ी ऊटपटांग बातें की थीं जिनकी बहुत कड़ी आलोचना करते हुए एंगेल्स ने यांत्रिक रूप में, बिना समझे बूझे मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में थोपने के विरुद्ध लोगों को चेतावनी दी थी। मार्क्स को एक चिट्ठी लिखते हुए एंगेल्स ने इस बात के लिए चिन्ता भी प्रकट की थी कि बहुत से लोग मार्क्सवाद की आत्मा को न पकड़ सकने और बात को बिना ठीक से समझे उसका व्यवहार करने के कारण बड़ा अनर्थ कर रहे हैं।

मार्क्सवादी आलोचना पद्धति पर आपत्ति करते हुए एक सज्जन ने लिखा है :—

'मार्क्सवादी आलोचक कहते हैं कि अब तक साहित्य शोषकवर्ग के द्वारा निर्मित हुआ है......जान या अनजान में इस साहित्य में उनके अपने वर्ग के हित की बातें सन्निविष्ट हो गई हैं।'

मैं नहीं जानता कौन मार्क्सवादी आलोचक ऐसा कहता है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि कोई मार्क्सवादी आलोचक ऐसा कहता है, तो वह मार्क्सवादी आलोचना के साथ घोर अन्याय करता है। बिलकुल इसी प्रकार की यांत्रिक, अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक आलोचना की ओर से मार्क्सवाद के प्रवर्तकों, मार्क्स और एंगेल्स ने हमको सावधान किया था।

अब हमें देखना चाहिए कि इस प्रकार की भूल क्यों होती है। इसका एक बड़ा कारण साहित्य और अर्थशास्त्र के बीच एकदम सीधा सम्बन्ध स्थापित करना है। किसी युग-विशेष के विचारों को तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों की प्रतिकृति मान बैठना मार्क्सवाद की हत्या करना है। यह कहना ग़लत है कि—

युग की आर्थिक परिस्थितियाँ = युग की विचारधारा के।

अर्न्स्ट ने यही भूल की थी। इसके अलावा उसने लेखक और उसके वर्ग के सम्बन्ध को भी बड़े ग़लत ढंग से समझा। 'लेखक अपनी वर्गस्थिति के बाहर किसी भाँति जा ही नहीं सकता, इसलिए उसकी विचारधारा भी अपने वर्ग के हित की दृष्टि से ही निर्म्मित होती है। घूम-फिरकर लेखक को अपने वर्ग की मान्यताओं के भीतर रहना ही होगा। इसलिए इब्सेन भी अपने वर्ग की मान्यताओं की परिधि से बाहर नहीं जा सकता, इसलिए वह पूँजीपतियों का प्रतिनिधि है।'

इस प्रकार की भूल से अपने को बचाते हुए हमको देखना चाहिए कि मार्क्सवादी साहित्य और वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। इस सम्बन्ध में भी उन्होंने जो सिद्धान्त निकाला है, वह इतिहास के सम्यक् अध्ययन पर आधारित है। मार्क्स भारतीय, चीनी, मिस्री, यूनानी, रोमन आदि सभी प्राचीनतम साहित्यों की गवेषणा के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो लिखित साहित्य हम तक पहुँचा है, वह वर्ग-विभक्त समाज की उपज है, इसलिए उस पर समाज के वर्गभेद की छाप है। हम ऊपर देख आये हैं कि सबसे आरम्भ में, प्रागैतिहासिक युग में, पाषाण युग में, सभ्यता का आलोक फैलने से बहुत पहले मनुष्य आदिम साम्यवाद की स्थिति में था। उस समय ज्ञान के प्रसार की दृष्टि से मनुष्य का धरातल पशुओं से कुछ विशेष ऊँचा न था। इसलिए उस काल में किसी प्रकार का साहित्य नहीं रचा गया; किसी प्रकार के साहित्य की रचना तब संभव ही न थी। आदिम साम्यवाद के बाद उत्पादन के साधनों के विकास के साथ साथ जब उन पर सम्प्रदाय-विशेष का अधिकार हो गया, तब से समाज वर्गों में विभक्त हो गया। दास-प्रथा, सामंतवाद, पूँजीवाद आदि वर्ग-विभक्त समाज के रूप हैं। यह वर्ग-भेद अवश्य ही वह वर्ग-भेद नहीं है जो आज हमें दिखलायी पड़ता है क्योंकि तब की समाज-रचना भी आज की-सो नहीं थी। हमें अपने प्राचीन साहित्य में आर्यों और अनार्यों के परस्पर संघर्षों का जो उल्लेख मिलता है और जगह जगह जो वर्ण-भेद, जातिभेद बड़े गहरे रूप में दिखलायी पड़ता है, वह तत्कालीन समाज के वर्ग-भेद का ही रूप है। प्राचीनतम साहित्य जो हमें

मिलता है, दास-प्रथा के युग का है। अब हमें यह देखना है कि मनुष्य का सारा साहित्य वर्ग-विभक्त समाज का साहित्य है और उस पर शासक वर्ग की मान्यताओं की छाप है, यह कहने से मार्क्स का क्या प्रयोजन है। लेनिन ने भी 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' नामक अपनी पुस्तक में इस प्रश्न पर विचार किया है और कहा है कि वर्गहीन कला वर्गहीन समाज में ही उत्पन्न हो सकती है ; अब तक की सारी कला, सारा साहित्य वर्ग-भुक्त समाज की उपज है, इसलिए उसमें प्रतिपादित मान्यताएँ वे ही हैं जो उस काल के शासक-वर्ग की थीं।

अब आइए थोड़ा विस्तार से इस प्रश्न पर विचार करें। ऊपर हम देख आये हैं कि लेखक अपने समाज के प्रभाव से किसी प्रकार नहीं बच सकता। समाज शासकों और शासितों के वर्गों में विभक्त है। शासक राजनीति, समाज-नीति और अर्थनीति में जिस प्रकार शासक होता है, उसी प्रकार अपने पद के प्रभुत्व से विचारों के क्षेत्र में भी उसी की तूती बोलती है। अतः विचारों के क्षेत्र में भी शासक-वर्ग उन्हीं विचारों, उन्हीं मान्यताओं को प्राधान्य देता है, विकास करने का अवसर देता है जिनसे उसके स्वार्थ को चोट नहीं पहुँचती। इस प्रकार कालांतर में शासक-वर्ग द्वारा आगे बढ़ायी गयी मान्यताएँ ही तत्कालीन समाज की प्रामाणिक मान्यताएँ हो जाती हैं और लेखक या कलाकार पर अपना प्रभाव डालती हैं। लेखक अपने वर्ग और युग की धारणाओं से कितना परिसीमित होता है, यह एक बहुत तात्त्विक प्रश्न है जिस पर विचार करते समय बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए। कुछ आलोचक अत्यधिक उत्साह में आकर कह बैठते हैं कि कलाकार अपने वर्ग की मान्यताओं से मुक्त हो ही नहीं सकता। यह कहकर वे 'मार्क्सवादी' आलोचक का कार्य बहुत हल्का कर देते हैं ; कौन प्राचीन लेखक किस वर्ग का हिमायती था, इसका पर्दा फ़ाश करने के लिए जासूसी करना ही उनका अकेला 'आलोचनात्मक' कार्य रह जाता है। उनके दृष्टिकोण को यदि संक्षेप में प्रस्तुत किया जाय तो यह होगा कि समस्त प्राचीन कला ने सदैव शोषक वर्ग के हितों की ही अभिव्यञ्जना की है। यदि ऐसा होता तो सोवियत् रूस में जहाँ शोषण का मूलोच्छेद हो चुका है, प्राचीन ग्रंथों के लिए कोई स्थान न होता। लेकिन वास्तविकता तो कुछ और है। सोवियत रूस में प्राचीन ग्रन्थों का प्रचार, हमारे तुलसी, महाभारतकार व्यास, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द से लेकर होमर, ईस्किलस, यूरिपिडीज़, शेक्सपियर, डिकेंस, थैकरे, शेली, बायरन, फ्लाबेयर, ज़ोला, बालज़क, यूगो, गेटे, शिलर, हाइने, दांते, लोपे डि वेगा, इब्सेन आदि सबके ग्रंथ करोड़ों की संख्या में प्रकाशित होते हैं और सोवियत नागरिकों के हृदय में आदर का स्थान पाते हैं। सोवियत् संघ में प्राचीन ग्रन्थों का प्रचार बढ़ रहा

है, इसी से इस बात का खण्डन हो जाता है कि समस्त प्राचीन कला ने सदैव शोषक वर्ग के हितों की ही अभिव्यञ्जना की है। कलाकारों का उस वर्ग से क्या सम्बन्ध होता है जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इस प्रश्न पर मार्क्स की एक बड़ी स्पष्ट उक्ति है :

'हमें यह न सोचना चाहिए कि विचारों के क्षेत्र में निम्न मध्य वर्ग के जितने प्रतिनिधि हैं, वे सभी दूकानदार हैं या दूकानदारों के जोशीले हिमायती हैं। अपनी शिक्षा-दीक्षा और अपनी व्यक्तिगत स्थिति के अनुसार उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो सकता है। पर तो भी जो चीज़ उन्हें निम्न मध्यवर्ग का प्रतिनिधि बनाती है, वह यह है कि उनके विचारों की सीमा-रेखा वही होती है जो निम्न मध्यवर्ग के जीवन की, और परिणामतः अपने सिद्धान्तों द्वारा वे उन्हीं समस्याओं और उनके समाधानों पर पहुँचते हैं जिन पर निम्न मध्यवर्ग अपने आर्थिक हितों और व्यवहार क्षेत्र की अपनी सामाजिक स्थिति की दृष्टि से पहुँचता है। यही सम्बन्ध सामान्यतः किसी वर्ग के प्रतिनिधि साहित्यिकों तथा राजनीतिज्ञों का उस वर्ग से होता है जिसका कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं।' *

'इसलिए यह कहना कि किसी लेखक की विचार-धारा उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति से इस बुरी तरह जकड़ी होती है कि वह हिल-डोल नहीं सकता, मार्क्सवाद की टाँग तोड़ना है। जिस वर्ग में कलाकार जन्म लेता है उसके लौकिक दृष्टिकोण के अनुसार उसकी एक विशेष विचारधारा जन्म से ही बन जाती है। अगर उसके संरक्षक भी उसी वर्ग के हुए तो वह माँ के दूध के साथ ग्रहण किये हुए अपने जीवन के दृष्टिकोण से पूरी तरह संतुष्ट रहेगा और उसको अपनी कृतियों में अभिव्यक्त भी करेगा। लेकिन विशेष परिस्थितियों में ऐसा हो सकता है कि वह अपने वर्गहितों के विरोध में खड़ा हो जाय; कभी कभी ऐसा भी हो सकता है कि कलाकार के रूप में अपनी ईमानदारी और अपनी सचाई को बनाये रखने के लिए, अपने वर्गहितों का विरोध करना उसके लिए अनिवार्य हो जाय।' † महान् लेखकों ने कभी-कभी संपूर्ण वर्गद्रोह किया है और प्रायः सभी महान् कलाकारों ने कुछ विशेष बातों में अपने वर्गहितों का विरोध किया है, अवश्य किया है। यह सब बिलकुल ठीक है। लेकिन नियम के इन अपवादों से इस ऐतिहासिक सत्य पर आँच नहीं आती कि किसी युग का लेखक सामान्यतया अपने

---

* Marx : The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte, p. 347

† Klingender : Marxism & Modern Art p. 35.

विचारों के क्षेत्र में उस सीमा के आगे नहीं जाता, जिस सीमा तक उस युग का शासकवर्ग व्यवहारजगत् में जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि लेखक अपने युग के शासकवर्ग का भाट है या नहीं। प्रश्न तो केवल यह है कि क्या कोई लेखक सामान्यतया अपने युग की प्रधान विचारधाराओं से पृथक् रह सकता है कि नहीं। इसका उत्तर मार्क्सवादी आलोचक देते हैं 'नहीं'। पर इस 'नहीं' को पकड़कर बैठ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह एक सामान्य ऐतिहासिक तथ्य है, जिसके अपवाद हो सकते हैं और हुए हैं—प्रधानतया उस काल में जब वर्ग-संघर्ष की तीव्रता बहुत बढ़ी हुई होती है, दलित वर्ग अपने उत्सर्ग और बलिदान से उच्चवर्ग के लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

इस विवेचन से अब स्पष्ट हो गया होगा कि मार्क्सवादी जब किसी प्राचीन लेखक को किसी वर्गविशेष का प्रतिनिधि कहते हैं, तब उसका आशय यह नहीं होता कि वह लेखक स्वयं उस वर्ग का है या यह कि उसने अपने स्वार्थ के हेतु अपने को उस वर्गविशेष के हाथ बेंच दिया है या यह कि वह जान-बूझकर शासकवर्ग का पोषण करता है। नहीं, इनमें से कोई भी बात वह नहीं करता, यदि वह सच्चा साहित्यकार है। वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि वह इस अर्थ में होता है कि वह अपने युग की शासक विचारधारा का वाहक होता है। इसको यों समझिए। एक कवि है। वह राष्ट्रीयता के तराने गाता है। अंतर्राष्ट्रीयता उसकी समझ में नहीं आती। वह तिरंगे झंडे को विश्व भर में विजयी देखना चाहता है। निश्चय ही यह राष्ट्रीयता अत्यंत संकीर्ण और साम्राज्यवाद का बीज लिये हुए है। ऐसे कवि को हम भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि कवि कहेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह कवि स्वयं पूँजीवादी है या पूँजीपति है। कहने का अभिप्राय केवल यह है कि उस पर प्रसरणशील भारतीय पूँजीवाद की विचारधारा का प्रभाव है; क्योंकि उसकी दृष्टि-परिधि उस वर्गविशेष की विचारधारा में ही सीमित है। एक दूसरा कवि है जो हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की स्वस्थतम, उदात्ततम परम्परा के अनुरूप काव्य की रचना करता है जिसमें वह देश की पराधीन और संत्रस्त जनता की पीड़ा और साथ ही नवजीवन में उसके अदम्य विश्वास का चित्रण करता है और इसके साथ ही साथ स्पष्ट शब्दों में यह भी घोषित करता है कि हमारी राष्ट्रीयता किसी वर्ग या समुदाय या देश पर किसी प्रकार का अत्याचार करने वाली राष्ट्रीयता नहीं वरन् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श पर आधारित राष्ट्रीयता है जो अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द का मूल्य समझती है। इस कवि को हम राष्ट्रीय आंदोलन का या भारतीय जनता

का प्रतिनिधि कवि कहेंगे, क्योंकि उसकी विचारधारा पर साम्यकामी भारतीय जनता का प्रभाव है। यह पूँजीवादी राष्ट्रीयता नहीं समाजवादी देशभक्ति होगी।

अगर यह ठीक है कि कलाकार अपने युग की सीमाओं के आगे नहीं जा सकता तो कभी-कभी ऐसा क्यों होता है कि कुछ कलाकार अपने युग से बहुत आगे बढ़ जाते हैं, इतने आगे कि या तो उन्हें विद्रूप के बाणों से बिद्ध होना पड़ता है या प्राणों से हाथ धोना पड़ता है? इसका क्या कारण है? इसका यह कारण है कि कलाकार परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए भी उनका दास नहीं होता : उसकी आपेक्षिक स्वतंत्रता उसके पास रहती ही है।

अब इस स्थल पर हमें काफी विस्तार के साथ इस प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा कि कलाकार कितने अंशों में, किस सीमा तक स्वतंत्र रहता है और कितने अंशों में, किस सीमा तक और किस प्रकार सामाजिक परिस्थितियाँ उसके साहित्य-तत्व को प्रभावित करती हैं। इस प्रश्न का सांगोपांग विवेचन करने ही से इस आपत्ति का थोड़ा-बहुत समाधान हो जायगा कि 'मार्क्सवाद का आधार लेकर चलने वाली आलोचना साहित्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार करती।'

आइए पहले इसी बात पर विचार करें। कहाँ तक साहित्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की जा सकती है और कहाँ तक सामाजिक परिस्थितियों के साथ उसका अन्योन्याश्रित संबंध है।

इस प्रश्न पर प्रसिद्ध सोवियत् आलोचक यूदिन लिखता है :

'जो लोग यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि नाना प्रकार की विचारधाराएँ बिलकुल सीधे रूप में आर्थिक संबंधों पर आश्रित होती हैं, वे मार्क्सवादी आलोचना के मानदंड को अत्यधिक सरल बनाने के प्रयत्न में उसकी आत्मा का ही हनन कर बैठते हैं और उसे अवैज्ञानिक बना देते हैं; इस प्रकार की आलोचना और मार्क्सवाद-लेनिनवाद में कोई साम्य नहीं है। भिन्न-भिन्न विचार-प्रासाद भिन्न-भिन्न मात्राओं में अपने आर्थिक आधार से पृथक् और स्वतंत्र होते हैं, अपने आर्थिक आधार से उनका संबंध भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और आर्थिक संबंधों का प्रभाव विचारधारा पर तथा विचारधारा का प्रभाव आर्थिक संबंधों पर, दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्ति पाते हैं। राजनीति और न्याय के सिद्धान्त तथा विज्ञान (विशेषकर प्राकृतिक विज्ञान, शिल्पविज्ञान और अर्थशास्त्र) आर्थिक आधार के अधिक समीप होते हैं (अर्थात् आर्थिक संबंधों का प्रभाव उन पर अधिक स्पष्ट, पारदर्शक और सीधे रूप में परिलक्षित होता है—ले०) ऐसे

विचारों के क्षेत्र में 'जो अधिक आकाशचारी हैं जैसे धर्म दर्शन आदि' (एंगेल्स) और इसी नाते अर्थशास्त्र से अपेक्षाकृत कम संपृक्त हैं, आर्थिक संबंधों का प्रभाव इतने स्पष्ट और सीधे रूप में नहीं वरन् घुमावदार ढंग से पड़ता दिखायी देता है। कला इन्हीं आकाशचारी विचारों की श्रेणी में आती है।' †

यह उक्ति कलाकृति पर आर्थिक संबंधों के प्रभाव के प्रश्न बहुत प्रकाश डालती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सही मार्क्सवादी आलोचना में और उस यांत्रिक 'मार्क्सवादी' आलोचना में जो विचारधारा और आर्थिक संबंधों के बीच बराबर है (=) का चिह्न उठाकर रख देती है, कितना जमीन-आसमान का अन्तर है।

अब हमको यह देखना चाहिए कि क्या मार्क्सवादी आलोचना साहित्यकार की एकदम स्वतंत्र, निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करती है। इस प्रश्न पर भी मार्क्सवाद के आचार्यों की बड़ी स्पष्ट उक्तियाँ हैं। लेनिन इस संबंध में कहता है :

'महाशय व्यक्तिवादी, हम आपको बतला देना चाहते हैं कि आप निरपेक्ष स्वतन्त्रता की बात जो करते हैं, वह सरासर पाखंड है। ऐसे समाज में जो धन की शक्ति पर आधारित हो, जिसमें विशाल जनता कंगाल हो और मुट्ठीभर अमीर लोग मुफ्त की रोटी उड़ाते हों, सच्ची 'स्वतंत्रता' संभव ही नहीं। महाशय लेखक, क्या आप अपने पूँजीपति प्रकाशक से स्वतन्त्र हैं? क्या आप अपने पूँजीपति पाठक-वर्ग से स्वतन्त्र हैं जो आपसे उपन्यासों और चित्रों में अश्लीलता की माँग करता है? पूर्ण, निरपेक्ष स्वतन्त्रता पूँजीवादी या अराजकतावादी वाग्जाल मात्र है। किसी समाज में रहना और फिर उसी से स्वतन्त्र होना असम्भव है। पूँजीवादी लेखक, कलाकार, अभिनेत्री की स्वतन्त्रता वस्तुतः एक नक़ाब है, जो इस सत्य को छिपाता है कि लेखक, कलाकार या अभिनेत्री को पूँजीपतिवर्ग का आश्रय प्राप्त है। हम समाजवादी इस नक़ाब को उघाड़ फेंकते हैं—वर्गहीन कला या साहित्य प्राप्त करने के लिए नहीं (वह तो साम्यवादी समाज में ही सम्भव होगा) वरन् इसलिए कि हम ऐसे साहित्य के मुकाबले में जो अपनी स्वतंत्रता का पाखंड फैलाता है, लेकिन वस्तुतः पूँजीपति वर्ग पर आश्रित है, एक सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र साहित्य खड़ा करना चाहते हैं जो साफ तौर पर, बिना किसी छिपाव-दुराव के जनता का पक्ष ग्रहण करता है। यह साहित्य इसलिए स्वतन्त्र होगा कि जो नये-नये सशक्त

---

† देखो एंगेल्स के पत्र कोनराड श्मिट और हइन्ज़ स्टार्केनबुर्ग को।

लेखक इसकी ओर आकर्षित होंगे, वह लोभ अथवा सामाजिक पद की दृष्टि से नहीं वरन् समाजवाद के प्रति आस्था और जनता के प्रति सहानुभूति के विचार से। यह साहित्य इसलिए स्वतन्त्र होगा कि इसकी उपयोगिता जीवन से हारी-थकी एक अभिजात वर्ग की नायिका या मोटे, तुन्दिल, अपनी अकर्मण्यता से ऊबे हुए 'दस हज़ार उच्चवर्गीय' लोगों के लिए नहीं बल्कि उन लाखों और करोड़ों लोगों के लिए होगी जो हमारे देश की सर्वश्रेष्ठ संतानें हैं, उसकी शक्ति हैं, उसकी आशा हैं।'*

इससे स्पष्ट है कि मार्क्सवादी, साहित्य की पूर्ण निरपेक्ष स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करते। विचारधारा का विकास किसी सीमा तक स्वतन्त्र रूप में होता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों एक दूसरे से विच्छिन्न हैं और विचारधारा अपने आर्थिक आधार से पूर्णतया स्वतन्त्र है; क्योंकि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भूतकाल में आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप विचार-जगत् में परिवर्तन हुए हैं और उसी प्रकार आज के परिवर्तन भविष्य के विचार-जगत के परिवर्तनों की रूपरेखा निर्द्धारित कर रहे हैं। प्रत्येक विचारधारा अपने युग के आर्थिक (व्यापक अर्थ में) विकास का परिणाम होती है।

लेनिन की भाँति एंगेल्स भी इस प्रश्न पर कहता है—

'मैं निर्विवाद रूप से इस बात को मानता हूँ कि अन्य क्षेत्रों की भाँति विचारों के क्षेत्र में भी आर्थिक विकास का सर्वप्रधान हाथ रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह प्रभाव विचार-जगत् के अपने नियमों और उसकी अपनी मर्यादा के अनुसार ही पड़ता है।'†

लेनिन भी इस साहित्यिक समस्या से अपरिचित नहीं था। उसने भी समाज और लेखक के संबन्ध को पूरी बारीकी के साथ समझकर ही अपने निष्कर्ष निकाले हैं। साहित्य हथेली पर आम उगाने-जैसा बाजीगर का तमाशा नहीं, सृष्टि का एक रूप है। इसीलिए संसार की सृष्टि और जीव की सृष्टि की भाँति उसकी सृष्टि के भी अपने नियम हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, यह बात मार्क्सवाद के प्रवर्तकों से छिपी नहीं थी। इसीलिए एंगेल्स और मार्क्स ने बार-बार मार्क्सवादी आलोचकों को इस ओर से सावधान किया है कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को जड़ रूप में साहित्य (अथवा किसी क्षेत्र) पर आरोपित न करो।

---

* Lunacharsky : Lenin on Art & Literature.

† वही।

यूदिन लिखता है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी साहित्यिक आलोचना को अत्यंत स्पष्ट रूप में यह समझना चाहिए कि आर्थिक आधार और उस पर निर्मित विचारों के प्रासाद के परस्पर संबंध की क्या विशेषताएँ हैं, आर्थिक संबंध किस प्रकार टेढ़े-मेढ़े ढंग से, चक्करदार ढंग से कला, विज्ञान, धर्म, न्याय, आचारनीति आदि को प्रभावित करते हैं, भिन्न-भिन्न युगों के आर्थिक सम्बन्धों के प्रति तत्कालीन विचारों की अपनी मर्यादाओं की क्या प्रतिक्रिया होती है और किस प्रकार उनकी शक्ति, उसके रूप और उनकी प्रकृति में परिवर्तन होता चलता है। आर्थिक आधार और उस पर निर्मित विचारों के प्रासाद के परस्पर सम्बन्ध की वास्तविकताओं, मर्यादाओं की अवहेलना का प्रयत्न करना, रचनात्मक साहित्य को इस रूप में प्रस्तुत करना कि वह जैसे पूर्णतया निरपेक्ष और केवल अपने द्वारा संचालित होता हो या इस रूप में कि वह भद्दे सतही ढंग से समझी गयी आर्थिक शक्तियों की सीधी-सादी, तत्काल प्रतिकृति, प्रतिबिंब हो—कला और साहित्य को समझने के ये दोनों ढंग और चाहे जो हों मार्क्सवादी-लेनिनवादी कदापि नहीं हैं।

'विचारों का निर्माण आर्थिक आधार पर होता है और अन्ततोगत्वा आर्थिक आधार उन्हें निर्द्धारित करता है। पर एक बार विचारों की उत्पत्ति हो जाने पर उन्हें अपने विकास में, निर्माण में एक प्रकार की आपेक्षिक स्वतन्त्रता (पूर्ण निरपेक्ष स्वतन्त्रता नहीं) प्राप्त हो जाती है; वे अपने विकास के नियमों से परिचालित होने लगते हैं।'*

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मार्क्सवादियों की स्थिति कलाकार और उसकी कृति तथा समाज के परस्पर सम्बन्ध के प्रश्न पर क्या है। मार्क्सवादी न तो कलाकार की पूर्ण, निरपेक्ष, वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करता है और न इस भोंडे मत को कि कलाकार अपनी कृतियों में तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्ब उतारता है। मार्क्सवादी आलोचक इन दोनों स्थापनाओं को एकांगी और अवैज्ञानिक, इसलिए भ्रामक समझता है। वह दोनों ही स्थापनाओं का विरोध करता है और कलाकार तथा समाज के संबंध को गतिशील रूप में समझने के कारण, जीवन की वास्तविकता की दृष्टि से देखने के कारण जिस प्रकार कलाकार को समाज से प्रभावित होते हुए दिखलाता है, उसी प्रकार प्रभावित करते हुए

---

* Lunacharsky : Lenin on Art & Literature, p. 127.

भी। कलाकार की स्थिति परिस्थिति-सापेक्ष अवश्य है; पर वह परिस्थितियों का दास नहीं है, परिस्थितियों का विधायक है। परिस्थितियाँ यदि उसका निर्माण करती हैं तो वह भी परिस्थितियों का निर्माण करता है। वायुयान का चालक जिस प्रकार वायुमण्डल से पूरी तरह प्रभावित होते हुए भी, उसके नियमों से परिचालित होते हुए भी उसका दास नहीं होता, वरन् अपने वायुयान तथा वायुमण्डल के परिवर्तनों के विषय में अपने ज्ञान के सहारे वायुमण्डल पर अधिकार कर लेता है, उसको अपना मित्र तथा सहयोगी बना लेता है, उसी प्रकार कलाकार अपने युग की परिस्थितियों से संचालित होते हुए भी उनका दास नहीं होता, उन परिस्थितियों को ही बदल डालने की क्षमता उसमें रहती है और हर महान् कलाकार इसी अर्थ में महान् होता है कि उसने अपने युग को प्रभावित किया है, उसकी परिस्थितियों को बदला है, समाज को बदला है। अन्य विषयों की भाँति साहित्य को भी मार्क्सवादी, जीवन के दृष्टिकोण से, जीवन की गतिशील वास्तविकता के दृष्टिकोण से देखते हैं। अतः उनमें कोरे किताबी ज्ञान के सहारे विश्व को देखने का दोष नहीं आता। मार्क्सवादी साहित्यालोचना बज़ाज़ का गज़ नहीं है जिससे वह प्रत्येक कलाकृति को नापता है और न वह सुनार की निर्जीव कसौटी है जिस पर कसकर सुनार सोने के खरे या खोटेपन की परीक्षा करता है। मार्क्सवादी आलोचना के लिए साहित्य की कसौटी जीवन है। जीवन की कसौटी पर जो साहित्य खरा उतरे, वह खरा है और जो खोटा उतरे, वह खोटा।

कुछ लोग मार्क्सवादी आलोचकों पर अभियोग लगाने के-से स्वर में कहते है कि उनकी दृष्टि में 'सच्चा साहित्य वह है जो......दीन हीन जनता के विचारों का समर्थन करे और समाज को उन्नति की ओर ले जाय।'

इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि दीन-हीन जनता के विचारों का समर्थन करनेवाला साहित्य क्यों बुरा अथवा निषिद्ध है। सामान्य बुद्धि तो यह कहती है कि वह साहित्य जो दीन-हीन जनता के विचारों का समर्थन करे, उनके जीवन के सच्चे, जलते हुए, यथार्थ चित्र आँके, निश्चय ही सप्राण और सामाजिक दृष्टि से उपादेय होगा। देश की जन-संख्या का निन्नानबे प्रतिशत यही 'दीन-हीन जनता' ही तो है। जो साहित्य उसके जीवन से बचकर एक प्रतिशत अभिजात-वर्ग के जीवन की सीमाओं में अपने को बाँध ले, वह सप्राण और प्रभावशाली होगा या वह साहित्य जो इस 'दीन-हीन जनता' के विषम इतिहास को लिपिबद्ध करे? 'दीन-हीन जनता' का पक्ष ग्रहण करनेवाले साहित्य का विरोध कदाचित्

विरोधियों को भी अभिप्रेत नहीं है। आज ऐसी बात कहनेवाला आलोचक अपने को बड़ी दयनीय स्थिति में पाता है क्योंकि कला को अभिजात-वर्ग की चेरी में रूप में स्वीकार करनेवाले आज निर्वंश हो रहे हैं। जनजीवन से कला का घनिष्ठतम सम्बन्ध आज एक स्वयंसिद्ध बात हो गयी है जिसके विषय में तर्क करने की आवश्यकता भी नहीं समझी जाती।

जनजीवन से घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या का सीधा सम्बन्ध लेखक की उस मनोवैज्ञानिक भूमि से है, जिसे कॉडवेल ने 'कलेक्टिव इमोशन' की संज्ञा दी है।

पहले हम यह देखने का यत्न करें कि सामूहिक भाव से कॉडवेल का क्या अभिप्राय है। सामूहिक भाव और साधारणीकरण दोनों को भली-भाँति समझ लेने पर ही हम यह निश्चय कर सकेंगे कि दोनों में परस्पर संबन्ध किस प्रकार का है। सामूहिक भाव से कॉडवेल का क्या अभिप्राय है, यह बहुत सरलता से समझ में आ जायेगा यदि हम थोड़ा रुककर यह विचार करें कि ये सामूहिक भाव उत्पन्न किस प्रकार होते हैं। समाज क्षण-क्षण विकास करता रहता है। समाज का यह विकास सर्वांगीण होता है। राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति के साथ-साथ विचारों के क्षेत्र में भी क्षण-क्षण यही विकास हुआ करता है इसीलिए विशेष सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप तत्कालीन समाज में विशेष प्रकार के सामूहिक भावों की स्थिति पाई जाती है। बदलती हुई परिस्थितियाँ जनता के मन पर अपना प्रभाव अलक्षित रूप में सदैव डालती रहती हैं। जन-मन पर सतत पड़नेवाले इन छोटे-बड़े प्रभावों के राशीभूत रूप को उस युग अथवा समाज विशेष का सामूहिक भाव कहा जायगा। आज हमारे देश का सामूहिक भाव राष्ट्रीयता है। हमारे साहित्य में, राजनीति में सब जगह उसी का समावेश है। यह सामूहिक भाव शाश्वत नहीं है। एक समय था जब व्यक्ति अपने कबीले के बाहर की बात सोच तक न सकता था; उस समय जन-मन में राष्ट्रीयता के सामूहिक भाव की स्थिति नहीं थी। उस समय क़बीले का प्रेम ही जनता का सामूहिक भाव था। जिस प्रकार एक समय था जब मनुष्य कबीले की सीमाओं में बँधा हुआ था, उसी प्रकार भविष्य उस दिन की उज्ज्वल आभा से प्रोद्भासित है जब मनुष्य देश की सीमाओं को तोड़कर मानवमात्र से प्रेम कर सकेगा। उस समय कोरा देशप्रेम एक बीते युग की बात जान पड़ेगा। सम्भव है उस स्वर्ण युग को आने में अभी बहुत समय लगे, परन्तु वह युग आयेगा अवश्य। यह विश्वास आज के संसार की गति-विधि को समझनेवाले प्रत्येक जिज्ञासु विद्यार्थी के जीवन का संबल है। इस प्रकार

यह सिद्ध हुआ कि इस सामूहिक भाव की स्थिति समाज की परिस्थितियों में ही है। हमारा आज का भावकोष अब तक के हमारे सामाजिक विकास का परिणाम है। हमारे विचार, हमारे संस्कार, हमारी भावनाएँ सहसा ज़मीन फोड़कर नहीं निकल आतीं, सबकी स्थिति समाज में होती है, विश्व की परिस्थितियों में होती है। अतः कॉडवेल जब सामूहिक भावों की बात करता है तो उसका अभिप्राय उसी भावकोष से होता है जो प्रत्येक युग का उपजीव्य होता है; किसी युग का समाज जिनके सहारे चलता है।

यह स्पष्ट बात है कि यदि कोई साहित्यकार विशाल जनता के जीवन का चित्रण करना चाहता है तो उसे संपूर्ण रूप में जनता के जीवन के साथ अपने को एकाकार कर देना चाहिए; उसी दशा में साहित्यकार जनता के सामूहिक भावों का यथोचित परिपाक अपने में कर सकेगा। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब तक जनता के जीवन से साहित्यकार का सम्बन्ध दूर-दूर का, कोरी बौद्धिक सहानुभूति का रहेगा तब तक उसके साहित्य में जीवन का स्वर दबा-दबा-सा रहेगा। वास्तविक जीवन से पास का परिचय होने से ही साहित्य में जीवन का स्वर उभरकर आता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर कॉडवेल प्रगतिशील साहित्यकारों को एक प्रकार की सलाह-सी देता है कि उन्हें कला के क्षेत्र में सर्वहारा-वर्ग का नेता बनना चाहिए। वास्तविक जीवन में सर्वहारा-वर्ग के साथ जब उनका तादात्म्य होगा, तभी उनकी कला में भी सर्वहारा-वर्ग का जीवन पूरी सचाई के साथ अंकित करने की क्षमता आयेगी। उस वर्ग का अभिशप्त पर दृप्त जीवन अपने आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प से पाठक अथवा श्रोता को तभी प्रभावित कर सकेगा जब साहित्यकार ने उस जीवन का अंग बनकर उसे अंकित किया हो। अपनी कथावस्तु को अच्छी तरह जान-समझकर ही कोई उसे पूरे उभार के साथ, पूरे निखार के साथ चित्रित कर सकता है, इससे भला किसी को आपत्ति हो सकती है! जिस जीवन को आप चित्रित करने चले हैं, वह किन आस्थाओं, किन मान्यताओं और विश्वासों, किस चेतना और किन संस्कारों से गतिमान अथवा जड़ है, उन्हें बुद्धि के माध्यम से ही नहीं भावना के, अनुभूति के माध्यम से भी पकड़े बिना कोई साहित्यकार आगे बढ़ ही कैसे सकता है! समाज की इन सारी मान्यताओं, विश्वासों एवं संस्कारों की समष्टि को ही कॉडवेल ने उस युग अथवा समाजविशेष का 'सामूहिक भाव' कहा है।

इस सम्बन्ध में एक विचारणीय बात और है। वह यह कि कॉडवेल ने सर्वहारा-वर्ग के 'सामूहिक भाव' की जो बात कही है उससे क्या अभिप्रेत है; उसने

संपूर्ण जनसमाज के सामूहिक भाव की बात क्यों नहीं कही। यदि हम तनिक गंभीरता से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'मानवता' की दृष्टि से आपत्ति करने वाले लोगों की शंका के मूल में यही बात है। इस बात पर काफ़ी विस्तार से हम पहले विचार कर चुके हैं। यहाँ पर हम एक भिन्न पहलू से उसी बात विचार करेंगे।

ये विचारक कॉडवेल की आलोचना को भारतीय परिस्थिति पर ज्यों का त्यों आरोपित कर देते हैं इसी से सारी कठिनाई खड़ी हो जाती है। कॉडवेल की आलोचना उस देश की भूमिका में लिखी गयी है जो 'स्वतंत्र' है, जहाँ पूँजीवादी गणतंत्र स्थापित है। ब्रिटेन और भारतवर्ष की परिस्थिति में जो तात्त्विक अन्तर है उसे भुलाकर यदि हम ब्रिटेन के साहित्य के लिए समीचीन साहित्यिक सिद्धांतों को भारतीय साहित्य की मूलतः भिन्न भूमिका पर ज्यों का त्यों थोपना चाहेंगे तो इससे सिवाय समस्या के उलझने और लोगों के मस्तिष्क में कठिनाई उत्पन्न करने के दूसरा हो भी क्या सकता है। ब्रिटेन में प्रधानतया दो वर्ग हैं; पूँजीपति और सर्वहारा मज़दूर किसान। इतिहास ने बार बार प्रमाणित कर दिया है कि पूँजीवाद और पूँजीपतियों, बीसवीं सदी के एक-दम आधुनिक श्रेष्ठिगण तथा महाजनों, की स्थिति ही सारे युद्ध और रक्तपात, बेकारी, ग़रीबी, हारी-बीमारी और जीवन के अभिशाप के लिए उत्तरदायी है। इसलिए ब्रिटेन के लोकहितैषी कलाकार एवं बुद्धिजीवी अगर सुखी, शान्त तथा समृद्ध ब्रिटेन की स्थापना करने की आकांक्षा रखते हैं तो उन्हें भी कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए और इस हेतु शोषित, सर्वहारावर्ग के जीवन के भीतर अपने को पूरी तरह समोकर, उसी का अभिन्न अङ्ग बनकर, उसका चित्रण करना चाहिए। शोषित वर्ग के जीवन के तादात्म्य से उत्पन्न होनेवाला उनका साहित्य निश्चय ही सप्राण, स्फूर्तिप्रद और कला के प्रत्येक मानदंड से श्रेष्ठ होगा यदि वह कलाकार जीवन का यथार्थ अनुभव अर्जित करने के साथ-साथ अपनी कला की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त भी सदैव सचेष्ट रहे। यदि कोई कलाकार इन दोनों बातों का ध्यान रखे तो कोई कारण नहीं है कि विषयवस्तु और कला के रूप-गत सौंदर्य और सौष्ठव दोनों ही की दृष्टि से उसका साहित्य उच्चकोटि का न हो। कॉडवेल की इस बात से शायद ही किसी को आपत्ति हो पर इस बात को यदि ठीक से बिना समझे-बूझे भारतीय साहित्य पर लागू करने का प्रयत्न होगा तो निश्चय उलझन पैदा होगी क्योंकि भारत एक औपनिवेशिक देश है, परतन्त्र देश है। जिस प्रकार ब्रिटेन का प्रधान द्वन्द्व अथवा संघर्ष पूँजीपतियों और सर्वहारावर्ग का है, उसी प्रकार आज हमारे

देश का (और प्रत्येक गुलाम देश का) प्रधान संघर्ष देश के पूँजीपतियों और मज़दूरों का नहीं बल्कि देश की समस्त निपीड़ित जनता और ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों का है जो हमारे देश की छाती पर सवार होकर उसका खून चूस रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में केवल मजदूरों का जीवन चित्रित करनेवाले साहित्य को ही प्रगतिशील कहना और उस स्वस्थ राष्ट्रीय साहित्य को जिसका उद्‌गम देश के स्वाधीनता-आन्दोलन में, राष्ट्रीय आन्दोलन में है, प्रगतिशीलता के लिए अस्पृश्य मानना निश्चय ही बहुत बड़ी संकीर्णता का, एक अत्यन्त घातक प्रवृत्ति का परिचय देना है। जो आलोचक ऐसा करते हैं वे देश का और साहित्य का घोर अकल्याण करते हैं और उनका प्रतीकार आवश्यक है। आज हमारे देश का स्वस्थतम प्रगतिशील साहित्य वही हो सकता है जो देश की स्वाधीनता के महान् उद्योग में रत देश की समस्त स्वाधीनता-प्रेमी जनता के जीवन के आत्यन्तिक घनिष्ठतम परिचय से अपना सत्त्व ग्रहण करे। जिस प्रकार आज हमारे स्वाधीनता आन्दोलन का मुख्य आधार देश की नब्बे प्रतिशत किसान जनता है, उसी प्रकार आज हमारे क्रान्तिकारी प्रगतिशील साहित्य का मुख्य आधार भी उसी नब्बे प्रतिशत किसान जनता का पीड़ित पर क्रांति की संभावनाएँ लिये जीवन है। प्रेमचन्द का साहित्य इसीलिए इतना लोकप्रिय है कि उसमें किसान जनता का जीवन अपनी सारी पीड़ा, सारी उदासी, सारी जड़ता और हीनता, दीनता और अभिशाप के साथ साथ अपने आत्मविश्वास, लगन, स्वर्णिम विहान की आशा और जीवन के दर्प के साथ चित्रित है यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उसका यह पक्ष कमज़ोर है। तो भी प्रेमचन्द का साहित्य कभी मरेगा नहीं। यहाँ पर इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि क्रान्तिकारी प्रगतिशील साहित्य का मुख्य आधार नब्बे प्रतिशत किसान जनता का जीवन होगा। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि मजदूरों का जीवन चित्रित करना प्रगतिशील साहित्य के लिए अभीप्सित नहीं है अथवा वर्जित है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। पहली बात तो यह कि मजदूर जनता हमारे स्वाधीनता आन्दोलन का महत्वपूर्ण अङ्ग है, इस नाते भी हमारे राष्ट्रीय साहित्य को उस पर प्रकाश तो डालना ही चाहिए, इस प्रकार के उपन्यास और कहानियाँ, नाटक और कविताएँ तो लिखी ही जानी चाहिए जो मजदूर जीवन पर आधारित हैं। राष्ट्रीय साहित्य किसी वर्ग अथवा समुदायविशेष की उपेक्षा करके अपनी पूर्णता को, अपनी जीवनशक्ति को, और उसी अनुपात में देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को क्षति ही पहुँचा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने पर, उन 'आलोचकों' का विशेष महत्त्व नहीं है जो किसी बहुत श्रेष्ठ कहानी अथवा

कविता पर जिसमें रस का परिपाक अच्छी तरह हुआ होता है, नाक-भौं केवल इसलिए सिकोड़ते हैं कि उसकी विषयवस्तु मजदूरों के जीवन से ली गयी होती है। वस्तुतः इस प्रकार के आलोचक राष्ट्रीय साहित्य की राशि को संकुचित करना चाहते हैं। यह निर्विवाद है कि उनकी इस प्रकार की आलोचना से राष्ट्रीय साहित्य को हानि पहुँचती है। जिस प्रकार यह कहना आलोचक की संकीर्णता का द्योतक है कि केवल मजदूर जीवन का चित्रण करनेवाला साहित्य ही प्रगतिशील है, उसी प्रकार यह कहना कि मजदूरों का जीवन चित्रित करनेवाला साहित्य राष्ट्रीय साहित्य का अङ्ग नहीं है, इस बात का प्रमाण है कि आलोचक की राष्ट्रीयता या तो स्वस्थ नहीं है, या उसे कोई रोग लग रहा है। दोनों ही से आलोचक की संकीर्णता का भाव प्रकट होता है। मजदूरों का जीवन भी क्यों हमारे राष्ट्रीय साहित्यकारों की लेखनी द्वारा चित्रित होना चाहिए, इसके एक कारण पर हमने विचार कर लिया। वे भी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अङ्ग हैं इसलिए उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि इससे राष्ट्र को ही क्षति पहुँचती है। परन्तु इसके साथ ही साथ हमें और भी दो कारणों पर विचार करना चाहिए। यदि हम अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का ही ध्यानपूर्वक, निष्पक्ष दृष्टि से अवलोकन करें तो हमें यह बात विदित हो जायगी कि मजदूर वर्ग हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग ही नहीं बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। सन् १९०८ में जब लोकमान्य तिलक को दूसरी बार गिरफ्तार किया गया था, तब बम्बई में एक जबर्दस्त हड़-ताल हुई थी जिसमें लाखों मजदूरों ने हिस्सा लिया था। इसी को लक्ष्य करके लेनिन ने सन् १९०८ ही में 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विस्फोटक तत्त्व' नामक अपने निबन्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की हिंस्र पशुवत् बर्बरता एवं अत्याचार पर विस्तारपूर्वक विचार करने के बाद कहा : किन्तु भारतीय जनता ने अपने लेखकों और राजनीतिक नेताओं की रक्षा के हेतु मैदान में उतर आना शुरू कर दिया है। अंग्रेज गीदड़ों ने भारतीय राष्ट्रीय नेता तिलक को कारादण्ड देकर जो घृणित कार्य किया, पूँजीपतियों के दलालों के इस प्रतिहिंसात्मक कार्य के विरोध में बम्बई की सड़कों पर जनता के प्रदर्शन हुए और मजदूरों की हड़ताल हुई। भारत का क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग राजनीतिक चेतना की दृष्टि से इतना विकसित हो चुका है कि वह एक वर्गचेतन, राजनीतिक जन-आन्दोलन चलाये—और ऐसी दशा में वह दिन अब दूर नहीं है जब जारशाही अत्याचारों से मिलते जुलते ब्रिटिश अत्याचारों का अन्त कर दिया जायगा। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के दिन लद गये।

तिलक की गिरफ्तारी के विरुद्ध मजदूरों की हड़ताल भारत के क्रान्तिकारी

मजदूर आन्दोलन की प्रथम राजनीतिक हड़ताल थी जो अपने लिए कोई अधिकार या सुविधा प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि एक राजनीतिक उद्देश्य को लेकर हुई थी। तब से आज तक प्रत्येक स्वाधीनता-आंदोलन में मज़दूर वर्ग आगे आगे रहा है। जिन्हें शोलापुर, बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर तथा कलकत्ता आदि की बड़ी-बड़ी हड़तालें याद हैं, वे इस बात को तुरन्त स्वीकार कर लेंगे कि हमारा मज़दूर वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन में आगे आगे ही रहा है, कार्य्योत्साह में, संगठन-क्षमता में, त्याग और उत्सर्ग में। युद्ध के प्रारम्भ में सन् ४० में, बम्बई के लाखों मज़दूरों की जो विराट् साम्राज्यवादी युद्ध-विरोधी हड़ताल हुई थी, उससे हमारे तत्कालीन युद्ध विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन को बल न मिला हो, यह असम्भव है। राष्ट्रीय महत्त्व का ऐसा कोई अवसर नहीं मिलेगा जब कि मजदूर वर्ग अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को पूरा करने में पिछड़ा हो अथवा हिचका हो। अष्टी और चिमूर के बन्दियों की रिहाई के लिए बम्बई के मजदूरों की जो हड़ताल हुई थी, जिसमें लगभग साढ़े तीन लाख मजदूरों ने भाग लिया था, वह अभी हाल की घटना है। भारतीय मजदूर वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन के संघर्षों में भाग लेने के साथ साथ उसी अनुपात में देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता की रूप-रेखा को भी स्पष्ट करने और सँवारने में योगदान किया है और इस दृष्टि से भी उसका कर्तव्य महत्त्वपूर्ण है।

इतना ही नहीं राष्ट्रीय आंदोलन का अङ्ग और महत्त्वपूर्ण अङ्ग होने के साथ साथ मजदूर वर्ग उत्तरोत्तर दिनोंदिन सचेतन, जाग्रत, संगठित और सशक्त होता जा रहा है और तदनुसार राष्ट्रीय आंदोलन के लिए उसका महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। आज की देशीय राजनीति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है—अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से भी उसने बल ग्रहण किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि जब यह बात कही जाती है कि हमारे क्रान्तिकारी, प्रगतिशील, राष्ट्रीय साहित्य का मुख्य आधार किसानों का जीवन होगा, तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि क्रान्तिकारी मज़दूरों के जीवन को अवहेला की दृष्टि से देखा जायगा। दोनों का उचित सामंजस्य ही अभीप्सित है।

सम्भव है साहित्य में सर्वहारावर्ग की समस्या पर इतने विस्तारपूर्वक विचार करने के फलस्वरूप उस त्रुटि की मार्जना हो गयी हो जो कॉडवेल की ब्रिटेन की गणतांत्रिक भूमिका में लिखी गयी बातों को परतन्त्र भारत की परिस्थितियों पर ज्यों की त्यों आरोपित करने से उत्पन्न हो गयी जान पड़ती है। जहाँ-जहाँ कॉडवेल

ने 'सर्वहारावर्ग' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ-वहाँ यदि ये विचारक 'गुलाम भारतीय जनता' पढ़ें तो उनकी उलझन न रहेगी, इसका विश्वास किया जा सकता है।

कॉडवेल की आलोचना में आये हुए 'सर्वहारावर्ग' शब्द के कारण जो उलझन पैदा हो गयी है, उसे दूर करने के उपरान्त यदि हम एक बार फिर उसकी बात पर विचार करें और साधारणीकरण के सम्बन्ध में सोचें-विचारें तो अच्छा होगा। 'सामूहिक भाव' से कॉडवेल का अभिप्राय उस भावकोष से है जो परिस्थितियों तथा संस्कारों के कारण किसी देश-काल में विशाल जनसमाज के हृदय में अपनी स्थिति बना लेता है। सामूहिक भावों की स्थिति लोकहृदय में होती है। इतना ही नहीं, जिस प्रकार पुष्प का गुण उसकी सुगन्ध है और पानी का गुण उसकी तरलता, उसी प्रकार लोकहृदय का गुण उसके सामूहिक भाव होते हैं। इन्हीं सामूहिक भावों की समष्टि है लोकहृदय। इसलिए सच्चे कलाकार को लोकहृदय की पहचान होनी चाहिए और सच्चे कलाकार को जनता के सामूहिक भावों की पहचान होनी चाहिए, ये दोनों कथन एक से ही हैं।

अब आइए साधारणीकरण को समझ लें।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते ; मनुष्यमात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसीसे उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने पर सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्यजाति के सामान्य हृदय को देख सके।'

(चिन्तामणि, पृ० ३०८)

इसी लेख में आगे चलकर शुक्लजी लिखते हैं:—

'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो

व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।'

(चिन्तामणि, पृ० ३१२)

अब यदि हम यह पता लगाने की कोशिश करें कि कोई व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष जो काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, किस प्रकार सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है, तो सामूहिक भाव और साधारणीकरण का परस्पर सम्बन्ध समझने में हमें देर न लगेगी। होरी के मन के भाव हमें क्यों अपने मन के-से भाव जान पड़ते हैं। देवदास के मन का संघर्ष, उसके मन की व्यथा क्यों हमें अपने मन की व्यथा जान पड़ती है। कोई उपन्यास कहानी अथवा कविता पढ़ते हुए और रङ्गमञ्च अथवा चित्रपट पर होनेवाले अभिनय को देखकर हम क्यों रोते या उल्लसित होते हैं। उपन्यास कहानी अथवा चित्रपट के नायक अथवा नायिका के जीवन का संताप हमारे जीवन का संताप और उसका संतोष हमारे जीवन का संतोष क्यों बन जाता है। ऐसा क्यों होता है? शायद आप उत्तर देंगे कि ये उपन्यास कहानी कविता या चलचित्र हमारी संवेदनीयता को जगाकर हमारी भावात्मक सत्ता पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और थोड़ी देर के लिए हमारा अस्तित्व 'आश्रय' के अस्तित्व में समाहित हो जाता है। पर तब प्रश्न उठता है कि कोई उपन्यास या कहानी या नाटक या चलचित्र या अन्य कलाकृति हमारी संवेदनीयता को जगाने में, हमारी भावात्मक सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने में क्यों सफल होती है, उसमें यह शक्ति कहाँ से आती है? यह प्रश्न बहुत सारपूर्ण है और इसका उत्तर ही सामूहिक भाव और साधारणीकरण के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन करेगा।

अतः अब विचारणीय बात यह है कि इस कलाकृति की संवेदनीयता का रहस्य क्या है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि सभी कलाकृतियों में समान भाव से संवेदनीयता या साधारणीकरण का गुण नहीं होता, किसी कलाकृति में यह गुण अधिक मात्रा में पाया जाता है, किसी में बहुत स्वल्प और किसी में बिलकुल नहीं। वस्तुतः इसी संवेदनीयता या साधारणीकरण के आधार पर किसी कलाकृति की श्रेष्ठता की परख होती है और जिसमें संवेदनीयता का गुण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है उसे श्रेष्ठ साहित्य के अन्तर्गत स्थान दिया जाता है और जिसमें यह गुण कम अथवा बिलकुल नहीं पाया जाता, उसे इतिहास और आलो-

चक दोनों क्षणस्थायी घोषित करते हैं। वस्तुतः कलाकृतियों की महत्ता इसी में है कि वे अपनी उच्चकोटि की संवेदनीयता के कारण अपने युग में सम्पूर्ण जन-समाज द्वारा तथा युग-युग तक समादृत हों और लोक-रञ्जन तथा लोक-कल्याण का अपना जीवनस्फूर्त्त उद्देश्य पूरा करती रहें। देश या विदेश की जो प्राचीन से प्राचीन रचनाएँ आज भी जनता के मन में स्नेह और आदर का स्थान बनाये हुए हैं, वे अपनी इसी संवेदनीयता के कारण। यह संवेदनीयता का गुण या साधारणीकरण ही किसी साहित्यिक कृति की आत्मा, उसका प्राण है।

हमें सामूहिक भाव और साधारणीकरण में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखायी देता। हमारी समझ में यह विरोध तभी परिलक्षित होता है जब कि साधारणी-करण को या संपूर्ण रस-सिद्धान्त को मानव-सुलभ विचार और अनुभूति की सीमा से परे हटाकर किसी लोकोत्तर जगत् की चीज बना दिया जाता है। ब्रह्मा-नन्द सहोदर शब्द यदि केवल अलंकार या चामत्कारिक उक्ति होता तो कोई विशेष कठिनाई न होती; किन्तु इस समस्या को युगान्तदीर्घकाल से इसी प्रकार समझते-समझाते हुए लोगों का यह विश्वास हो गया है कि रस के सिद्धान्त का उद्घाटन मनोविज्ञान की सहज भूमि पर नहीं वरन् कुछ लोकोत्तर स्थापनाओं के आधार पर ही हो सकता है। मैं समझता हूँ कि मार्क्सवादी आलोचकों को साधारणीकरण या रस को मान लेने में कोई कठिनाई न होगी। लेकिन वे उसे स्वीकार करेंगे मनोविज्ञान की भूमि पर; अन्य किसी लोकोत्तर भूमि पर नहीं। जब तक रस-सिद्धान्त को थोथे अध्यात्म के जञ्जाल से मुक्त करके उसे पूर्णतः शरीरी नहीं बनाया जाता और उसमें आधुनिकतम मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के आलोक में नयी बातों का समावेश नहीं किया जाता, तब तक यही स्थिति रहेगी कि एक ओर तो कुछ लोग उसे अपने जीवन के शेष संबल की तरह चिपकाये बैठे रहेंगे और दूसरी ओर कुछ उसके नाम मात्र से बिदकेंगे। यहाँ पर इस बात का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि (उदाहरण के लिए) प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ दोनों ही ने अपने साहित्यिक निबन्धों में रस की समस्या को मनोविज्ञान से संपृक्त करके ही देखा है।

अच्छा अब हमें यह प्रतिपादित करना है कि साधारणीकरण को मनोविज्ञान के आधार पर ग्रहण करने से सामूहिक भाव और साधारणीकरण दोनों एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं।

साहित्यकार की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करने से बात स्पष्ट हो जायगी। कोई साहित्यकार जब कोई रचना करता है तब उसका लक्ष्य यह होता

है कि वे विचार अथवा वे अनुभूतियाँ, वे भाव जो वह अपने 'आश्रय' के माध्यम से प्रस्तुत कर रहा है, अपनी गहरी तथा व्यापक संवेदनीयता से पाठक अथवा श्रोता को अपना अनुवर्त्ती बना लें और जो भाव अथवा जो वस्तु साहित्यकार तक ही सीमित थी, उसकी अपनी विशेष वस्तु थी, सर्वजनसुलभ हो जाय, सामान्य हो जाय। इस प्रकार साधारणीकरण की समस्या विशेष को सामान्य बनाने की समस्या ही है।

प्रसिद्ध प्राचीन रूसी साहित्यकार तथा समीक्षक चेरनिशेव्स्की ने भी इस समस्या पर विचार किया है और उसके परवर्त्ती सभी समीक्षकों ने उसकी आलोचना की भूमि पर ही अपने सिद्धान्तों को खड़ा किया है। इस प्रकार प्रगतिवादी आलोचना के लिए चेरनिशेव्स्की का बड़ा महत्त्व है। कला के उद्देश्य पर विचार करते हुए चेरनिशेव्स्की कहता है कि कला का उद्देश्य मानव जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु का चित्रण करना है। 'मानव-जीवन से संबद्ध प्रत्येक वस्तु' कहने से चेरनिशेव्स्की का अभिप्राय सुंदर और असुंदर दोनों ही प्रकार की वस्तुओं से है; उसका अभिप्राय उन शक्तियों से है जो जीवन को विफल बनाती और चूर्ण-विचूर्ण करती हैं और साथ ही साथ उन शक्तियों से भी, जो जीवन को बल पहुँचाती हैं, सहारा देती हैं; जीवन और मृत्यु दोनों ही की शक्तियों को चेरनिशेव्स्की अपनी परिभाषा के अन्दर ले लेता है। इस प्रकार 'जीवन' को कला का प्राणतत्त्व कहते समय वह जीवन को गतिशील रूप में, जीवन के संघर्ष के रूप में समझता है, जैसा कि जीवन यथार्थ में है, कोरे स्वप्नों का जीवन नहीं।* मानव-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु के चित्रण के अंदर यह बात निहित है कि अंकित चित्र का महत्त्व केवल कलाकार के लिए नहीं वरन् सामान्यरूप में सभी मनुष्यों के लिए होना चाहिए। इस प्रकार कला का वास्तविक महत्त्व किसी वस्तु का चित्रण इस प्रकार करने में है कि केवल कलाकार के निकट महत्त्वपूर्ण वस्तु सामान्य रूप में सबके लिए उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हो उठे।†

मार्क्सवादी आलोचकों के इस कथन में और साधारणीकरण के सिद्धान्त में क्या कोई अन्तर है? रसोद्बोधन की, पाठक अथवा श्रोता की भावात्मक सत्ता को प्रभावित करने की जो प्रेरणा साधारणीकरण के सिद्धान्त के मूल में है, क्या वही प्रेरणा मार्क्सवादी आलोचकों के इस कथन के मूल में नहीं है? अवश्य है।

---

* F. D. Klingender: Marxism & Modern Art, p. 21.

† वही पृष्ठ २३।

साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए हम शुक्लजी के इस कथन का उद्धरण दे आये हैं कि सच्चा कवि वह है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं के बीच मनुष्यजाति के सामान्य हृदय को देख सके।

जिस साहित्यकार को लोकहृदय की जितनी ही अधिक पहचान होगी, उसके साहित्य में संवेदनीयता या साधारणीकरण का गुण उतना ही अधिक होगा। इसीलिए जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं, कॉडवेल प्रगतिशील कलाकारों से कहता है कि शोषित-निपीड़ित जनता के जीवन और संघर्षों के बीच रहकर, अंग बनकर, उनमें अच्छी तरह भाग लेकर उनका अध्ययन करो, तभी तुम उनके सामूहिक भावों का निदर्शन संवेदनीयता के साथ कर सकोगे और तुम्हारे साहित्य में वह गुण आयेगा जो प्रत्येक सहृदय पाठक को अपनी ओर आकर्षित करेगा और उसमें पीड़ित मानव के प्रति करुणा और अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन का भाव जगाकर उसे कार्यपथ पर ले आयेगा। एक बार फिर शायद यह कहने की आवश्यकता है कि सामूहिक भाव और लोकहृदय दो विरोधी वस्तुए नहीं हैं --लोकहृदय में ही सामूहिक भावों का निवास है।

यहाँ पर कुछ लोग शायद यह कहेंगे कि 'मनुष्यजाति के सामान्य हृदय' से शुक्लजी का तात्पर्य्य करुणा, प्रेम क्रोध आदि उन मूल भावों से है जो कभी बदलते नहीं और जो सभी देशों में सभी कालों में मनुष्यजाति के हृदय में रहे हैं। ठीक है, पर क्या इन मूल भावों के उपादान सदैव, सब कालों में सब देशों में एक से और अपरिवर्तनीय रहे हैं? भावों की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी क्या किसी को यह मानने में कठिनाई होगी कि इन भावों के उपकरण देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहे हैं? जब मनुष्य स्वयं गतिशील है तब उसका हृदय कैसे गतिहीन हो सकता है; जब वह स्वयं क्षण क्षण परिवर्तित हो रहा है तब उसका हृदय ही कैसे अपरिवर्तनीय हो सकता है? इसलिए 'मनुष्यजाति के सामान्य हृदय' का अर्थ केवल यह हो सकता है कि उसके मूल भाव सर्वत्र एक हैं; इसका यह अर्थ लेना आपत्तियों से खाली नहीं है कि इन मूल भावों के उपादान भी सर्वत्र एक हैं क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसी बात नहीं है। जिस वस्तु को शुक्लजी ने 'विशेषताएँ और विचित्रताएँ' कहा है, वही वास्तव में वे उपादान हैं जो समाज की परिस्थितियों के साथ, युग के साथ बदलते रहते हैं। इन्हीं भावों के कोष से अर्थात् लोकहृदय से साहित्यकार का घनिष्ठतम परिचय कॉडवेल ने साहित्य और समाज के लिए आवश्यक बतलाया है। रसोद्बोधन के लिए लोकहृदय की पहचान भी वही बात है। जहाँ रसोद्बोधन नहीं

होता, वहाँ इसका कारण यही होता है कि साहित्यकार को लोकहृदय की पहचान नहीं होती, इसलिए उसके साहित्य में संवेदनीयता नहीं होती और वह अपने स्रष्टा के व्यक्तिगत वैचित्र्य की सीमाओं में ही घुटकर निष्प्राण होने लगता है। जीवन की समस्याओं से पलायन करनेवाले साहित्य के न जीने का यही कारण है ; बहुत-सा प्राचीन साहित्य इसीलिए मर गया और आज भी इस प्रकार का जो साहित्य तैयार हो रहा है, उसका मर जाना अवश्यम्भावी है। जीवन के तत्त्व से रहित होकर चराचर जगत् में जब कुछ जीवित नहीं रहता, तब साहित्य ही कैसे जीवित रह सकता है ! जीवन के तत्त्व से एक पल को भी मार्क्सवादी जीवनदर्शन या व्याख्या अभिप्रेत नहीं है, यह कह देना आवश्यक है। हम विश्वसाहित्य का इतिहास देख डालें, तो हमें विदित हो जायगा कि आज तक जो साहित्य जी रहा है वह अपनी संवेदनीयता के कारण। इस कारण कि उसने अपने सामने आनेवाली जीवन की विविधरंगिनी समस्याओं को अपनी कला की ग्राहिका शक्ति से सुलझाने का यत्न किया। सप्राण साहित्य के लिए इतना ही अभीष्ट भी है। मार्क्सवादी आलोचक सब साहित्यकारों से मार्क्सवादी बनने की अपेक्षा नहीं रखते, जीवन के प्रति सच्चा बनने की अपेक्षा रखते हैं। मार्क्स और मार्क्सवाद के जन्म के पूर्व भी हजारों वर्ष तक बहुत साहित्य रचा गया है। वह इसलिए नहीं जी रहा है कि उसने मार्क्स के जन्म के पहले ही उसके सिद्धान्तों के अनुसार अपनी समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया ! बल्कि इसलिए कि उसने जीवन से पलायन नहीं किया और अपने युग और समाज के विचारों, संस्कारों, विश्वासों और मान्यताओं के अनुसार जीवन को समझने और उसकी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का यत्न किया। जिस साहित्य ने चाहे वह जिस काल का हो, जिन्दगी से आँखें चार की हैं, चाहे उसने जिस ढंग से ऐसा किया हो, वही साहित्य जी रहा है, जी सकता है। मुख्य बात यह नहीं है कि कोई साहित्यकार किस जीवन दर्शन का अनुयायी है। मुख्य बात यह है कि जीवन के प्रति उसका कोई न कोई मानववादी, मानवमात्र के लिए कल्याणकारी दृष्टिकोण होना चाहिए। यदि यह चीज उसके पास है और जीवन के प्रति तथा अपनी कला के प्रति वह सच्चा है तो उसका साहित्य अवश्य दीर्घजीवी होगा। किसी भी श्रेष्ठ पुराने या नये साहित्य में मार्क्सवादी मान्यताओं का समर्थन ढूँढ़ने की विचार-मूढ़ता से वे पीड़ित नहीं हैं। वे तो जीवन के प्रति कलाकार की सचाई के ही इच्छुक हैं। इसीलिए वे कलाकारों से जनता के निकट जाने, उसके हृदय को पहचानने, उसके हृदय में हिलोरें लेनेवाले भावों को परखने की माँग करते हैं।

लोकहृदय से संबंध-विच्छेद हो जाने पर साहित्यकार व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का ही सहारा लेने पर बाध्य होता है और तब ऐसे साहित्य की रचना होती है जिससे न तो साहित्य का ही कोई कल्याण होता है न समाज का ही और न स्वयं साहित्य-कार का ही क्योंकि उस दशा में उसका साहित्य भी क्षणस्थायी होता है। कला-कार इस वैचित्र्यवाद के अभिशाप से बचा रहे, इतना ही चाहिए।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि सामूहिकभाव और साधारणीकरण दोनों का प्रयोजन एक ही है ; दोनों ही लोकहृदय की पहचान पर, जनता के सामूहिक भावों के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करने पर जोर देते हैं क्योंकि बिना जनता की भावनाओं के साथ रागात्मक संबंध स्थापित किये, रचना में रस का वह पूर्ण परिपाक ही नहीं हो सकता, उसमें वह शक्ति ही नहीं आ सकती कि वह पाठक अथवा श्रोता की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डाल सके ; दोनों ही इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि पाठक अथवा श्रोता का रागात्मक संबंध 'आश्रय' से हो (अर्थात् तनिक घुमाव देकर स्वयं लेखक से) इसके लिए आवश्यक है कि लेखक का पूर्ण तादात्म्य जनता से हो, वही जनता जो पाठक अथवा श्रोता भी है। सामूहिकभाव का सिद्धान्त निपीड़ित शोषित जनता से तादात्म्य स्थापित करने की बात कहता है जो कि साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं कहता लेकिन उसके कारण दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आता। क्योंकि लोकहृदय की बात कहते समय भी समीक्षक की दृष्टि विशाल जनसमुदाय पर ही रहती है। तीक्ष्ण वर्गसंघर्ष के युग में उत्पन्न होने के कारण सामूहिक भाव का सिद्धान्त 'लोक' की परिभाषा तीक्ष्ण रूप में करने पर बाध्य होता है क्योंकि आज पराधीन और निपीड़ित मानव ही सच्चे अर्थों में मानव है और अपने ऊपर शासन करनेवाले मुट्ठी भर साम्राज्य लोभी पूँजी-लोभी दस्युओं को समाप्त करके स्वतन्त्र मानव-समाज की स्थापना करने की क्षमता रखता है।

अब आइए एक और शंका पर विचार करें। कुछ लोग कहते हैं कि मार्क्सवादी आलोचक सामान्य मानवता (General humanity) की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि सामान्य मानवता से अभिप्राय वर्गहीन मानवता से, वर्गों आदि से ऊपर उठी हुई मानवता से है तो मार्क्सवादी निश्चय ही उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि वर्गहीन मानवता का जन्म अभी भविष्य के गर्भ में है। विश्व के छठें भाग सोवियत रूस के नेतृत्व में मानवता आज तड़ित् गति से वर्गहीनता और सच्चे साम्य की ओर जा रही है इसमें सन्देह नहीं, लेकिन अभी वर्गहीन मानवता का जन्म नहीं हुआ है यह भी निःसन्देह है। साम्यवादी

समाज ही वर्गहीन हो सकता है। आज तो हमें चारों ओर वर्ग ही वर्ग दिखायी दे रहे हैं। एक वर्ग-संघर्ष साम्राज्यवादियों और पराधीन औपनिवेशिक जनता का है, गौरांग महाप्रभुओं और काले भारतवासियों का है। दूसरा वर्ग-संघर्ष वेश्यागामी दुराचारी अन्यायी नृशंस देशी राजाओं और उनकी दुःखी, निपीड़ित जनता का है। तीसरा वर्ग-संघर्ष बेरहम ज़मींदारों और उनकी चक्की में पिसते हुए किसानों का है। चौथा वर्ग-संघर्ष अरबों की संपत्ति के मालिक पूँजीपतियों और नंगे-भूखे मज़दूरों, मजदूर-पत्नियों और मज़दूर-बच्चों का है। पाँचवाँ वर्ग-संघर्ष विश्व-साम्राज्यवाद और समाजवादी सोवियत रूस का है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर आज बहुत व्यापक प्रभाव डालते देखा जा सकता है। छठाँ वर्ग-संघर्ष विश्व के (सभी रंग के) साम्राज्यवादियों और विश्व की (सभी रंग की) स्वाधीनताप्रेमी मानवता का है। ये सभी वर्ग आपस में लड़ रहे हैं, हमारी आँखों के सामने। क्या इनकी सत्ता से इनकार किया जा सकता है? यदि नहीं तो क्यों न हम इन्हें स्वीकार करके आगे बढ़ें और इस वर्गभेद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए इसका अंत करें और वर्गमुक्त, वर्गहीन मानव समाज की स्थापना करें? यह हमको अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि संसार से यह वर्गभेद उसकी ओर से आँख मूँद लेने, उसकी सत्ता से इनकार करने या उसके विरुद्ध 'सामान्य मानवता' का काल्पनिक रूप खड़ा करने से नहीं चला जायेगा, वह जायगा अपने देश की और संसार की वास्तविक, मांस-मज्जा की मानवता के अधिकारों के लिए संघर्ष करने से।

अतः 'सामान्य मानवता' से यदि तात्पर्य्य वर्गहीन मानवता से है तो मार्क्स-वादी निश्चय ही उसे नहीं मानते। किन्तु सामान्य मानवता से यदि प्रयोजन उस विशाल मानवता से हो जो जनसंख्या का निन्यानबे प्रतिशत है और जो खेतों में, खलिहानों में, कल कारखानों में, दफ्तरों में, सेना में कार्य्य करती है, तो मार्क्स-वादी आलोचकों को इस सामान्य मानवता का अस्तित्व स्वीकार करने में कोई कठिनाई न होगी। सच पूछा जाय तो सामान्य मानवता से यही अर्थ लिया भी जाना चाहिए क्योंकि साहित्यकारों का लक्ष्य लोकमंगल की कामना से दीप्त यही उद्योगशील कर्मठ मानवता होती है। और आज ही नहीं, प्राचीन युग से बड़े बड़े कलाकार और दार्शनिक इसी विशाल मानवता को अपनी दृष्टि में रखकर उसके कल्याण की योजनाएं अपने साहित्य और कला, दर्शन और राजनीति द्वारा प्रस्तुत करते रहे हैं। इस सामान्य मानवता को सभी स्वीकार करेंगे। पिछले युगों के महान् मानववादी साहित्य की धारा इसी सामान्य मानवता के हेतु प्रवाहित होती रही है, इसे कौन नहीं जानता। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना

भूल होगी कि इस मानववादी साहित्य पर समाज के वर्गभेद की छाप नहीं है। यह कहना कि किसी साहित्य पर समाज के वर्गभेद की छाप स्पष्ट या अनुमित, सीधे या आनुषंगिक रूप में नहीं है यह कहने के बराबर है कि उस पर अपने समसामयिक समाज की छाप ही नहीं है क्योंकि समाज अपने वर्गभेद को लिये-दिये समाज है। इसीलिए सब देशों का, सब युगों का मानववादी साहित्य भिन्न प्रकार का है, अपना वैशिष्ट्य लिये हुए है। वह भिन्न इसीलिए है, उसकी विशेषताएँ भी इसीलिए हैं कि भिन्न परिस्थितियों ने उनका सृजन किया है। उन सब पर अपने देश-काल के प्रचलित संस्कारों का गहन-प्रभाव है। पर जो चीज़ उन्हें साम्य प्रदान करती है, वह है उनका मानवप्रेम। जो चीज़ प्रगतिशील साहित्य के साथ उनका पूर्वापर संबंध जोड़ती है वह भी यही है, उनका मानवप्रेम। आज भी श्रेष्ठ प्रगतिशील साहित्य इसी मानवप्रेम की भावना से अनुप्राणित है। आज संघर्ष बहुत उग्र रूप धारण कर गया है, इसलिए आज के प्रगतिशील मानववादी साहित्य का स्वर वह नहीं है जो उसके पूर्ववर्त्ती मानववादी साहित्य का था; आज उसके स्वर में उग्रता अधिक है, उसमें रोष अधिक है, शोषण के प्रति असहिष्णुता भी उसमें अधिक प्रखर है, शोषकों के प्रति घृणा का, प्रतिहिंसा का भाव भी अधिक निर्ममता से उसमें गुँथा हुआ है। लेकिन शोषकों के प्रति उसकी घृणा, उसकी प्रतिहिंसा, शोषक के प्रति उसकी असहिष्णुता का उद्‌गम भी उसका मानवप्रेम ही है। मानवता से अत्यंत प्रेम करने के कारण ही उसने मानवता को संताप देनेवाली शक्तियों के उन्मूलन का पुनीत व्रत लिया है। इस प्रकार आज का श्रेष्ठतम प्रगतिशील साहित्य विश्व के मानववादी साहित्य का ही क्रान्तिकारी विकास है, दोनों में जो अन्तर है वह परिस्थितिमूलक है; दोनों के मूल में प्रेरक शक्ति एक ही है—मानवप्रेम। आज इस मानववादी साहित्य को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है मानों उसके सृजन के मूल में कोई उत्सर्ग ही नहीं है, मानों वह अवकाशभोगी साहित्यकारों की क्रीड़ा हो, मानों उसकी नींव को हृदय के टपकते हुए रोष ने दृढ़ता न प्रदान की हो, मानों वह 'विशुद्ध' कला के लिए कला-वाला साहित्य हो। कुछ लोग ऐसी बात कहते सुने जाते हैं। इस बात में तनिक भी सार नहीं है। प्रगतिशील क्रांतिकारी साहित्य से मानववादी साहित्य का सम्बन्ध जो चीज़ जोड़ती है, वही कला के लिए कला वाले या 'विशुद्ध' साहित्यसे उसका संबंध तोड़ती भी है। कला-कला के लिए अपने लिए होती है। उसकी दृष्टि अपने ऊपर रहती है; मानववादी साहित्य की दृष्टि मनुष्य के सुख-दुःख पर थी। उसके स्रष्टा वे हैं जिन्होंने अपने जीवन में अकथ्य कष्ट सहे थे। कष्टों की ज्वाला में जलते हुए उन्होंने मानवता के स्वर्णिम विहान का

स्वप्न देखा है। इसीलिए उनके ये स्वप्न अवकाशभोगियों, उपजीवी वर्ग के अकर्मण्य बनानेवाले सपनों से भिन्न हैं। उनमें व्यक्ति और समाज को कर्म के पथ से उन्नति की ओर, स्वप्न के स्वर्णिम विहान की ओर अग्रसर करने की क्षमता है। वे कर्मपथ के पथिकों के स्वप्न हैं ; स्वप्न उनका पाथेय नहीं गंतव्य है। वे उन स्वप्नद्रष्टाओं के स्वप्न हैं जो स्वप्नों की भाषा में मानव-कल्याण की योजना प्रस्तुत करते हैं। और अधिकतर तो वे स्वप्न नहीं, जीवन के बड़े गहरे, मार्मिक चित्र हैं। इसी नाते 'विशुद्ध' साहित्य से उनका साम्य नहीं है। यह ठीक है कि अपने साहित्य में उन्होंने सदा युद्ध का सिंहनाद नहीं किया ; पर वह सदैव आवश्यक भी नहीं होता। उनके साहित्य ने मानव को कल्याणपथ का पथिक बनाया है, और इसी में उनके साहित्योद्देश्य की सिद्धि भी है। निविड़ अन्धकार से घिरे होने पर आलोक में विश्वास का जयनाद क्या अन्धकार का प्रतिवाद नहीं करता ? पराधीन मानव का मुक्ति-गान क्या पराधीन बनाने वाले का प्रतिकार नहीं करता ? क्षण भर बाद ही फाँसी पर झूल जानेवाले शहीद का विश्व के स्वर्णिम भविष्य के सम्बन्ध में अडिग विश्वास क्या फाँसी देनेवाले का उपहास और प्रतिकार नहीं करता ? यदि करता है तो इस मानववादी साहित्य ने भी मनुष्य की स्वतंत्रता की ध्वजा फहराकर उन अनैतिक शक्तियों का नैतिक प्रतीकार किया है जो मनुष्य को दासत्व की शृंखला में जकड़े रहना चाहती हैं। जो आलोचक इन मानववादी साहित्यकारों को हमारे सामने यों प्रस्तुत करते हैं कि वे जीवन के प्रति उदासीन, उसके संघर्षों से एकदम अलग निर्लिप्त जान पड़ते हैं, वे इन साहित्यकारों और इतिहास दोनों ही के साथ घोर अन्याय करते हैं क्योंकि जो भी इन साहित्यकारों के जीवन और साहित्य से परिचित है, वह इस बात को जानता है कि वे विशाल जन-समाज के ही अङ्ग थे और जीवन के संघर्षों से उनका चोली-दामन का साथ था। उनमें से बहुत तो ऐसे मिलेंगे जिन्हें आत्यंतिक विपन्नता का अनुभव था। उदाहरण के लिए तुलसी को ही ले लीजिए, शेक्सपियर को लीजिए, दाँते को लीजिए, गेटे को लीजिए, शेली को लीजिए, इब्सन को लीजिए, गोर्की को लीजिए। हमारे आधुनिक साहित्य में प्रेमचन्द को लीजिए, निराला को लीजिए। इन साहित्यकारों में से न जाने कितनों को अपने देश से निर्वासित होना पड़ा और तरह तरह के राजकष्ट भोगने पड़े। इनमें दास्तावेस्की गोर्की और शेली का नाम ध्यान में आता है। बायरन-जैसे कवियों ने अन्य देशों की स्वाधीनता के लिए बन्दूक उठाई। हिटलर और फ्रैंको के विरुद्ध स्पेन के प्रजातन्त्र की रक्षा करने के लिए लड़ने और मरनेवाले अँग्रेज, कॉडवेल और राल्फ फॉक्स का पूर्वज यही मानववादी बायरन था जो यूनान की

स्वाधीनता के लिए लड़ता हुआ मारा गया। इसलिए इन मानववादी साहित्यकारों को संघर्षों से बचकर 'निर्लिप्त भाव से साहित्य सेवा' करते हुए दिखलाने से अधिक असत्य कोई बात नहीं हो सकती। उनका जीवन अपने समाज से पूर्णतया गुम्फित था। उन्होंने अपने समाज से 'ऊपर' किसी स्वप्नलोक में अपना नीड़ नहीं बनाया। वे समाज में रहे, पूरी तरह समाज के होकर रहे, उसकी उथल-पुथल में हिस्सा लिया और काम पड़ा तो प्राणों की आहुति देने से भी नहीं कतराये।

सामान्य मानवता के प्रश्न पर विचार करते हुए सामान्य मानवता को लक्ष्य करके रचित मानववादी साहित्य पर इतने विस्तृत विवेचन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि कुछ लोग इन्हीं साहित्यकारों की आड़ लेकर प्रगतिशील साहित्य पर आक्रमण करते हैं और उसे वर्गवादी घोषित करके मानववादी साहित्य से, जिसे वे वर्ग-संघर्ष से अछूता बतलाते हैं, उसका विरोध दिखलाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मानववादी साहित्य की वास्तविक स्थिति क्या है और प्रगतिशील साहित्य से उसका क्या पूर्वापर सम्बन्ध है। आज का मानववादी साहित्य, जो इसी पुराने मानववादी साहित्यमाला की एक लड़ी है, यदि शोषित मानवता का पक्ष अधिक स्पष्ट रूप में ग्रहण करता है और यदि कर्म का रुक्ष स्वर उसमें पहले के साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रधान है तो इसका कारण हमें युग की परिस्थितियों में, तीव्र से तीव्रतम होते हुए वर्ग-संघर्ष में ढूँढ़ना होगा। बड़ा अन्तर केवल यह कि आज का प्रगतिवादी लेखक बिना किसी संशय के समाज के वर्गभेद को स्वीकार करता है और शोषक वर्ग के खिलाफ शोषित वर्ग के संग कंधा मिलाकर खड़ा होता है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य शोषक वर्ग का नाश करके समाज के वर्गभेद को मिटाना और वर्गहीन समाज की स्थापना करना होता है। पुराने लेखकों में यह वर्गचेतना नहीं थी सही लेकिन क्या यह बात ठीक नहीं है कि उनकी कृतियों में विचारों और भावों के तीव्र संघर्ष के रूप में तत्कालीन समाज के वर्गसंघर्ष की छाप मिलती है?

अब आइए, एक आलोचक की तीसरी शंका पर विचार करें। उन्होंने नरेंद्र की पुस्तक 'लाल निशान' की कविताओं को 'स्पीचनुमा' कहकर उन पर व्यंग्य किया है या उनकी भर्त्सना की है, और आगे चलकर प्रतिपादित किया कि है मार्क्स-वादी आलोचक कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाले साहित्य को ही उत्तम मानते हैं। इस प्रश्न के दोनों खण्डों पर हम अलग अलग विचार करेंगे। आइए पहले 'लाल निशान' की 'स्पीचनुमा' कविताओं को लें। आलोचक महोदय ने उन कविताओं को 'स्पीचनुमा' कदाचित् इस दृष्टि से कहा है कि उन्हें उनमें काव्य का प्रधान

गुण संवेदनीयता नहीं मिली और इसके विपरीत बुद्धितत्त्व ही उन्हें उनमें अधिक दिखा। संवेदनीयता उन कविताओं में है कि नहीं, अपने विषय के अनुसार करुण अथवा वीररस का परिपाक उनमें हुआ है या नहीं, यह तो प्रत्येक व्यक्ति उन कविताओं को स्वयं पढ़कर या सुनकर ही जान सकेगा। 'लाल निशान' की विस्तृत आलोचना इस निबन्ध का विषय भी नहीं है। लेकिन मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि जिन्होंने 'लाल निशान' को विरोध की दृष्टि से नहीं पढ़ा है वे मेरी इस बात को स्वीकार करेंगे कि उस संग्रह की कुछ कविताओं में रस का बड़ा अच्छा परिपाक हुआ है। उदाहरण के लिए 'यकुम मई' का नाम लिया जा सकता है। संग्रह की सारी कविताओं को एक सिरे से 'स्पीचनुमा' करार देने के पीछे शायद यही मनोभावना कार्य कर रही है कि मजदूरों का जीवन या सोवियत रूस आदि काव्य के उपयुक्त विषय नहीं हैं, रस का परिपाक उनमें हो ही नहीं सकता, केवल प्रेम और विरह काव्य के उपयुक्त विषय हैं। मार्क्सवादी आलोचकों के निकट यह मनोभावना अविकसित मस्तिष्क और रुग्ण हृदय का ही द्योतन करती है। विश्व साहित्य का इन्द्रधनुषी वैविध्य बार बार इस बात को प्रमाणित करता है कि मानव जीवन से संपृक्त प्रत्येक वस्तु, चाहे वह सुन्दर हो या असुन्दर, चाहे उसे देखकर मन उल्लास से नाच उठे या गुस्सा, पीड़ा, आक्रोश और प्रतिहिंसा से भर उठे, काव्य का उपयुक्त विषय हो सकती है। यह कवि की प्रतिभा, जीवन के पर्यवेक्षण की उसकी गहनता एवं व्यापकता तथा उसकी कवित्व-शक्ति पर, काव्य-कला पर उसके अधिकार पर निर्भर होता है कि वह उस विषयवस्तु का उचित संनिवेश अपने काव्य में कर पाता है या नहीं। इन्हीं बातों पर उसके साहित्य की श्रेष्ठता निर्भर होती है। इसलिए यद मज़दूरों अथवा किसानों के संघर्षों या राष्ट्रीय आन्दोलन या सोवियत रूस से संबंध रखनेवाली किसी रचना में यथेष्ट संवेदनीयता नहीं आने पाती या रस का परिपाक ठीक से नहीं होता, तो यह उस विषयवस्तु का दोष नहीं, स्वयं कवि या साहित्यकार का तथा उसकी कला का दोष है। 'वंग दर्शन' में बंगाल सम्बन्धी कविताएँ संगृहीत हैं। उनमें दो ही एक हैं जिनमें करुण रस का परिपाक अच्छी तरह होता है; अधिकतर कविताएँ पाठक की भावात्मक सत्ता को थोड़ा-बहुत छू अवश्य लेती हैं; पर पूरी तरह प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखतीं। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि बंगाल का अकाल काव्य के लिए उपयुक्त विषय नहीं है, कहाँ तक युक्तिसंगत है यह आसानी से समझा जा सकता है। बंगाल के अकाल पर कहानियाँ भी काफ़ी लिखी गयी हैं, कुछ उपन्यास भी लिखे गये हैं। उन सब में एक-सी प्रभावोत्पा-

दकता नहीं है, इस बात को दलील बनाकर यह कहना कि बंगाल का अकाल साहित्य के लिए अनुपयुक्त विषय है, केवल अपनी साहित्यिक विचारहीनता का परिचय देना नहीं प्रत्युत् मानवता का अपमान करना है। हमारी पराधीनता से उत्पन्न जो विभीषिका लाखों मनुष्यों को जीवन के प्रति अपना उत्तरदायित्व चुकाने से पूर्व ही मृत्यु की चादर ओढ़ने पर विवश करे, जीवन को उच्चतर बनाने के लिए वचनबद्ध हमारी कला और साहित्य के लिए उसका कोई महत्त्व किसी रूप में नहीं है, यह स्वीकार करने से पहले हमें अपने विवेक को और संवेदनशील हृदय को सुला देना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में महादेवी वर्मा की इस उक्ति को हमें याद रखना चाहिए—बंगाल की ज्वाला का स्पर्श करके हमारी लेखनी-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे क्षार हो जाना पड़ेगा।

कुछ कविताओं और कहानियों में अधिक प्रभावोत्पादकता है और कुछमें कम। इसका सरलसा कारण यह है कि कुछ लेखकों के संवेदनशील मन को उस विभीषिका ने अधिक स्पर्श किया है और कुछ को कम। साहित्य और कला के सभी रस-मर्मज्ञों की भांति मार्क्सवादी आलोचक भी इस बात को मानते हैं कि जिन रचनाओं में अधिक संवेदनीयता होती है, हृदय को अधिक स्पर्श करने की शक्ति होती है, वे अधिक उत्तम होती हैं और जिनमें यह गुण कम होता है वे उसी अनुपात में कम अच्छी होती हैं, यहाँ तक कि वे रचनाएँ जो शुद्ध प्रचारवादी हैं और हृदय को तनिक भी स्पर्श नहीं करतीं, उन्हें मार्क्सवादी आलोचक भी श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में नहीं रखते। कोरी बुद्धिवादी रचनाओं का मूल्य वे भी बहुत कम आँकते हैं। एक अंग्रेजी का मार्क्सवादी आलोचक कहता है :

वह कलाकृति जो अपनी सजीवता और स्पष्ट अभिव्यंजना शैली के कारण लोगोंका हृदय तुरन्त स्पर्श करती है, उस कलाकृति से अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें यह गुण नहीं है, चाहे पहली कलाकृति का बुद्धितत्त्व दूसरी की अपेक्षा कम गम्भीर, कम व्यापक, और उलझा हुआ ही क्यों न हो।*

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचकों की दृष्टि में भी पन्त की 'युगवाणी' की अनेक कविताओं का स्वयं पंत के और हिन्दी कविता के ऐतिहासिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान तो है, लेकिन कविता की दृष्टि से बहुत महत्त्व नहीं है। मार्क्सवादी आलोचक भी इस बात को मानते हैं कि कविता का प्रभाव केवल बुद्धि पर नहीं,

---

* F. D. Klingender : Marxism & Modern Art, p. 45

हृदय पर भी और मुख्यतया हृदय पर पड़ना चाहिए। यह बात स्पष्ट हो जाने पर यह पता लगाने में विशेष कठिनाई न होनी चाहिए कि मार्क्सवादी आलोचक किस साहित्य को महत्व देते हैं और किस साहित्य को नहीं।

विद्वान् आलोचक की इस शंका के उत्तर में कि मार्क्सवादी आलोचक कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाले साहित्यको ही उत्तम मानते हैं, अब हमारा निवेदन है कि मार्क्सवादी आलोचक निश्चय ही कर्म की प्रेरणा देनेवाले साहित्यको अकर्मण्यता की प्रेरणा देनेवाले साहित्य से ऊँचा मानते हैं। 'जो कलाकृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों को थपकियाँ देकर सुलाती है और उसे अफ़ीम का नशा-सा पिलाकर जीवन के संघर्ष से विरत करती है, वह निश्चय हीनकोटि की है।' *

इस समस्या पर जरा और बारीकी से विचार करने की आवश्यकता है। मार्क्सवादी आलोचकों का मत है कि श्रेष्ठ साहित्य सदैव जीवन को उन्नततर बनाने वाले कर्म की प्रेरणा देता है, चाहे उसकी शैली स्पष्ट आह्वान की न हो हलके से इङ्गित की हो, प्रच्छन्न संकेत की हो। उदाहरणार्थ हम विश्व के श्रेष्ठतम मानववादी साहित्य को प्रस्तुत कर सकते हैं। उससे क्या हमें कर्म की प्रेरणा नहीं मिलती ? तुलसी का साहित्य क्या जीवन की विकलांगता को दूर कर उसे सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने की प्रेरणा नहीं देता ? रवीन्द्रनाथ की कविताओं से (यदि हम उनकी उन अन्तिम कविताओं को छोड़ भी दें जिनमें उनकी सामाजिकता का और भी भरा हुआ, ठोस रूप हमारे सामने आता है) क्या हमें कर्म की यह प्रेरणा नहीं मिलती कि कवि के स्वप्नलोक को हम भू पर उतार लायें और प्रकृति के इन्द्र-धनुषी रङ्गों में रँगे हुए उन्नततर मानव की सृष्टि करें ? क्या उससे हमारा सौंदर्य-बोध नहीं बढ़ता ? क्या यह सौंदर्यबोध स्वयं प्रगति का एक उपादान नहीं है ? क्या प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों से हमें कर्म का कोई सन्देश नहीं मिलता ? अब रही बात 'प्रत्यक्ष' शब्द की। आलोचक महोदय कहेंगे : कर्म की प्रेरणा देनेवाला साहित्य तो ठीक है पर प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाला साहित्य ठीक नहीं। उनकी इस शंका के मूल में भी वही हीनकोटि का प्रचारवादी साहित्य है जिस पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। उस पर फिर से बहस करने की ज़रूरत नहीं है। कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने के उद्देश्य से लिखे गये पर अपने उद्देश्य में स्वभावतः असफल, हीन प्रचारवादी साहित्य की निन्दा करने के साथ-साथ यह कहना आवश्यक है कि कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाले उत्तमोत्तम साहित्य की रचना हो

---

* वही, पृष्ठ ४१।

सकती है, हुई है, हो रही है और आगे भी होगी। फ्रांस की गणतांत्रिक क्रान्ति की जमीन तैयार करने वाला और रूस की समाजवादी क्रान्ति का बीज बोनेवाला साहित्य कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाला साहित्य ही तो है। क्या कोई सजग आलोचक यह कहने का साहस करेगा कि रूसो और वाल्तेयर का साहित्य श्रेष्ठ नहीं है बावजूद इस बात के कि दोनों ही अपने अपने ढङ्ग से कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देते हैं ? क्या क्रान्तिकारी रूसी साहित्य का कोई जिज्ञासु विद्यार्थी इस बात से इनकार करेगा कि मायाकोव्स्की और बेज़िमेंस्की की कविताएँ और गोर्की के उपन्यास और कहानियाँ श्रेष्ठ साहित्य नहीं हैं, बावजूद इस बात के कि क्रान्ति का उनका सन्देश बहुत स्पष्ट है ? विश्व का श्रेष्ठतम क्रान्तिकारी साहित्य कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाला ही होता है, पर इस कारण से उसके सौन्दर्य में कमी नहीं अभिवृद्धि होती है। टाल्स्टाय का साहित्य क्रान्तिकारी नहीं है लेकिन एक भिन्न जीवन-दर्शन से अनुप्रेरित होने के कारण एक अन्य प्रकार के कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा उसके साहित्य में है। क्या कोई इस हेतु टाल्स्टाय के साहित्य की महत्ता को कम कर सकता है ? तोपों की गड़गड़ाहट के बीच रचे हुए फ्रांसीसी राष्ट्रगीत 'मार्सेइयेज़' और विश्व के सर्वहारा के गीत 'इण्टरनाशियोनाल' कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाले ही तो हैं, इस नाते क्या हम उनको श्रेष्ठ साहित्य न समझेंगे ? जो इण्टरनाशियोनाल और जो मार्सेइयेज़, लाखों करोड़ों व्यक्तियों की आँखों में चमक ला देते हैं, उनके रक्त की गति को तेज़ कर देते हैं और उनके मृत्युपथ-गामी पैरों को पर लगाकर उन्हें सर्वोच्च कर्म के लिए, आदर्श के लिए प्राणों को सहर्ष होम करने के लिए बल और साहस देते हैं, उन्हें श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा ? जिस क्षण एक व्यक्ति ने उस गीत को गुनगुनाते हुए गोली का सामना किया या फाँसी के फन्दे को अपने गले में लिया, उसी क्षण वह गीत अमर साहित्य की कोटि में आ गया क्योंकि किसी उच्च आदर्श के लिए प्राणोत्सर्ग की दीक्षा देने से महत् कार्य साहित्य के लिए कोई नहीं है। 'उठ कीर्ती तू जोश में आ, ज़ंजीरें तोड़ गुलामी की' और 'दरोदीवार पर हसरत से नज़र करते हैं, खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं' आदि जिन गीतों को अपने मुस्कराते हुए होठों पर लेकर हमारे स्वाधीनता-संग्राम के अमर शहीद फाँसी का झूला झूल गये हैं, उनमें कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं तो क्या है, पर क्या कोई उन्हें निम्नकोटि का साहित्य कहेगा या 'फाँसी का झूला झूल गया सरदार भगतसिंह' जैसे गीतों को, जो कृतज्ञ देशवासी अपने मृत शहीद का स्मरण करने के लिए बना लिया करते हैं, सीधे-सादे, अलङ्कारों से रहित पर प्राणों की आग से प्रोज्ज्व-

लित गीत; क्या कोई उन्हें भूल सकता है या उनके मूल्य को कम कर सकता है ? सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' या 'राखी' और अन्य कविताएँ, एक भारतीय आत्मा की माली से फूल की याचनावाली तथा अन्य कविताएँ, बालकृष्ण-शर्मा 'नवीन' की सबसे आग्नेय कविताएँ, सुमन और गिरजाकुमार और केदार, सरदार जाफ़री और कैफ़ी आज़मी की कविताएँ कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं देतीं तो और क्या करती हैं, पर क्या कोई उन्हें श्रेष्ठ साहित्य न कहने की गुस्ताख़ी करेगा? कोई अगर कहे भी तो उससे क्या इस बात में कोई अन्तर पड़ता है कि वे कविताएँ जनता के हृदय में स्थान बनाये हुए हैं ?

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाले साहित्य की उत्तमता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता, यदि उसका रचयिता जीवन और कला दोनों ही की दृष्टि से अधिकारी व्यक्ति हो। इसमें क्या सन्देह है कि यदि कोई अकर्मण्य व्यक्ति या ऐसा व्यक्ति जिसे अपनी कला पर अधिकार नहीं है, कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाला साहित्य रचेगा तो वह निम्न कोटि का ही होगा। ऐसा व्यक्ति तो जिस प्रकार का साहित्य रचेगा वही निम्नकोटि का होगा। तनिक सा ही विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि प्रश्न इस बात का नहीं है कि किसी साहित्य में कर्म की प्रेरणा प्रत्यक्ष है या परोक्ष, बल्कि यह कि उसका रच-यिता अधिकारी व्यक्ति है या नहीं। काशी में बैठकर फ़िलस्तीन के बारे में बिना कुछ जाने यदि कोई लेखक फ़िलस्तीन के सम्बन्ध में बेसिर-पैर की बातें लिखे, तो इसमें मार्क्सवादी आलोचक का क्या दोष है ? किसानों मजदूरों या मध्यमवर्ग या किसी वर्ग या समाज की जिन्दगी में गहराई से पैठे बग़ैर, उससे अच्छी तरह तादात्म्य स्थापित किये बिना यदि कोई कवि या कहानीकार उसके संबन्ध में लिखेगा तो स्वभावतः उसकी रचना फीकी और बेजान होगी, उसे साहित्य कहना ही ठीक न होगा।

अब एक शङ्का पर विचार बाकी है। वह यह है कि मार्क्सवादी आलोचक कला का कोई निरपेक्ष मानदण्ड मानते हैं या नहीं ? किसी साहित्यकार की विवे-चना करते हुए मार्क्सवादी आलोचक उसको उसकी समसामयिक सामाजिक पृष्ठ-भूमि में रखकर इस बात का पता लगाने की कोशिश करते हैं कि उसने अपने युग-द्वारा उठायी गयी मानव समस्याओं को [क] समझने का सुलझाने का यत्न किया या [ख] उनसे अंशतः या पूरी तरह विमुख रहा और अगर वे यह पाते हैं कि साहित्यकार अपने युग की मूलभूत समस्याओं से विमुख रहा है तो वे उसे निम्नकोटि का तथा समाज की दृष्टि से महत्त्वहीन मानते हैं। इसके

विपरीत यदि वे यह पाते हैं कि साहित्यकार जीवन की वास्तविकताओं से विमुख नहीं रहा है प्रत्युत उसने उन्हें सचेतन रूप में अपने साहित्य में अंगीकार किया है और उनको लोकहित की दृष्टि से सुलझाने का यत्न किया है तो वे उसे श्रेष्ठ साहित्यकार मानते हैं चाहे आज के बौद्धिक तथा अन्य सर्वतोमुख विकास की दृष्टि से उस साहित्यकार का समाधान कितना ही अनुपयुक्त या अपूर्ण क्यों न हो। यहाँ पर पुनः यह कह देना आवश्यक है कि मार्क्सवादी आलोचक जब किसी साहित्यकार से जीवन की समस्याओं का समाधान करने की बात कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह नहीं होता कि सब कहानीकार, कवि और औपन्यासिक चिन्तक हो जायँ और कहानियों आदि में भी लम्बे लम्बे चिन्तनात्मक, समाज-समीक्षात्मक प्रकरण लिखें या कलाहीन साहित्य की सृष्टि करें या राजनीतिक प्रचारक बन जायँ। रचनात्मक साहित्यकारों से जीवन की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने की बात कहने से हमारा अभिप्राय वही है जिसे विश्व के सब महान् साहित्यकारों ने अपने सामने रखा है, और जिसकी पूर्ति सबने अपने अपने ढङ्ग से की है अर्थात् जीवन की वास्तविकताओं को वास्तविकताओं के रूप में स्वीकार करना और फिर अपनी प्रतिभा, अपनी विचार-शक्ति, अपने संवेदनशीलता, अपनी कला और अभिव्यक्ति के अपने माध्यम की मर्य्यादाओं के अनुसार उनमें (युग के अनुरूप) सुधार अथवा आमूल परिवर्तन की दिशा का संकेत करना। इस कार्य्य की सफलता का पूर्ण दायित्व साहित्यकार की संवेदनशीलता पर होता है, इसीलिए जो साहित्यकार जितनी ही अधिक संवेदनीयता के साथ जीवन को अपने साहित्य में उतारता है, वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होता है और जीवन से हमारा अभिप्राय, काल्पनिक, स्वप्निल जीवन से नहीं प्रत्युत जीवन के संघर्ष से है, जीवन-संघर्ष से पदा मानसिक, वैचारिक और भावात्मक उथल-पुथल से है।

यह तो कला का युग-सापेक्ष मूल्यांकन हुआ। हमने कलाकृति को उसके युग की पृष्ठभूमि में उठाकर रख दिया और फिर यह पता लगाया कि वह कृति किस हद तक हमें अपने युग का दिग्दर्शन कराती है। प्रश्न उठता है कि मार्क्सवादी आलोचक कला के मूल्यांकन का कोई निरपेक्ष मानदण्ड मानते हैं कि नहीं? कोई ऐसा मानदण्ड जो वर्ग अथवा युग की अपेक्षा न रखता हो बल्कि कला का मूल्य आँकने का स्वतः संपूर्ण मानदण्ड हो, जो मानदण्ड कला को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर उसपर विचार करनेवाले मानदण्डों के भी ऊपर हो और उनपर लागू किया जा सके? नहीं, ऐसी कोई चीज़ संभव नहीं है। मार्क्सवादी आलोचक मानता है कि कलाकार अपने समक्ष कला का जो मानदण्ड रखता है

वह उसके वर्ग और युग की परिस्थितियों से निर्दिष्ट होने के कारण उनसे स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं हो सकता, सापेक्ष होता है।

लेनिन कहता है :

'आधुनिक भौतिकवाद अर्थात् मार्क्सवाद के दृष्टिबिन्दु से यह बात तो ऐतिहासिक परिस्थितियों पर अवश्य निर्भर होती है कि सत्य के अनुसंधान में किस सीमा तक, कितने अंशों में हमने पूर्ण सत्य को पाया, अर्थात् पूर्ण सत्य के हमारे ज्ञान की सीमाएँ तो परिस्थिति-सापेक्ष हैं किन्तु स्वयं पूर्ण सत्य का अस्तित्व सर्वथा स्वतंत्र और निरपेक्ष है, और जिस प्रकार पूर्णसत्य का अस्तित्व स्वतंत्र और निरपेक्ष है उसी तरह यह बात भी कि हम दिनोंदिन उसके पास पहुँचते जा रहे हैं। चित्र की रूपरेखा तो परिस्थिति-सापेक्ष है लेकिन यह बात एक निरपेक्ष सत्य है कि यह चित्र एक ऐसी वस्तु का है जो जगत् में पायी जाती है, जिसकी अपनी निरपेक्ष सत्ता है। वस्तुओं की वर्तमान प्रकृति के अपने ज्ञान के अनुसार कब और किन परिस्थितियों में हमें तारकोल में ऐलिजारिन की या परमाणु में विद्युत्कण (Electron) की स्थिति का पता लगा, यह बात तो परिस्थिति-सापेक्ष है। अर्थात् उसको जानने के लिए परिस्थितियों का अध्ययन अपेक्षित है। लेकिन यह बात कि ऐसा प्रत्येक अनुसंधान सत्य ज्ञान का एक चरण है, एक निरपेक्ष सत्य है। संक्षेप में प्रत्येक विचारधारा परिस्थिति-सापेक्ष है लेकिन यह बात निरपेक्ष भाव से सच है कि प्रत्येक वैज्ञानिक विचारधारा किसी वस्तुगत सत्य का, प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का ही प्रतिबिम्ब होती है * लेनिन आगे चलकर अपनी बात को और भी स्पष्ट करता है :

मानव की विचारशक्ति प्रकृत्या पूर्ण सत्य की उद्भावना करने की क्षमता रखती है और करती भी है। यह पूर्ण सत्य सभी सापेक्ष सत्यों से, खंड-सत्यों से मिलकर बनता है। विज्ञान के विकास में प्रत्येक चरण पूर्ण सत्य की ओर बढ़नेवाला एक चरण होता है। किन्तु प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त में निहित सत्य ज्ञान की सीमाएँ सापेक्ष होती हैं और ये सीमाएँ ज्ञान के विकास के अनुसार फैलती और सिकुड़ती रहती हैं। †

इस प्रकार मार्क्सवाद-लेनिनवाद साहित्य के किसी शाश्वत मानदण्ड को, जो युग और समाज से अलग या उनसे ऊपर हो मूलतः भ्रामक मानता है।

---

* Lenin : Materialism and Empirio-Criticism, ph. 134-35.

† Lenin : Ibid, ph. 133-34

इसका प्रमाण यह है कि किसी कलाकृति की अपील हर युग और देश में वही नहीं रहती, उसमें निरन्तर परिवर्तन होता चलता है। वर्तमान युग पिछले युग की मान्यताओं को, उसके साहित्य को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार करता। वह केवल उन तत्वों को लेता है जो आज भी समाज को आगे बढ़ाते हैं या जिन्हें आज भी लोग निरापद रूप से स्वीकार कर सकते हैं, जिनमें आज भी कुछ नवीनता है। भविष्य भी आज के युग की केवल वे ही बातें लेगा जो उसे स्फूर्ति दे सकेंगी और वे बातें जो बासी पड़ जाती हैं या मरणशील होती हैं उन्हें प्रगतिशील मानवता निःसंकोच मर जाने देती है; उन्हें तो केवल रक्षणशील, प्रतिक्रियावादी लोग ही बार बार जिलाने का प्रयास करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि कला के किसी सार्वकालिक अथवा सार्वदेशिक, शाश्वत मानदण्ड की बात आपाततः गलत है।

जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में अलग अलग अनुसंधानों द्वारा उपलब्ध खंड-सत्य मिलकर पूर्ण सत्य की ओर बढ़ते हैं, उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी होता है। जिस प्रकार विज्ञान का ज्ञानकोष अलग अलग खोजों का समुच्चय होता है, जिस प्रकार उसकी अलग अलग खोजें मिलकर विश्व का एक सम्यक्, सर्वांग-पूर्ण चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करती हैं उसी प्रकार प्रत्येक साहित्यिक कृति भी। ज्ञान के प्रसार के साथ साथ, नयी खोजों के साथ साथ पुरानी खोजें महत्त्वहीन पड़ जाती हैं, ग़लत सिद्ध हो जाती हैं, पुरानी खोजों की नये ज्ञान के आलोक में नयी व्याख्याएँ होने लग जाती हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान में नया अनुसंधान पुराने अनु-सन्धान के सत्य के अंश को लेकर और उसे सतत विकसित होनेवाले ज्ञानकोष में सम्मिलित करके, पुराने अनुसंधान को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाता है। कला के क्षेत्र में भी ठीक ऐसा ही होता है। जिस तरह हर वैज्ञानिक अनुसंधान प्रकृति के संबंध में खंड-सत्य की स्थापना करता है उसी तरह तरह कलाकृति मानवसमाज के खंड-सत्य की। दोनों ही वस्तुगत सत्य के निरीक्षण-परीक्षण के आधार पर आगे बढ़कर ही अपना उद्देश्य पूरा कर सकते हैं। जिस प्रकार विज्ञान प्रकृति से संघर्ष करते हुए, उसे अपने वश में करने का प्रयत्न करते हुए अपने अनुसंधान के मार्ग पर बढ़ता है और अपने ज्ञानकोष की अभिवृद्धि करता है, उसी प्रकार सच्चा साहित्य भी मानव-समाज तथा पदार्थजगत् के नियमों को, वास्तविकताओं को जानकर-समझकर, उन्हीं वास्तविकताओं से संघर्ष करके ही मनुष्यसमाज को उन्नततर जीवन की ओर अग्रसर कर सकता है। मानव की अग्रगति का स्रोत जीवन के संघर्ष में है।

यह जीवन का संघर्ष एक वास्तविक संघर्ष है, इसीलिए जीवन की मूलभूत समस्याओं का निर्भीकतापूर्वक सामना करने के अलावा मानव-कल्याण की अन्य कोई राह नहीं है। प्रकृति के क्षेत्र में विज्ञान के अनुसन्धान यह कार्य्य करते हैं और प्रकृति की शक्तियों पर अपनी विजय-पताका फहराने तथा उसे अपने अनुकूल बनाने का उपक्रम करते हैं। मानव-समाज के क्षेत्र में यही दायित्व साहित्य और कला का होता है। साहित्यकार समाज का सब से जागरूक, संवेदनशील प्राणी होता है, इसलिए मानव-जीवन के उन्नयन का दायित्व उसी पर होना स्वाभाविक है। अपने इस दायित्व को पूरा करने के लिए ही उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने साहित्य में जीवन के यथार्थों को, समाज के वस्तुगत सत्य को स्वीकार करे और उससे संघर्ष करते हुए समाज को पहले से अधिक ऊँचे स्तर पर ले जाय। यदि आप विश्व भर के मानव की चिन्ताधारा पर सम्यक् रूप से दृष्टि डालेंगे तो आपको ज्ञात हो जायगा कि अबतक हुआ भी यही है। कहना न होगा कि प्रकृति के वस्तुगत सत्यों की उपेक्षा करके विज्ञान जिस प्रकार एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार समाज-व्यवस्था के वस्तुगत सत्यों की उपेक्षा करके साहित्य भी अधिक आगे नहीं बढ़ सकता, कम से कम वह साहित्य जो मानव जीवन के उन्नयन का व्रती हो। प्राचीन रूसी आलोचक चेरनिशेव्स्की कहता है कि कला का उद्देश्य उन सभी वस्तुओं तथा व्यापारों की अभिव्यक्ति है जिनमें लोग रुचि रखते हों और जिनका सम्बन्ध मानवमात्र के हित से हो। इसका सीधा अर्थ यह है कि जिस अनुपात में जीवन की वास्तविक सच्ची अभिव्यक्ति किसी साहित्य में आयेगी, उसी अनुपात में वह साहित्य मानवमात्र के हित-सम्बंधी अपने उद्देश्य की पूर्त्ति कर सकेगा। परिस्थिति को बिना ठीक से जाने उसे सुधारा अथवा बदला नहीं जा सकता। समाज की समस्याओं को बिना ठीक से समझे और प्रस्तुत किये उनमें सुधार अथवा परिवर्त्तन नहीं लाया जा सकता। इसलिए कोई भी साहित्यकार जो मनुष्य की हितकामना सच्चे हृदय से करता है, अपने समाज की परिस्थितियों को ठीक ढंग से अपने साहित्य में चित्रित किये बिना नहीं रह सकता। चित्रण की शैलियों में भेद हो सकता है। पर इतना अवश्य है कि जो साहित्यकार जितनी ही अधिक सचाई तथा स्पष्टता से और अपनी दृष्टि की व्यापकता तथा मानव अनुभूतियों की गहरी परख का परिचय देते हुए चित्रण करेगा, वह उतना ही दीर्घस्थायी साहित्य रच सकेगा।

साहित्यकार को अकसर यह समस्या परीशान करती है कि उसका साहित्य उसके युग के बाद भी जिन्दा रहे। यह इच्छा नैसर्गिक है; लेकिन यदि कोई

साहित्यकार यह सोचता है कि वह अपने युग और समाज से दूर हट कर, उनसे निर्लिप्त होकर किन्हीं निराकार 'शाश्वत अमर सत्यों' की आराधना द्वारा दीर्घ स्थायी साहित्य की सृष्टि कर सकेगा तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है, इतनी बड़ी भूल जिसका दण्ड यही होता है कि युग युग द्वारा स्वीकृत और पूजित होने की तो बात ही अलग है स्वयं अपने युग में उसे आदर नहीं मिलता। यह जोर देकर कहने की जरूरत है कि दीर्घस्थायी, अमर साहित्य की रचना की कुंजी युग की ओर से उदासीन होने में नहीं, पूरी तरह से युग का हो जाने में है। जो साहित्य संपूर्ण रूप से युग का होता है, वही युग युग का हो सकता है। युग की समस्याओं से, युग के जीवन से विमुख होना सर्जनात्मक उत्साह का नहीं कुंठा का मार्ग है, जीवन का नहीं मृत्यु का मार्ग है, साहित्यिक अमरता का नहीं अप-मृत्यु का मार्ग है। महान् साहित्य की सृष्टि उस रास्ते पर चल कर नहीं हुई है। जिन महान् साहित्यकारों की कृतियाँ युगों की सीमा पार करके हमारे पास पहुँची हैं और आज भी हमारी भावनाओं को आन्दोलित और हमारे साहित्य-प्रेमी मन को आप्यायित करती हैं, वे अपने समसामयिक जीवन और समाज में पूरी तरह रमे हुए लोग थे। यह बात हमको इतिहास बतलाता है और उनके साहित्य का विश्लेषण करने पर जो मूल तत्व हमारे हाथ लगते हैं उनसे भी हमारे मत को बल मिलता है। वे तत्व जो सामान्य रूप से सभी मानववादी साहित्य में मिलते हैं, क्या हैं—

जीवन के (जिसमें प्रकृति भी शामिल है) असंख्य व्यापारों के प्रति स्वस्थ, आशावादी, पौरुषशील, सक्रिय, इतिमूलक (नेतिमूलक नहीं) दृष्टिकोण ; जीवन के स्वीकरण का, उसको अंगीकार करने का भाव; जीवन में आनंद।

मानव की रचनात्मक शक्ति में और उसी के आधार पर उसकी उन्नति और उसके भविष्य में अडिग विश्वास।

मनुष्य के प्रति प्रेम।

मनुष्य के सौंदर्यबोध को जगाने की शक्ति।

तत्कालीन समाज के अन्याय और उत्पीड़न का विरोध।

अनुभूति की गहराई और अभिव्यक्ति की मार्मिकता की बात हमने नहीं उठायी क्योंकि वे तो साहित्य के मूल गुण हैं, जिनके कारण ही साहित्य साहित्य कहलाने का अधिकारी होता है। हमने तो यहाँ श्रेष्ठ मानववादी साहित्य के केवल वे गुण आपके सामने रक्खे जिनके विश्लेषण से यह पता चलता है कि ये गुण

ऐसे साहित्य में पाये ही नहीं जा सकते जो जीवन और समाज के प्रति उदासीन हो। उस साहित्य के ये सामान्य गुण अपने आप में इस बात के प्रमाण हैं कि उनके रचयिता अपने युग और समाज से कितनी अच्छी तरह गुम्फित थे।

मानववादी साहित्यकारों की यही बात आज के सचेत प्रगतिशील लेखक के लिए अनुकरणीय है। और कोई चाहे तो इसे ही प्रगतिशील साहित्यसृष्टि के एक 'शाश्वत' सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और इसी के आधार पर साहित्य के मूल्यांकन का एक निरपेक्ष मानदण्ड भी हमें मिलता है : आलोच्य साहित्य में युग और समाज का स्वर बोल रहा है या नहीं, उसमें देश और काल की आशा-आकांक्षा, हर्ष और विषाद के चित्र मिलते हैं या नहीं, वह समाज को आगे ले जाता है या नहीं, हर दृष्टि से आगे, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक ?

जैसा कि अब तक स्पष्ट हो गया होगा, साहित्यिक मूल्यांकन का यह मानदण्ड जहाँ इस अर्थ में निरपेक्ष है कि उसे सभी देशों और युगों के साहित्य पर लागू किया जा सकता है वहाँ वह किन्हीं वायवी या आध्यात्मिक तत्वों (जैसे निराकार सत्य शिव सुंदर) की आराधना करनेवाला युग-विच्छिन्न मानदण्ड नहीं, युग और समाज को स्वीकार करनेवाला युग-सापेक्ष मानदण्ड भी है। इसी दृष्टि से देखने पर आज का क्रांतिकारी, प्रोलितारियन मानववाद पूर्ववती मानववाद की एक नैसर्गिक अपितु क्रांतिकारी परिणति हो जाता है, नैसगिक इस अर्थ में कि उसके हृदय-प्रदेश में भी मनुष्य के प्रति प्रेम और जीवन के स्वीकरण का भाव है, और क्रांतिकारी इस अर्थ में कि उसमें कुछ ऐसे नये तत्वों का उद्रेक भी हुआ है जो पहले के मानववाद में नहीं मिलते। जैसे, आज, तीव्रतम वर्ग-संघर्ष, महायुद्धों और जनक्रांतियों के इस युग में शोषित वर्ग के मानववाद में संघर्ष का स्वर प्रधान है, और संघर्ष के उपकरण के रूप में वर्गशत्रु के प्रति आत्यंतिक घृणा इस मानववाद का एक जरूरी अंग है। गंभीरता से विचार करने पर यह बात साफ हो जाती है कि इस क्रान्तिकारी घृणा के मूल में मनुष्य के प्रति गहरा प्रेम ही है—मनुष्य से गहरा प्रेम, इसीलिए उसका शोषण करनेवाले, उसे पीड़ा पहुँचानेवाले मुट्ठी भर नर-पिशाचों से हिंस्र घृणा। यही चीज़ प्रोलितारियन मानववाद का संबंध पूर्ववर्ती मानववाद से जोड़ती है, लेकिन थोड़े अन्तर के साथ, वह अन्तर जो परिस्थिति में, युग में निहित है।

अमर शाश्वत साहित्य के पीछे सिर खपानेवाले मित्रों को यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार बीता हुआ समय नहीं लौटाया जा सकता, उसी प्रकार

पुराने साहित्य की आज कोई नये सिरे से सृष्टि नहीं कर सकता। जीवन से विच्छिन्न होकर अमर साहित्यिक कृतियों का अवलोकन मात्र करते रहने से लक्षण-साहित्य की रचना तो हो सकती है, साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। साहित्य की सृष्टि के मूल में तो आज भी वही बात है जो आदि काव्य की सृष्टि के मूल में थी। 'श्रेष्ठ साहित्य एक युग का नहीं युग युग का होता है' इस मंत्र के जाप से प्रगतिवाद के भूत को भगाने का प्रयत्न करनेवाले लोगों के लिए यह ज्यादा अच्छा होगा कि वे यह पता लगावें कि यह गुण उस साहित्य में कहां से आया। तब उन्हें पता चलेगा कि जो साहित्य आज 'युग युग के' साहित्य के रूप म वन्दित है, वह सबसे पहले अपने युग का था, अपने युग और समाज में पूरी तरह डूबा हुआ।

हंस : १९४५]

★

समाजवादी यथार्थवाद

मानव के सामाजिक विकास की मुख्य सीढ़ियाँ हैं: आदिम साम्यवाद, दास-प्रथा, सामंतवाद, पूँजीवाद, समाजवाद। यह युग-विभाजन कुछ निश्चित सामाजिक सम्बन्धों, निश्चित सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर, सामाजिक सम्बन्धों में जो गुणात्मक परिवर्तन होते आये हैं उन्हीं की ओर संकेत करता है। इन सामाजिक सम्बन्धों पर ही सारा दर्शन, सारी नैतिकता, समस्त आचार-विचार, सारी सभ्यता-संस्कृति आश्रित होती है। सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन के साधनों, कलों-कारखानों आदि के विकास पर आश्रित होते हैं। यह इसलिए कि उत्पादन की क्रिया में योग देनेवाले सारे व्यक्ति पारस्परिक सम्बन्ध की एक शृंखला में बँध जाते हैं।

इस पहलू से देखने पर मानव विकास में एक तारतम्य दिखायी पड़ता है। जब मानव की सतत अन्वेषणशील प्रकृति, उत्पादन के साधनों को इतना विकसित कर चुकती है कि पहले से चले आते हुए उत्पादक सम्बन्ध यानी सामाजिक सम्बन्ध पुराने पड़ जाने के कारण उनका पथावरोध करने लगते हैं, और पुराने ढाँचे में रह कर और विकास असंभव हो जाता है, तो परिणामवश एक संकट उपस्थित होता है, सामाजिक व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन होता है और समाज अपनी पुरानी व्यवस्था को लाँघकर एक नयी व्यवस्था में जा पहुँचता है और वह इसलिए कि यह नयी सामाजिक व्यवस्था उत्पादन के साधनों को और आगे विकसित करने में समर्थ होती है। उत्पादन के साधनों और उत्पादक सम्बन्धों के इसी द्वंद्वात्मक संघर्ष से सामाजिक विकास होता है। जिस तरह से उत्पादन के साधनों के एक निश्चित धरातल तक पहुँचने पर यह ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य्य हो गया कि

आदिम साम्यवाद की जगह दासप्रथा ले, दासप्रथा की जगह सामन्तशाही ले सामन्तशाही की जगह पूँजीवाद ले, उसी तरह चूँकि पूँजीवाद अब उत्पादन के साधनों को और आगे विकसित नहीं कर सकता; चूँकि उसमें अब विकास के बीज अवशिष्ट नहीं हैं; चूँकि उत्पादन के सामाजिक हो जाने पर भी कल-कारखानों आदि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण उत्पादन के क्षेत्र में अभूतपूर्व अराजकता का साम्राज्य है, (उदाहरण के लिए उत्पादन के साधनों में वैज्ञानिक उन्नति का फायदा न उठाकर एक से एक महत्वपूर्ण पेटेन्टों को आग की नजर करना, ऐसे पेटेन्ट जिन्हें काम में लेकर इतने थोड़े वक्त में इतनी बेशुमार चीजें पैदा की जा सकती हैं कि समूचे देश की जिन्दगी का स्टैंडर्ड पहले से कई गुना ऊँचा हो सके और जनता को अपने सांस्कृतिक विकास के लिए ज्यादा से ज्यादा अवकाश मिल सके); चूँकि स्वयं पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली ने अपनी कब्र खोदने वाला सङ्गठित वर्गचेतन औद्योगिक सर्वहारावर्ग पैदा कर दिया है; और चूँकि उपर्युक्त कारणों से अब वह एक स्थायी सङ्कट से गुजर रहा है, इसीलिए पूँजीवाद के विनाश और समाजवाद की जीत ने एक ऐतिहासिक अनिवार्यता का रूप ले लिया है। पूँजीवाद की असंगतियाँ अब इतनी प्रबल हो चुकी हैं कि उसके बचाव का रास्ता अब नहीं है और अपने को कायम रखने के लिए उसे फासिस्ट ढंग की साम्राज्यवादी हुकूमत का सहारा लेना पड़ता है। जहाँ एक ओर पूँजीवाद अब एक प्रायः स्थायी संकट से गुजर रहा है और पचीस वर्ष के भीतर शान्तिप्रिय जनता पर दो साम्राज्यवादी युद्धों का रक्तपात लाद चुका है वहाँ दूसरी ओर समाजवादी सोवियत संघ में आर्थिक संकट नहीं है, वहाँ भूख और बेकारी नहीं है। जब सारा पूँजीवादी संसार सन् १९२९ के आर्थिक संकट से त्राहि त्राहि कर रहा था उस समय भी सोवियत संघ की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक पुनर्रचना विकास के पथ पर अपने लम्बे और दृढ़ डग उठाती चली जा रही थी; सोवियत संघ की पंचवर्षीय योजना समय से काफी पहले पूरी हो रही थी।

इतिहास का इशारा बहुत साफ है। वर्ग-साहचर्य की थोथी बातों को ठुकरा कर, निर्मम वर्ग-संघर्ष की स्थिति को स्वीकार कर, मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धान्त पर अधिकार प्राप्त कर, अपने संगठन की दृढ़ता से विश्व की किसान-मजदूर जनता आज जनक्रान्ति, समाजवाद, खुशहाली और सांस्कृतिक उन्नति की ओर बढ़ रही है। आज इसी जनक्रान्ति का रूप सोवियत संघ की अगुआई में लड़ी गयी जनता की फासिस्ट-विरोधी लड़ाई है।

दासप्रथा, सामंतशाही, पूँजीवाद, विश्व-साम्राज्यवाद की शकलें बदल-बदल

कर युग-युगान्तर से चले आते हुए शोषण और अत्याचार को देखकर कोई भी ईमानदार आदमी थोड़ी देर के लिए निराश और हतोत्साह हो सकता है। वह देखता है कि 'अनादि' काल से मानव-समाज में दो वर्ग रहे हैं, भेड़िये और भेड़। वह देखता है भूख, बेकारी, व्यभिचार, अशिक्षा निरन्तर बाढ़ पर हैं। वह देखता है कि जन समाज कुत्ते की तरह जीता है और उससे गयी बीती हालत में मरता है। उसके कलेजे पर एक छुरी सी लगती है जो तैरती चली जाती है, चली जाती है न जाने किस छोर तक। और बस घना अँधेरा, भयानक निःशब्द वातावरण, तारीकी, पंथ नहीं सूझता। लगता है कि यह सब ऐसा ही रहा है और ऐसा ही रहेगा, करिश्मे हैं ये एक अचल, अटल नियति के।

पर भविष्य वास्तव में इतना अँधेरा नहीं है। इतिहास की गत्यात्मक शक्तियों को पढ़ सकने के कारण, उनकी दिशा और गति को वैज्ञानिक ढंग से जान सकने के कारण समाजवाद की अनिवार्य जीत में ध्रुव विश्वास समाजवादी यथार्थवाद का मुख्य परिचय है। वह जानता है कि सर्वहारावर्ग की जीत निश्चित है। भविष्य उसका है। पूँजीवाद की मृत्यु आसन्न है। जनता प्राचीरों (Barricades) के पीछे अडिग होकर खड़ी हो जाय बस इस की देर है। ऐतिहासिक शक्तियाँ क्रान्तिकारी सर्वहारावर्ग के साथ हैं, विश्व की मुक्तिकामी जनता के साथ हैं जो आज हिटलरी साम्राज्यवाद, विश्वसाम्राज्यवाद को खत्म करने के लिए कृतनिश्चय है; सोवियत के किसान-मजदूर राज के साथ हैं जिसकी अगुआई में दुनिया आज सैकड़ों सदियों के अन्धकार के बाद रोशनी की ओर, सैकड़ों सदियों की भूख, बेकारी, विपन्नता, नोच-खसोट, लूट-मार, रक्तपात के बाद शान्ति और समृद्धि की ओर बढ़ रही है; मुक्ति, शान्ति, प्रगति के उन हरावलदस्तों के साथ हैं जो कल स्तालिनग्राद में अपने रक्त से अपार शौर्य की गाथाएँ लिख रहे थे और आज आगे बढ़कर सोवियत भूमि पर से और खूबसूरत दुनिया पर से हिटलरी और इटालियन ताऊन का और साथ ही परोक्षतः ब्रिटिश अमरीकी जापानी साम्राज्यवादी ताऊन का, साम्राज्यवादी व्यवस्था का ही नाम व निशान मिटा रहे हैं।

आज अगर हिन्दुस्तान का यथार्थवादी चित्र देने वाला कोई एपिक उपन्यास या महाकाव्य लिखा जाय तो वह निश्चय ही एक विदेशी और इसीलिए गैर-जिम्मेवार और निकम्मी सरकार की अन्धी नीतियों से पैदा होनेवाली भूख की भीषण बाढ़, हर चीज की कमी, अमानुषिक बर्बरता का इतिहास लिखने वाले दमन और सामूहिक जुर्मानों, देश के सबसे त्यागी और वीर सिपाहियों और सेना-

पतियों के कारावास, आसन्न जापानी आक्रमण के समय विदेशी नौकरशाही और उसकी नीतियों पर पनपनेवाली पंचमवाहिनी के कारण देश की व्यापक अराजकता और नित्यप्रति क्षीण होनेवाली प्रतिरोध शक्तिका इतिहास होगा। उस पर निराशा की काली छाया पड़ जाना भी स्वाभाविक है। वह अँधेरे की तस्वीर भी हो सकती है। हिन्दुस्तान आज अँधेरे में है और उस यथार्थवादी उपन्यास को यह स्वीकार करने में जरा-सी हिचक न होगी। लेकिन वह एपिक उपन्यास या महाकाव्य सचमुच यथार्थवादी न होगा अगर वह जन-एकता की उन क्रान्तिकारी शक्तियों का हवाला नहीं देता जो आज बन रही हैं, जिनका भविष्य है, ब्रिटिश साम्राज्यशाही जिनके सामने धूल चाटेगी। यह एक आशा की तस्वीर होगी। इसमें विहान की लाली होगी। इसमें सूरज की किरण फूटती दीखेगी। इसमें हमारा भविष्य झलकेगा। कोई कहेगा यह रोमांस है यथार्थ नहीं। पर रोमांस भी दो तरह के होते हैं, निष्क्रिय और सक्रिय। पहला तो वह जो यथार्थ से भागता है, मुँह चुराता है और अलग अपना हवाई देश बसाता है जहाँ उसके सेमल रूई के बने रङ्ग-बिरंगे इन्द्रधनुषी सतरंगे सपने पलाशवन की तरह गहगहाकर फूलते हैं और ढँक लेते हैं कोढ़ और उपदंश के उन सड़ते हुए जख्मों को जिन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था की हर चीज को एक घिनावना चितकबरापन दे दिया है; बन्द कर देते हैं कानों को और फिर पुरानी दुनिया की कराहें और नयी दुनिया की फुफकारें दोनों ही नहीं सुन पड़तीं। गोर्की के शब्दों में दूसरा है सक्रिय रोमांस जो इसी नाते रोमांस है कि यथार्थ उसकी पोर-पोर में रग-रग में तिलमिला रहा है। यथार्थ के गरल को पीकर जनक्रान्ति और सर्वहारा वर्ग की जीत में आस्था बनाये रखना समाजवादी यथार्थवाद का मुख्य गुण है। इस आस्था का आधार है इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन। इतिहास के पन्ने पलटने से सर्वहारा वर्ग की जीत का दृढ़ विश्वास मिलता है, पर इतिहास मात्र इशारा करता है, गढ़ती है जनता। इसी में यथार्थवादी साहित्य की उपयोगिता है। वह सच्चा यथार्थवाद न होगा जो सिर्फ अँधेरा और मायूसी देखता है, जिसकी नज़रें सिर्फ़ ज़िंदगी के कोढ़ पर पड़ती हैं। सच्चा यथार्थवाद अनिवार्यतः समाजवादी होता है। 'समाजवादी' शब्द का प्रयोग संभवतः यथार्थवाद का प्रकृतवाद (नैचुरलिज्म) से अन्तर बताने के लिए किया जाता है। प्रकृतवाद जीवन को जैसा देखता है वैसा ही उसे चित्रित करता है। उसमें ईमानदारी की कमी नहीं होती, पर चूँकि उसके पास कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है इसलिए वह घटनाओं की विवेचना करने में असमर्थ होता है, किसी काल विशेष में कौन

शक्तियाँ काम कर रही हैं और फलस्वरूप किस ओर घटनाओं का बहाव होना जरूरी है यह वह नहीं बता पाता। नहीं बता पाता इसलिए वह समाज-रचना में कोई योग नहीं दे सकता। वह सिर्फ सतह पर की चीजों को देखता है, सतह के नीचे काम करने वाली क्रान्तिकारी शक्तियों को नहीं देखता और चूँकि सतह पर शोषक और शोषित में बँटे हुए समाज की मुर्दनी और अँधेरा ही दीखता है इस लिए प्रकृतवाद की दी हुई तस्वीर जहाँ एक ओर यथार्थ की सच्ची ईमानदार तस्वीर होती है वहाँ दूसरी ओर मुर्दनी और अँधेरे की घुटन भी उसमें होती है। रोमांसवाद की तरह वह समाज को भुलावा देकर पीछे नहीं ले जाती पर स्वयं समाज को आगे भी नहीं बढ़ा पाती। उसका क्रान्तिकारी महत्त्व इस बात में होता है कि वह रूढ़ियों को तोड़कर समाज को जैसा देखता है, निर्भीक होकर उसे वैसा चित्रित करता है। इस मतलब में वह समाज का दर्पण होता है। उसमें समाज अपना नंगा रूप देखता है और संभवतः क्षुब्ध भी होता है, पर जान नहीं पाता कि उसको कुरूप करनेवाला कौन है, कोढ़ और उपदंश के चकत्ते उसे किसने दिये हैं, उसके शरीर पर आज किसकी शृङ्खलाएँ हैं। साथ ही वह यह भी नहीं जान पाता कि उसका रूप फिर बदल सकता है, कोढ़ और उपदंश के उसके चकत्ते दूर हो सकते हैं, उसकी शृङ्खलाएँ टूट सकती हैं। उसके लिए यह जान पाना तो जैसे दूर की बात होती है कि वह स्वयं अपना रूप बदलने वाला, कोढ़ और उपदंश के चकत्ते दूर करनेवाला और अपनी शृङ्खलाएँ तोड़नेवाला वीर है। उसे खुद अपने दुश्मनों को पहचान कर उनका सफाया करना है, इसका सन्देश उसे नहीं मिलता। आरंभिक दिनों में प्रकृतवाद की यह कमजोरी थी और आज की क्रान्तिकारी परिस्थिति में यही उसका प्रतिगामी तत्त्व है।

पर हमें प्रकृतवादी कृतियों के महत्त्व को भी न भूलना चाहिए। वे एक विशेष ऐतिहासिक विकास की उपज हैं और उसकी छाप उनके ऊपर है। हमें उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को समझना चाहिए जिनमें कि प्रकृतवाद का जन्म हुआ था। फ्रांस की गणतांत्रिक क्रांति ने समाज के विरोध में व्यक्ति की झूठी स्वतन्त्रता को घोषित किया था। जिस तरह नये पूँजीपति वर्ग ने सामन्तशाही से चले आते हुए कम्मियों (serfs) को 'मुक्त' करके उन्हें मजूरी दास की और भी गई-बीती हालत का शिकार बनाया, उसी तरह लेखकों को भी सामन्तशाही संरक्षण से मुक्त करके उन्हें अपना संसार बसाने का हक दिया। लेखकों ने अपने इस नवार्जित अधिकार को प्रमाणित करने के लिए जीवन की वास्तविकताओं से अपने रहे सहे सम्बन्ध भी तोड़ लिये और अलग अपने सपनों का नीड़ बसा

लिया। लेखक ने समाज से अलग अपनी सत्ता घोषित की और अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को ही कला का चरम लक्ष्य बनाया। सामाजिक यथार्थों की उपेक्षा की गयी। रोमांस के गीत गाये जाने लगे। ऐसे समय में जब अधिकांश लेखक कल्पना-लोक में विहार कर रहे थे, मोपासाँ, फ्लाबेयर, ज़ोला आदि प्रकृतवादियों का उद्भव फ्रांस में हुआ। इन लेखकों ने बूर्ज्वा मानदंडों की धज्जियाँ उड़ाईं, हर चीज के पर्दे उघाड़े, राजनीति, दर्शन, समाज-विज्ञान सभी क्षेत्रों में बूर्ज्वा वर्ग के ढोल की पोल खोली। उन्होंने जनता को अफीम देकर सुलाने से इन्कार किया और समाज की वास्तविक स्थिति को लोगों के सामने रखा और चौमुख अत्याचार के प्रति जिज्ञासा का भाव पैदा किया, और इस तरह पैरिस कम्यून के फ्रांस के प्रति, सामाजिक जनक्रान्ति के प्रति उन्होंने अपना उत्तरदायित्व चुकाया।

अठारवीं और उन्नींसवीं सदी में भविष्य में काफी दूर तक न देख सकना एक कमजोरी थी क्योंकि तब भी क्रांति की शक्तियाँ काफी सबल थीं और प्रकृतवादी लेखकों को धरती से अपना सम्बन्ध स्थापित करने के कारण उनको पहचानना और उनमें योग देना चाहिए था। पर आज जब कि क्रान्ति की शक्तियाँ उस समय से अनगिनत बार बढ़ी-चढ़ी हैं,* दुनिया के छठे हिस्से पर किसानों मजदूरों का पंचायती राज है, तो ऐसे समय मात्र अँधेरे और निराशा की तस्वीर देना, भविष्य की ओर संकेत न कर सकना जुर्म है।

हर व्यक्ति जानता है कि मॉस्को और स्तालिनग्राद बड़ी अँधेरी घड़ियों से गुजरे हैं। सोवियत संघ के कितने ही प्रेमियों को बार बार लगा है कि मध्ययुगीन बर्बरता उसे डस लेगी। पर उन अँधेरी से अँधेरी घड़ियों में भी अगर कोई यथार्थवादी लेखक उपन्यास लिखने बैठता तो वह जीत की तस्वीर देता, हार की नहीं। और वह इसलिए कि बढ़ते हुए अन्धकार के पीछे काम करनेवाली शक्तियों में जीवन का बीज न था; अपनी सारी भीषण फौजी तैयारी के बावजूद वह एक ध्वंसशील पूँजीवाद का अभियान था। उसकी आर्थिक सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था टूटने की ओर उन्मुख है। उसको रोकने के लिए खड़े थे एक नये किस्म के आदमी जिन्हें क्रान्ति ने पैदा किया है, अपने अधिकारों पर डटे हुए, सारे आततायियों, डाकुओं को खत्म करने की शपथ लिये हुए; जिसने उन्हें नया

* इस लेख की रचना के बाद के इन छः वर्षों में तो ये शक्तियाँ और भी कई गुना बढ़ गयी हैं। उदाहरण के लिए पूर्वी योरप की जनवादी सरकारें, चीन की जनवादी सरकार आदि।

जीवन, नये अधिकार दिये उस क्रान्ति की रक्षा के लिए शपथ लिये हुए। मॉस्को और स्तालिनग्राद की रक्षा करनेवाला हर व्यक्ति अपनी जमीन की रक्षा कर रहा था ; अपनी जमीन पर फिर से मध्ययुगीन बर्बरता का पैर न जमने देने के लिए लड़ रहा था। अगर मॉस्को और स्तालिनग्राद चले भी जाते तो भी उनके पतन का इतिहास लिखनेवाला कोई यथार्थवादी औपन्यासिक सिर्फ उनके पतन की कहानी न कहता, वह उनके फिर उठ खड़े होने की कहानी भी कहता। ईसाइयों की रिज़रेक्शन वाली किंवदन्ती में इतना ही सच है। पेरिस के पतन की कहानी सोवियत् जनता के प्रिय औपन्यासिक इलिया एरेनबुर्ग ने लिखी है। उसने लिखा है कि फ्रांस को लवाल और हिटलर, फ्रांसीसी और जर्मन इजारादार पूँजीपतियों ने सलीब पर टाँग दिया है। पर क्रांति में अपने अदम्य विश्वास के कारण वह जानता है कि फ्रांस हमेशा यों ही नहीं रह सकता, वह मुक्त होगा और हजार बार होगा। उन पर सतही तौर पर लवाल और हिटलर की क्रांतिविरोधी शक्तियाँ, गेस्टापो और लौहबूट काम कर रहे हों। लेकिन सतह के नीचे जो क्रांतिकारी शक्तियाँ काम कर रही हैं जिनके पीछे पैरिस कम्यून की परम्परा है, शक्तियाँ जो कि फ्रांस को मुक्त करेंगी, उसे मुक्त करने के लिए हर पल लड़ रही हैं, उन्हें भी वह देखता है। भविष्य क्रांति का यानी आजाद फ्रांस का है, यह वह जानता है इसलिए हतोत्साह होने का कोई कारण नहीं देखता। स्टाइनबेक ने भी नात्सी-अधिकृत योरप को अपने एक उपन्यास की विषय-वस्तु बनाया है। उसमें भी एरेनबुर्ग का-सा विश्वास है। जहाँ क्रान्ति के लिए तत्पर जनता है वहाँ जीत है। क्रान्ति टिकाऊ और अजेय होती है, गुलामी नहीं। गुलामी तब तक है जब तक जनता ने अपने हकों को नहीं समझा है। इसलिए सोवियत् रूस अजेय है। अधिकृत योरप की जनता, फ्रांस की जनता अजेय है। इसलिए साम्राज्यवाद अवश्य हार होगा और फासिज्म हार होगा, भारत की मुक्तिकामी साम्राज्य-विरोधी जनता का मोर्चा राष्ट्रीय कांग्रेस इसलिए अजेय है ; जिस दमन का परिचय हमें इधर मिला है उससे हजार गुना अमानुषिक और बर्बर दमन भी उससे टकराकर नष्ट हो जायगा। साम्राज्यवादी दमन की जीत असम्भव है: भारतीय जनता उसे अवश्य हार करेगी। इस विश्वास से समाजवादी यथार्थवाद को दिशा मिलती है और क्रान्ति के प्रति उत्तरदायित्व के बोध से जंगी जोश, जो कि समाजवादी यथार्थवाद का दूसरा गुण है।

संसार के सब देशों का ऐतिहासिक विकास अपने ढंग से हुआ है इसलिए किन्हीं भी दो देशों के ऐतिहासिक विकास में विषमता होती है। एक उदाहरण से

बात स्पष्ट हो जायगी। एक ओर सोवियत् को लीजिए जो मानव-समाज के आजतक के चरम ऐतिहासिक विकास का प्रतीक है और वर्गहीन मानवता के लक्ष्य की ओर तेज़ी से जा रहा है। दूसरी ओर प्रशान्त या अतलान्तक के कुछ द्वीप पुञ्जों को लीजिए जहाँ पर लोगों की जीविका का सहारा अब भी मछली पकड़ना और आखेट है या जहाँ पर अब भी दासप्रथा चलती है। तो ऐसे भिन्न ऐतिहासिक विकास में क्रान्ति के रूप भी भिन्न होंगे क्योंकि क्रान्ति एक प्रक्रिया या प्रोसेस का नाम है। क्रान्ति के भिन्न रूपों के अनुसार जन-साहित्य के रूपों का भिन्न होना भी स्वाभाविक है। एक ओर सोवियत्, शोलोखोफ, अलेक्सी तालसतॉय, तिखोनोफ़, एरेनबुर्ग का साहित्य होगा—जो शान्ति काल में पञ्चवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने में योग दे रहा था और बाईस जून १९४१ से पवित्र सोवियत् भूमि की रक्षा के लिए हिटलरी डाकुओं से लड़ रहा है; दूसरी ओर उपनिवेशों में गण-तांत्रिक क्रांति के लिए लड़ने वाला साहित्य होगा। समाजवादी यथार्थ समाजवाद को अपना लक्ष्य मानता है, उसकी अन्तिम जीत में दृढ़ विश्वास रखता है और उस जीत के लिए लड़ता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि किसी देश के ऐतिहासिक विकास के अनुरूप क्रान्ति की जो शक्ल होती है समाजवादी यथार्थवाद उसके साथ होता है। जीवन की वास्तविकताओं के सहारे वह आगे बढ़ता है। वह जीवन के ह्रास का चित्र देता है क्योंकि जीवन का ह्रास एक वास्तविकता है लेकिन वह उसी जगह रुक नहीं जाता। वह नई ज़िंदगी की तस्वीर भी देता है। इसी नाते वह ट्रैजेडी की पुरानी परंपरा को छोड़कर, एक सशक्त रोमांसवाद, जिसकी जड़ यथार्थ में होती है, का आनयन भी करता है। ट्रैजेडी से, जो अमित्र वातावरण के खिलाफ अकेले मानव की हार और जीवन-ह्रास का चित्र देती है, संसार आज आगे बढ़ आया है और ह्रास में जीवन का अवसान होना अब जरूरी नहीं है। क्रान्ति की शक्तियाँ भविष्य को उज्ज्वल बनाती हैं, भविष्य में अपनी दीप्ति फेंकती हैं और इस बात की भूमिका तैयार करती हैं कि लेखक जनता की जीत का इतिहास लिखे।

१९४३]

आज की कहानी पर कुछ विचार

कुछ दिन पहले तक जो बातें कुछ धूमिल और अस्पष्ट-सी जान पड़ती थीं, वे अब दिनों दिन साफ होती जा रही हैं। उनमें से एक यह है कि प्रगतिशील कहानी ही जी सकती है, यदि प्रगतिशील कहानी से हम आर्थिक राजनैतिक सामाजिक तत्वों से अनुप्राणित कहानी समझें। जो क्रान्ति की शक्ति को समझता है, उस ओर से जागरूक है, और जो एक वर्ग-मानवता (अर्थात् जो मानवता को स्वीकार करते हुए भी वर्गों को नकारने पर अपने को बाध्य नहीं पाता बल्कि जो विकास को वर्ग-संघर्ष का इतिहास मानता है) के प्रति अपना नैतिक उत्तरदायित्व अनुभव करता है, केवल ऐसा साहित्य ही जी सकता है, जी रहा है। केवल प्रगतिशील कहानी ही जी सकती है—यह विचित्र-सा लगता है, लेकिन मोटी तौर पर यदि हम विश्व के साहित्य को देखें तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि वह साहित्य जो रूढ़िवादी तत्वों की प्रामाणिकता साबित करने में लगा हुआ है, वह मरा जा रहा है क्योंकि रूढ़ि का अर्थ प्रतिक्रिया है। जी केवल वह साहित्य रहा है जो प्रगतिमूलक शक्तियों के साथ अपना लगाव पाता है। दूसरा साहित्य तो निष्प्राण और स्पंदन-हीन है, मानों अपने दिन गिन रहा है। आज जहाँ सब कुछ सापेक्ष है, वहाँ कुछ मिथ्या सनातन सत्यों की आड़ लेकर वह साहित्य क्रांति की राह में रोड़े अटका रहा है। कैसे पूँजीवाद के संकटकाल में सत्य शिव-सुन्दर, मानवता आदि जनप्रिय आदर्श जो आदर्श के रूप में बड़े अच्छे हैं और जिनसे शायद किसी को भी विरोध न हो एक वर्ग के हाथ में पड़कर थोथे हो जाते हैं और प्रतिक्रिया को छिपाने में सहयोग तक देने लगते हैं, यह तो अब बहुत स्पष्ट होता जा रहा है।

आज की कहानी परियों की कहानी नहीं रह गयी है और न उसमें केवल

'यथार्थ का पुट' रहता है जैसा पुराने खेवे के आलोचक भूल से कहा करते हैं। वह यथार्थ से अभिषिक्त है, उसी में उसका उदय और अस्त है।

कहानीकार के लिए कथावस्तु की कमी पड़ना असंभव है। हर पग पर, हर पल, कथा-सामग्री बिखरी पड़ी है। प्रश्न केवल उसके चयन और फिर उसे सँवारने का है। सँवारने से मतलब आभूषणों से वेष्टित करना नहीं है, वरन् उसे एक निश्चित भावधारा, एक गतानुगत रूपरेखा में बाँधना है। कलाकार की सफलता इसी में है। साम्यवादी दृष्टिकोण से देखने पर बहुत सी चीजें जिनका सिर पैर यों समझ में नहीं आता बड़ी अच्छी तरह समझ में आने लग जाती हैं।

आजकल मजदूर और किसान से सम्बन्ध रखनेवाला बहुत-सा उथला साहित्य हमें दीखता है। उसमें समवेदना है, कल्पना-प्रसूत समवेदना जितनी हो सकती है। लेखकों की नीयत भी बड़ी अच्छी है। वे भलाई करना चाहते हैं उस शोषित वर्ग की। पर भली नीयत रखने से ही भलाई नहीं हो सकती। यदि कोई आज जर्मन-रूसी युद्ध के विषय में लिखने बैठ जाय, जब कि उसे इस (या किसी) लड़ाई की आसुरी भीषणता की अनुभूति नहीं है, तो उसकी देन टिकाऊ नहीं हो सकती। वह कल्पना की उपज है और केवल उतने दिन टिक सकती है जितने दिन निरी कल्पना की उपज टिकती है और टिकती आयी है। यदि आपने किसी चीज को कल्पना से पकड़ने की कोशिश की है तो इससे फर्क नहीं पड़ता कि वह कौन-सी चीज है। बात एक ही है चाहे आप अपनी कल्पना का सहारा लेकर किसी प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार का चित्रण करें चाहे युद्ध-क्षेत्र की भीषणता, पूँजीवादी शोषण की बर्बरता और रक्तपात का। यदि कोई लेखक बिना गरीब मजदूरों के संग रहे, बिना उनकी जिन्दगी, उनकी तकलीफ को समझे किसी मजदूरनी के सूखे स्तनों का जिक्र करता है जिन्हें उसका बच्चा मुँह में लेने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहता, या किसी ऐसे धनी आदमी का जिक्र करता है जो किसी गरीब स्त्री की गरीबी का फायदा उठा कर उसे अपनी शय्या का आभूषण बनने पर मजबूर करता है, या किसी नन्हें नौ-वर्षीय लड़के की तसवीर खींचता है जो मिल में काम करने से जल्दी-जल्दी मौत की घाट लग रहा है—तो उसकी चीज में जान नहीं पैदा हो सकती। काल्पनिक वस्तु कुछ भी हो, है वह काल्पनिक ही। कुछ ऐसा ही हाल हमारे लेखकों का भी है। वे घर बैठे शोषितों की दयनीयता

का चित्र खींचना चाहते हैं। परिणाम होता है ऐसा बुखार से भरा साहित्य जिसमें किताबी शब्दों का बाहुल्य होता है और अनुभूति की कमी।

कोई लेखक अगर अपनी कला के प्रति ईमानदार बनना चाहता है तो उसे शोषित वर्ग का बनना होगा। वरना उसका समाजवाद पर, मजदूर पर, किसान पर, शोषण पर कलम चलाना अनधिकार चेष्टा छोड़ और कुछ नहीं। यदि कोई लेखक या कवि अपनी ईमानदारी के बावजूद शोषितों के बीच नहीं जा पाता, तो उसे अपने मध्यवित्तवाले लोगों के विषय में लिखना चाहिए। उसके सामने चेखोव की बहुत बड़ी मिसाल रहेगी। वह लिखे निम्न मध्यवर्ग की रोज-ब-रोज बढ़ती हुई दरिद्रता पर, दिखलाये कि कैसे ऐतिहासिक कारणों से, निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक और सामाजिक अवनति हो रही है और वह उत्तरोत्तर सर्वहारा की श्रेणी में समाता जा रहा है। उसे चाहिए कि वह इस श्रेणी के लोगों की एकरस और नीरस जिन्दगी की ऊब और थकान के बारे में लिखे, उस बेमतलब सी जिन्दगी के बारे में जिससे आह्लाद कभी का विदा हो चुका, जिसमें औत्सुक्य की जगह अहर्निशि नोचनेवाली व्यर्थता ने ले ली। वह तसवीर खींच सकता है निम्न मध्यवर्ग के एक किरानी की जिसके जीवन का प्रत्येक पल जैसे एक भारी लाश की तरह उसके काँधों पर बैठा रहता है। ऐसे ही अनेक विषय किसी भी प्रगतिशील लेखक को सहज ही मिल जायेंगे।

कहानीकार के लिए कथावस्तु की कमी होना अस्वाभाविक है। आज का प्रश्न कहानीकार के लिए दृष्टिकोण या ऐटिट्यूड का प्रश्न है। मैं कोई आधे दर्जन कथानक देकर (जो इस समय मेरे पास हैं और जिन पर मैं कलम उठाने का साहस उन्हीं कारणों से नहीं कर सकता जिनका उल्लेख मैंने किया है) बतलाना चाहूँगा कैसे उन पर प्रगतिशील ढङ्ग से कहानी लिखना मैं पसन्द करता और कैसे दूसरे ढङ्ग से उन कथानकों का उपयोग दूसरे लेखक कर सकते हैं। उन पर पाठक स्वयं सोचेगा।

कुछ प्लाट

एक

क नाम का एक युवक। सुगठित, शान्त, मनस्वी। समाजवादी। श्रमिक माँगों का जी-जान से समर्थक। अतृप्त, क्लान्ति-पूर्ण यौन-जीवन। अपनी अतृप्त कामेच्छा के कारण बहुत-से मानसिक बुखारों और 'न्यूरोसिस' का शिकार। मनः

शक्ति-विच्छिन्न। क का दुर्भाग्य है कि वह अपने भीतर के गहरे, अँधेरे कुएँ में झाँकने से अपने को रोक नहीं पाता। पाता है वहाँ अनेक मोह, पिपासाएँ, बुभुक्षाएँ, बुखार, बहुत घनी वितृष्णा और अनेक असंगतियाँ जिन्होंने कमर तोड़ दी है। वह श्रमिक-आन्दोलन में अपने को डालकर अपनी समस्याओं का उदात्तीकरण (sublimation) कर लेना चाहता है। चाहता है नारी के दो विशाल स्तन जिनमें मुँह छिपाकर वह अपनी क्लान्ति को सुला सके। उन्हें पाने में असमर्थ, वह चाहता है कोई बड़ा आदर्श जिनमें अपना 'मैं'-पन, जो उसका अभिशाप है, वह पत्थर में बाँधकर डुबो सके, समुन्दर के अतल जल में। इस संघर्ष का असह्य भार उसे स्वयं अपना एक डरावना सपना मात्र बनाये दे रहा है। उसकी मानसिक संतुलनहीनता उसकी मजबूरियों का एक वीभत्स और डरावना पोस्टर है। अभी तक श्रमिक वर्ग का वह अङ्ग नहीं बना है और उनसे सिर्फ दिमागी सहानुभूति रखता है।

अब क एक कोयले की खान में मजदूर है। अब वह मजदूरों की असंगत गरीबी को देखता है, उनकी गरीबी की नंगी वास्तविकता को, उसकी हिंसाकुल, मीलों गहरी, कराहों और एकाकी फुफकारों से भरी खोह को, जिसमें झाँकते ही माथा घूम जाय। और फिर वह देखता है उतनी ही असंगत अट्टालिकाएँ, पूँजीपतियों के प्रासाद, उनके रङ्गमहल और उनकी हवेलियाँ। क को ज्यादा देर नहीं लगती इन दो बातों में कार्य-कारण या पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ते। अब उसमें श्रमिक वर्ग की सहज और आदिम शक्ति का थोड़ा प्रवेश भी हो रहा है। उसे अपनी जगह निर्द्धारित करते देर नहीं लगती। उसे अपने अध्ययन और चिन्तन को मजदूरों के मोर्चे पर लगाना है, अपने साथियों को उनकी जायज माँगों का ध्यान दिलाना है। उनको सिखाना है कि देखो अपनी बेड़ियों को जिन्हें पूँजीपति रोज-बरोज कसता ही जा रहा है, और भरोसा करो अपनी ताकत का। उसे प्रतिहिंसा जगाना है।

एक हड़ताल का नेतृत्व करने में वह बहुत घायल हो जाता है। चोट उसे गहरी लगी है। एक साथी की माँ उसकी परिचर्या कर रही है। उसे वह हमेशा चाची पुकारता है। आज उसका मन किसी को 'माँ' कहने के लिए उतावला है। अपने सन्निपात की इस दशा में भी उसमें इतनी चेतना अवशिष्ट है कि वह जैसे 'माँ' पुकार उठेगा। और जैसे ही वह उन 'चाची' को एकाएकी बेसुध हो 'माँ' पुकार उठता है, वैसे ही उसके प्रमादग्रस्त मस्तिष्क के चारों ओर जैसे चौखटे में पिन्हाए हुए विचार, भिड़ के खोदे गये छत्ते से निकलकर उसपर

छा जाते हैं। वह कोई दस वर्ष पीछे चला गया है जब वह अपनी माँ के प्यार की अवहेलना कर पहली बार शायद हमेशा को घर छोड़ आया है। वह जानता है उसकी विधवा माँ उसी के लिए जीवित है। जीवन में उसकी ज्यादा लालसाएँ अब नहीं हैं। उसी को अपनी दीपशिखा मान, उसकी माँ उसी की लौ से अपने को जीवित किये हुए है। वह उसके अगाध, एकान्त प्रेम से अपरिचित नहीं है। पर साथ ही वह उस वात्सल्य की कीमत भी जानता है। अपार वेदना के साथ उसने यह भी अनुभव किया है कि वह वात्सल्य नये जीवन को बिना सीमित किये शायद अपना ही नहीं सकता, वह जानता है कि सत्य की निर्मम खोज के प्रति भी वह वात्सल्य उदार नहीं है; क्योंकि अंततः वह मोह है, और माँ, अपने स्नेह की गरुआई से विवश, चाहते हुए भी नहीं चाह पाती कि उसका वत्स कहीं और जाय। पर स्नेह से सनी हुई उसकी आँखें नहीं देख पातीं कि उसके वत्स में जो नया प्राण-संचार हुआ है, उसकी गति में कुछ बाधक भी हो सकता है। झरते हुए और उगते हुए प्राणों का यही वैषम्य शायद मानव की ट्रैजडी का बीज है। तीव्र मानसिक संघर्ष के बाद वह घर छोड़ रानीगञ्ज चला गया है। उसके चले आने के बाद उसकी माँ दो वर्ष जीवित रही और इस बीच, एक-दो दिन आँतर दे, उसे अपनी माँ के ३०० के करीब पत्र मिले, अपनी आभा से ज्योतित और अपनी आकुलता से आकुल कर देनेवाले पत्र, जिनमें से लगभग बीस का ही वह उत्तर दे पाया है। उसकी माँ अब नहीं है। पागल कर देनेवाली स्मृतियों के भय से वह अपनी माँ की अन्त्येष्टि में भी नहीं जा पाया है। और आज उसके भी प्रायः आठ वर्ष बाद, माँ की स्मृति को उसी तरह जगाये हुए, वह सन्निपात की अवस्था में पड़ा हुआ है और अपने भग्न मन से यह पूछना चाहता है कि उसने सौदा कैसा किया, सस्ता या महँगा ? क्योंकि वह अपने को नहीं समझा पाता कि अपनी माँ की मृत्यु का कारण वह नहीं है।

वह आज एक अच्छे काम में मरने के किनारे है। सन्निपात के सँपीले इन्द्र-जाल के उस पार देखकर वह कुछ निश्चित करना चाहता है और यद्यपि वह शायद अपने से असन्तुष्ट नहीं है तथापि अपनी माँ की मृत्यु के दायित्व से वह अपने को मुक्त नहीं कर पाता और यों ही इस संघर्ष के बीच अन्धकार बढ़ा चला आ रहा है। उसको राह नहीं सूझ पड़ रही है। अन्धकार बहुत वेग से बढ़ता आ रहा है उसकी राह को ज्योतित करने। पूर्ण अन्धकार।

हो सकता है, यह एक लघु-उपन्यास का कथानक हो। क की समस्या जबी

सच्ची और उसका संघर्ष बड़ा करुण है। कह सकते हैं कि उसमें एक तरह का 'एपिक' गुण है। यह समस्या मौलिक है, पर कोई अगर गौर से देखे तो उसे यह जानने में देर नहीं लगेगी कि यह समस्या किसी अलक्ष्य रूप में गोर्की की 'माँ' में भी है। पावेल की माँ अगर वैसी न होती जैसी कि वह है तो पावेल का क्या होता?

दो

यह कहानी बहुत छोटी है। मनोवैज्ञानिक। सूत्र-रूप में इस प्रकार कहानी मेरे सामने आती है:—

अखिल नामधारी एक व्यक्ति, जिसे सब बहुत सदाचारी जानते हैं। विद्यार्थी मित्रों की हँसी-दिल्लगी की ओर से उदासीन और खिन्न। लड़कियों की बात छिड़ने पर बहुत नाक-भौं सिकोड़ता है। एक बार छुट्टियों में अखिल के घर चले जाने पर कुछ यार लोगों ने, जो बात ताड़ लिया करते थे, उसका भेद जानना चाहा। कमरा खोलकर उसका एक चमड़े का बक्स खोला गया तो उसमें तरह-तरह की, विभिन्न नामों की, सैकड़ों तरह के काट की, नाना प्रकार के 'सस्पेंडरों' वाली कई प्रकार के बारीक रेशम और ब्रोकेड की चोलियाँ ठसाठस भरी थीं। बक्स क्या था चोलियों की नुमाइश था और सेक्स के मामलों में हमारे असाधारण गम्भीर नायक, महाशय अखिल, स्त्रियों के उस विशेष अन्दरूनी पहनावे के विशेषज्ञ साबित हुए।

अगर यहाँ कहानी ख़त्म कर दी जाय तो यह एक हास्य-रस की कहानी है, जिसमें एक सीधे-सच्चे आदमी की कमजोरी का, जो अपनी कमज़ोरी को स्वयं अपने से छिपाता है, भेद अनोखे ढंग से खुला है। हमारे नायक अखिल में और मोलियेर के 'तारतुफ़' में अन्तर यही है कि तारतुफ ढोंगी है और वह यह जानता है; इसलिए उसके चरित्राङ्कन में सारी हँसी-दिल्लगी के बावजूद तीखापन आ गया है। अखिल ढोंगी नहीं है, मूर्ख है।

तीन

मेरा नाम अशोक है। एक निश्चित-सी तारीख़ को मेरे पास मेरी बहिन की जो कि २० वर्ष की है और मुझसे ३ वर्ष छोटी है, राखी हर वर्ष आया करती

है। कोई भी कारण रहा हो, इस बार वह उस दिन तक नहीं आ पायी। कहानी का कहानी-तत्व इस प्रश्न के सुलझाने में यहाँ से शुरू होता है। मैं इस व्यतिक्रम के यथार्थ कारण से अपरिचित हूँ। परन्तु जब प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए अन्त से आदि की ओर चलता हूँ तो गुत्थी जैसे सुलझती-सी जाती है और मैंने अब देख लिया कि कहानी बड़ी तीखी होगी। होकर रहेगी, मेरी इस कहानी के नंगे यथार्थ का भी जैसे एक न मुड़नेवाला तर्क है।

कहानी का ढाँचा प्रश्नोत्तरी के रूप में यह है:

प्रश्न—राखी निश्चित तिथि को क्यों न आई?

उत्तर—क्योंकि उसकी भेजनेवाली न भेज सकी।

प्रश्न—राखी की भेजनेवाली राखी क्यों न भेज सकी?

उत्तर—क्योंकि वह मर गयी।

प्रश्न—क्यों मर गयी?

उत्तर—क्योंकि उसे कोई सांघातिक रोग था।

प्रश्न—उसे कौन-सा सांघातिक रोग था?

उत्तर—प्रसूतिका।

प्रश्न—प्रसूतिका से ही राखी भेजनेवाली तुम्हारी बहिन क्यों मरी?

उत्तर—क्योंकि कच्ची उमर में ब्याही लड़कियों को वही रोग सबसे आसानी से बिना झंझट के मिल जाता है! क्योंकि कच्ची उमर की एक लड़की कई प्रसव का तनाव नहीं बर्दाश्त कर सकती! उसके स्नायु दुर्बल होकर चटाख से टूट गये।

प्रश्न—कई प्रसव से तुम्हारा क्या मतलब?

उत्तर—संक्षेप में उसका इतिहास यह है। मेरी बहिन की शादी १३ वर्ष की आयु में हुई। १५ की उम्र में उसका पहला बच्चा हुआ। १७ की उम्र में उसे जुड़वाँ हुए, जो नहीं रहे। २० की उम्र वाला यह आखिरी प्रसव था जिसे वह बर्दाश्त न कर सकी। प्रश्नकर्ता महोदय, २० की उम्र तक ही चार-चार बच्चों के मातृत्व के सौभाग्य का भार भी तो कुछ होगा ही? सम्भव है उसे सँभालने में ही वह टूट गयी हो!

प्रश्न—दिल्लगी न करो। बताओ यह क्यों हुआ?

उत्तर—यह यों हुआ कि हम मध्यवित्त वाले लोग हैं। ज्यादा दिन तक जवान लड़की—हमारे यहाँ लड़कियाँ ग्यारह की उमर में ही जवान हो जाती हैं—हम घर में रखना पसन्द नहीं करते। समाज का नियम ऐसा है। रजस्वला को घर में बिठालकर जात-बाहर होने का भय बहुत बड़ा होता है। इसका उल्लंघन करने

की ताक़त बिरले में ही होती है। मेरे मा-बाप यानी मेरी उस बहिन के मा-बाप जो निश्चित तिथि को इस साल किसी कारणवश राखी न भेज पायी, उसके मा-बाप में इतनी ताक़त न थी।

प्रश्न—इसका इलाज?

उत्तर—विध्वंस, डाइनामाइट। ऐसे कुत्सित समाज को उड़ा दो।

चार

मैंने एक बहुत बड़ा-सा पोस्टर देखा जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—'भारतीय चाय : सभी ले सकते हैं।' और चित्र में चाय के प्याले लिये दर्जनों मर्दों-औरतों-बच्चों के हाथ फैले हुए अंकित थे। संभव है आपने भी अपने नगर में यह पोस्टर देखा हो, पर आपके मन में यह बात आग की तरह न फैली हो जो मेरे मन में पलक भाँजते फैल गयी। भारतीय चाय यों भी आज भारत में बड़ी व्यापक हो गयी है—सर्व-व्यापी जगन्नियन्ता का रिक्त स्थान लेने को वह आतुर है। (क्योंकि खबर आयी थी कि ईश्वर बगैर औलाद या उत्तराधिकारी छोड़े मर गया!—) मैं इतिहास का विद्यार्थी भी रह चुका हूँ और जानता हूँ किस प्रकार चीन में दो अफीम युद्ध केवल इस लिए हुए थे कि बरतानियाँ जाग्रत चीन को मजबूर कर रहा था कि वह अफीम की शकल में जहर का प्याला पिये और अपने को मिटा दे। मुझे जैसे एक स्वप्न-सा हुआ और मैंने देखा कि हिन्दुस्तान को आजादी मिल गयी है और वह चाय के नुकसान से परिचित हो रहा है और चाय का पीना राष्ट्रीय पैमाने पर बन्द करना चाह रहा है और बरतानियाँ हिंदुस्तान के खिलाफ आधे दर्जन चाय युद्धों का सरंजाम करता है। जैसे नींद-सी खुल जाती है और मैं फिर अपने कमरे के सामनेवाला चाय का बड़ा पोस्टर देखता हूँ—'भारतीय चाय—सब ले सकते हैं।'

पाँच

व्यक्ति की वासनाओं में सबसे प्रबल वासना होती है अभी-अभी बीते हुए पल के प्रति, और इन्हीं 'अभी-अभी बीते हुए पलों' के संकलन अर्थात् अतीत के प्रति। जो पल अभी-अभी हाथ से बिछलकर अतीत का अङ्ग हो गया है, उसे किन्हीं भी युक्तियों से न पकड़ पाना व्यक्ति की सबसे बड़ी दयनीयता है

और उसे किसी भी रूप में कला के आकारों में अनुप्राणित करके रख छोड़ना, उसकी आंशिक सफलता है, जिसके रस का उपभोग कलाकार से ज्यादा दूसरा नहीं कर सकता। जब मेरी माँ, मुझ में, मैं जो कि ३० वर्ष का पूर्ण और अस्वस्थ मनुष्य हूँ, दो या तीन माह का या कभी-कभी एक या दो दिन का जीव देखने लगती है, तो मुझे बड़ी उलझन होती है, लेकिन मुझे सुख होता है यह सोच कर कि मुझमें तीस वर्षों बाद, वह अपनी वात्सल्यमयी विमुग्धता का एक अपूर्व क्षण फिर से जगा रही है और इससे उसे सुख हो रहा है। यह भी अतीत को एक बार फिर बाँहों में भींच लेने का आतुर प्रयत्न है। साहित्य में इसके दृष्टांत तो बहुत हैं, लेकिन इसका सबसे प्रबल रूप मुझे मिला फ्रांसीसी लेखक वीज़माँ (Huysmans) की Against the Grain नामक पुस्तक में। इसके नायक का प्रबल आकर्षण कुछ सुगन्धों की ओर है, जिन्हें पाने की वह सतत चेष्टा में रहता है।

नीरदकांत आज से प्रायः अठारह वर्ष पहले मेरे जान-पहिचान के लोगों में थे। हम दोनों की प्रकृति में बड़ा वैषम्य था और अपनी कमजोरी क्यों छिपाऊँ, मुझे उनसे नफरत थी जिससे हम दोनों कुछ मनमुटाव के साथ अलग हो गये और एक दूसरे को यों भूल गये जैसे किसी को दूसरे से फिर कभी आँख मिलाने का मौका न आयेगा।

अबकी जब एक नगर का संभ्रांत व्यक्ति मेरे पास कस्बे में, नगर से २० मील दूर, कच्ची सड़क से चलकर, मुझसे, मैं जो कि एक कस्बे का डाक्टर हूँ, मिलने आया, तो मेरे अचरज की सीमा न रही।

पहले तो मुझे उन्हें पहचानने में उलझन हुई, पर जल्दी ही मुझे उनके 'नी' कहते ही याद आ गया नीरदकांत, और मैं कैसे उन्मत्त होकर उन्हें झकझोरता हुआ, बेहद तपाक से बोला—अरे भाई, नीरद तुम हो कैसे गये ? पहचाने ही नहीं जाते,' और जब तक बेचारे नीरदकांत वे ही उलाहने मुझे दें और कहें, 'तुम कैसे हो गये पन्नालाल, तुम भी तो नहीं पहचाने जाते ?' मैं उनके हाथ में हाथ कसे घरभर में घूमा किया और जैसे ही मेरी पत्नी दीख पड़ीं मैंने चीखते हुए कहा—अरे, सुनती हो ? ये देखो कौन आये हैं ? इनको तुम नहीं जानतीं ? ये हैं तुम्हारे सलोने देवर नीरदकांत—जैसे सलोने ये वैसा सलोना इनका नाम। मेरे बड़े पुराने यार हैं और कोई अठारह बरस हुए होंगे, क्यों, भई नीरद, मेरी इनकी खूब छनती थी।

धूल में लिपटा लड़का जैसे ही बाहर से आया और एक अजनबी को देख,

सिटपिटाकर कोने में खड़ा हो गया, मैंने जैसे असाधारण स्नेह से—क्योंकि अपने घर में मैं काफी रूखा बदनाम हूँ—आवाज देते हुए कहा—प्रभात, घबराते क्यों हो ? तुम्हारे चाचा। नमस्ते तो करो।

फिर, हम लोग जब खाना खाने के बाद हुक्के रख-रखकर बैठे और बातों का सिलसिला चला तो जैसे बन्द ही न हो और मैं जो उस कस्बे में अपनी गुम-सुमी के लिए बहुत बदनाम था, जैसे बात करते थकता ही न था, गुलाब की पंखुरियों की तरह एक बात का छोर दूसरी बात में खोया हुआ था।

और इस बीच मुझे एक पल को भी ध्यान न आया कि यह वही नीरदकांत है जिसे मैं जी-जान से नफरत करता था। और सच पूछिए तो मैं इस समय व्यक्ति नीरदकांत से नहीं बोल रहा था, मेरे दोस्त, आप सच मानिए, मैं बोल रहा था अपने मूर्त्त अतीत से। नीरदकांत जैसे मेरे अतीत का सुगन्धि-साम्राज्य अपने में बटोरे हुए आविर्भूत हो गये थे—मेरी कस्बे की जिंदगी में।

छः

यह एक विश्लेषणात्मक कहानी है और इसमें, जैसा पाठक को आगे चलकर अवगत होगा, विचारधारा प्रमुख जरूरत है।

एक गाँव। उसमें हिंदू-मुसलमान दोनों धर्मवालों के पुरवे हैं। बहुत प्राचीन-काल से उनके आदर्श सम्बन्ध चले आ रहे हैं। इधर जब से उद्योग-धन्धों का ज्यादा प्रचलन हुआ और किसानी संस्कृति की जगह एक औद्योगिक संस्कृति ने ले ली, तो अब उलझन पैदा हो गयी। सो भी अपने आप न हुई। एक मुल्ला और एक पंडा इसके लिए जिम्मेदार हैं।

सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने का गांधीवादी ढंग गलत है क्योंकि उसका रोग-निदान ही गलत है। समस्या वास्तव में आर्थिक है। इस आर्थिक समस्या को संप्रदाय और धर्म का रूप देकर पूँजीवादी वर्ग, मजदूर-किसान वर्ग को आपस में लड़ाता रहता है जिसमें उनकी ताकत न बन पाये और पूँजीवादी अपना उल्लू सीधा करते रहें। इस कहानी में यही बतलाना है कि किस तरह अमन-सभाओं आदि से अमुक गाँव में कोई लाभ न हुआ, आग बार-बार भड़का की। जब कुछ जानकार व्यक्तियों ने जाकर ग्राम-निवासियों को असलियत समझायी और बतलाया कि दंगे कराने वाले और दंगे से फायदा लूटनेवाले लोग कौन हैं तब उन्हें यह बात समझ में आ गयी। और उन्होंने जान लिया कि हाथ से काम

करनेवालों का एक वर्ग है, जिसे कि मिलकर अपनी अटूट शक्ति बनानी चाहिए, और दूसरा वर्ग पूँजीवादियों का है, जो दूसरों की कमाई पर फूले रहते हैं। यही वर्ग उन्हें जंजीरों में जकड़े रहता है। पहले वर्ग को दूसरे वर्ग का संहार करना है और किसान-मजदूर वर्ग को यही ध्यान रखना चाहिए और पूँजीवादियों के बहकावे में आकर अपनी शक्ति आपस में लड़कर न खोनी चाहिए।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस कहानी में पात्रों के नाम की भी बहुत जरूरत नहीं है। क्योंकि कहानी तो विचार-प्रधान है और इसलिए किसी एक चरित्र पर विशेष ध्यान भी नहीं देती जिसमें कि कुछ व्यक्तियों के आकार मस्तिष्क में उठें। साधारणतः तो चरित्र अपनापन लेकर नहीं आ सकता; यद्यपि यह कुछ कमजोरी होगी, कहानी के लिए। पर इस संक्रान्ति-युग में ऐसी भी कहानियाँ हो सकती हैं।

इन कथानकों पर दृष्टिपात करने से पाठक देखेगा कि सारी कहानियों को अनुप्राणित करनेवाला एक भाव है, एक दृष्टिकोण है, जिससे सभी बातों को समझा गया है। मुझे लगता है कि अब फिलहाल 'कहानी के लिए कहानी' का महत्त्व नहीं रह गया है और एक प्रगतिशील दृष्टिकोण से ही समस्याओं का स्पष्टीकरण होना चाहिए। आज की जरूरत क्रान्तिकारी दृष्टिकोण या 'पर्स्पेक्टिव' है।

१९४०]

साहित्य की नवीन आवश्यकताएँ

हर युग में साहित्य की नयी-नयी व्याख्याएँ की गयी हैं। उनमें आपस में चाहे जितना मतभेद रहा हो उनमें एक बात सामान्य रूप से पायी जाती है और वह यह कि साहित्य जीवन से सम्बद्ध है इसलिए उसमें जीवन की प्रेरणाएँ होती हैं। जीवन की प्रेरणाओं को साहित्य किस रूप में, किस मात्रा में, किस प्रकार, कला की किन मर्यादाओं के साथ आत्मसात् करे इस प्रश्न पर तो विभिन्न समीक्षकों में मतभेद रहता आया है और आज भी है, पर इस बात को आज सभी लोग निर्भ्रान्त सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं कि जीवन की उपेक्षा करके साहित्य कभी नहीं जी सकता।

जीवन से क्या अभिप्राय है? क्या जीवन से हमारा अभिप्राय रंगरेलियों से है? क्या सुख और ऐश्वर्य के मनमोदक जनता को खिलाकर, तरह-तरह के सब्ज-बाग दिखलाकर साहित्यिक समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करता है? क्या साहित्यिक अपने को व्यक्तिगत हास और रुदन की सीमा में बाँधकर अपने दायित्व से पूर्णतया मुक्त हो जाता है? नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत हास और रुदन भी जीवन का एक अङ्ग है और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक और अपरिहार्य है। पर हास रुदन के भी गीत लिखने और हास और रुदन के ही गीत लिखने में अन्तर है। दूसरे में जीवन के अन्य अङ्गों के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित होता है और पहले में केवल इस बात की स्वीकृति होती है कि व्यक्ति समाज का अङ्ग होने के साथ-साथ व्यक्ति भी होता है। इसलिए वह जहाँ एक ओर समाज की बर्बरताओं कु-संस्कारों, अत्याचारों का विरोध करता है वहाँ दूसरी ओर अपने किन्हीं क्षणों में वह अपनी प्रेमिका के चिन्तन में प्रेम-विगलित भी हो जाता है, विरह में ठण्डी साँसें भी लेता है, ईर्षा में जलता भी है। लेकिन

यदि कोई साहित्यिक यह संकल्प कर के बैठ जाये कि वह समाज के अत्याचारों, भूख, बेहाली, गरीबी, अशिक्षा, गुलामी आदि से कोई सम्बन्ध न रखेगा और केवल अपना ही रोना रोयेगा तो ऐसे साहित्यिक को निश्चय ही भ्रान्त और एकाङ्गी कहना पड़ेगा क्योंकि वैसी दशा में वह अपनी निजी वेदना को अपनी बचत की ढाल बना लेता है। जो साहित्यिक समाज के प्रभाव से अपने को अछूता रखने के लिए किसी भी ढाल का सहारा लेता है वह निश्चय ही समाज के लिए उपादेय नहीं है।

अब प्रश्न यह होता है कि साहित्यक का सम्बन्ध जीवन से किस प्रकार स्थापित किया जाय कि जीवन का स्वर अपने समस्त ओज के साथ साहित्य में बोल उठे। उसके लिए क्या यह आवश्यक है कि साहित्यिक पहले से ही मार्क्सवादी-दर्शन का पण्डित हो? नहीं। जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए प्रथम आवश्यकता है एक संवेदनशील, परदुःखकातर हृदय की और दूसरी आवश्यकता है सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता की। यदि किसी साहित्यिक के पास ये दो चीजें हैं तो यह निर्विवाद है कि उस साहित्यिक के समाज-विषयक निष्कर्ष उत्तरोत्तर क्रान्ति की ओर अभिमुख होंगे और समाज को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करेंगे। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द का उदाहरण काफी होगा। प्रेमचन्द मार्क्सवाद के आचार्य नहीं थे, लेकिन जीवन के अपने प्रगाढ़, सर्वतोमुखी परिचय के कारण उन्होंने जिस भी सामाजिक समस्या का निरूपण किया है उसमें उनका दृष्टिकोण प्रगति-शील है। अधिकतर क्रान्तिकारी जीवन के अपने कटु परिचय से विद्रोही बनते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि पुस्तकों से पाये गये ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती; दृष्टिकोण के निर्माण में उनका भी बड़ा हाथ होता है।

आज हमारे जीवन पर सब ओर गुलामी की छाप है। जमींदार किसानों को चूसता है, मिलों के अरबपति मालिक मजदूरों को चूसते हैं और अंग्रेज सरकार पूरे देश को चूसती है। सामाजिक जीवन की बागडोर बड़े-बड़े अनाजचोरों, कपड़ा-चोरों ने हथिया ली है और वे सरकारी अहलकारों को घूस दे कर जनता को भूखों मरने, नङ्गे रहने के लिए निपट असहाय छोड़ देते हैं। आज भी बङ्गाल के पैंतालीस लाख मनुष्य भूख से मर जायें और उनको भूखों मारनेवाले उनके देशवासी ही हों, क्या यह अचरज की बात नहीं है? सरकार ने बंगाली अनाज-चोरों का गला नहीं दबाया और उन्हें ईमानदारी का रास्ता लेने के लिए मजबूर नहीं किया, यह बात सरकार की जिम्मेदारी का तो अच्छा परिचय देती है, लेकिन क्या उससे उन अनाजचोरों को हत्या के अभियोग से मुक्त किया जा सकता है?

किसानों की बेदखली हो रही है, मजदूरों की छटनी हो रही है, जनता एक-एक दाने अनाज और एक-एक गज कपड़े को जुटाने के पीछे अपनी खोपड़ियाँ फुड़वा रही है, जीवन गवाँ रही है, जिस ओर भी नजर फेंको त्रास ही त्रास दिखायी देता है। ऐसी दशा में साहित्यकार का कर्तव्य साफ है। उसे अपनी बौद्धिक सहानुभूति को अपने जीवन का कर्तव्य बनाना होगा। उसकी जगह आज गद्देदार कुर्सियों और समृद्धि के बीच नहीं, किसान की झोंपड़ियों और मजदूर की बस्तियों में है। यह सच है कि सभी साहित्यकारों की परिस्थितियाँ ऐसी न होंगी कि वे अपने वर्ग को छोड़ कर सामान्य जनता के जीवन के साथ अपने को एकाकार कर सकें। लेकिन अच्छे काम के लिए परिस्थितियाँ तैयार नहीं मिलतीं, उनका निर्माण करना होता है। परिस्थितियाँ अगर सदैव तैयार मिला करतीं तो आजादी की लड़ाई और जनक्रान्ति का कार्य बहुत सरल हो जाता। यदि यह बात सत्य है कि हमारा देश सदैव पराधीन नहीं रहेगा, जनता सदैव नहीं भूखी मरती रहेगी तो फिर हमें देश को, अर्थात् इन्हीं भूखे और नंगे किसानों और मजदूरों को सच्ची आजादी की लड़ाई के लिए तैयार करना पड़ेगा। यह महत् कार्य साहित्यकारों का है। यह कार्य कोरे जबानी जमाखर्च से, हवाई सहानुभूति की गगरियाँ ढुलका कर नहीं किया जा सकता। जिस जीवन को साहित्यकार ठीक से जानेगा ही नहीं उसका चित्रण भला वह ऐसा किस प्रकार कर सकेगा कि उसमें पाठक को आन्दोलित करने का गुण आ जाये। अधिकांश प्रगतिशील साहित्यकार मध्यवर्ग की संस्कृति में जकड़े हुए, उसकी सीमा में परिसीमित नवयुवक हैं और किसान मजदूर जनता के जीवन से उनका पास का सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए उनके साहित्य में एक तरह की कमजोरी, फीकापन है। केवल कल्पना के आधार पर लिखी गयी चीज में वह जीवन नहीं आ पाता जो समाज को क्रांति के रास्ते पर, देश को आजादी के रास्ते पर आगे बढ़ाता है। मर्म पर वह आघात नहीं कर पाता। हम प्रगतिशील साहित्यकार हैं, इसीलिए अपनी कमजोरी मान लेने में हमें जरा भी झिझक नहीं है। कमजोरी मान लेने के बाद ही उसको सुधारा जा सकता है। जब हम अपने साहित्य की तुलना प्रेमचन्द के साहित्य से करते हैं तब हमें यह बात सच्चे मन से स्वीकार करनी होती है कि चाहे टेकनीक की दृष्टि से, साहित्य में अन्तःस्थित विचारों की क्रान्तिकारिता की दृष्टि से हमारा साहित्य भले ही प्रेमचन्द के आगे थोड़ा बहुत बढ़ आया हो, लेकिन साहित्य की दृष्टि से उसमें जनता के जीवन में नवजीवन संचार करने की क्षमता प्रेमचन्द का दशमांश भी नहीं है। गरीबों के रेखाचित्र कुछ नये साहित्यकारों ने भी लिखे हैं, पर उनमें

हृदय को द्रवित करने की वह क्षमता नहीं है जो महादेवी के रेखाचित्रों में है। महादेवी ने किसान-जीवन को उसका अंग स्वयं बनकर नहीं देखा है। उन्होंने एक संवेदनशील दर्शक की भांति किसानों के जीवन को देखा है और कुशल चितेरे की तरह उसको आँका है। हमने तो इतना भी नहीं किया है। शहराती बाबू बने रहकर हम किसानों का उद्धार करने चले हैं। तथाकथित 'प्रगतिशील' औपन्यासिक गाँव के कच्चे घरों को गर्मी से तपता हुआ बतलाते हैं!

किसानों और मजदूरों के जीवन की समस्या जैसी ही एक और समस्या, जिसकी ओर आज हमारे साहित्यकारों का ध्यान जाना चाहिए, हिन्दुओं और मुसलमानों में मैत्रीभाव स्थापित करने की है। राजनीतिक क्षेत्र का विरोध दोनों में मनमुटाव पैदा करता जा रहा है, दोनों के दिल एक दूसरे से फटते जा रहे हैं और इस हद तक फट चुके हैं कि गृहयुद्ध की सी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। हिन्दुओं और मुसलमानों का जीवन में बहुधा नहीं सा सम्बन्ध रहता। दोनों एक दूसरे को अस्पृश्य समझते हैं। यह एक बहुत सरल सी बात है कि देश तब तक आजाद नहीं हो सकता, जब तक हिन्दू और मुसलमान मिलकर नहीं लड़ेंगे। यदि कोई यह समझता है कि वह बिना दस करोड़ मुसलमानों को साथ लिये देश को आजाद कर लेगा तो वह बहुत बड़े धोखे में है और देश को निश्चय ही गड्ढे में गिरा देगा। मुसलमानों को साथ लेने की आवश्यकता है इस सम्बन्ध में शायद बहस की गुंजाइश नहीं है। सारी परेशानी जो उठ खड़ी होती है तो इस बात पर कि यह समझौता या मैत्रीभाव हो तो किस प्रकार हो? एकता चीज तो अच्छी है लेकिन हाथ कैसे आये? और तब वह उन परेशानियों का ब्यौरा गा चलता है जिनके कारण अब तक समझौता सम्भव नहीं हो सका है, मुस्लिम लीग को गाली दे चलता है, जिन्ना को खरी-खोटी सुना चलता है और पाकिस्तान का नाम ले लेकर या तो आठ-आठ आँसू रोने लग जाता है या गुस्से में आँखें माथे पर चढ़ा लेता है। अब सवाल यह है कि मुसलमानों के दृष्टिकोण को समझने के लिए क्या यह असहिष्णु मनःस्थिति होनी चाहिए? राजनीति के क्षेत्र में तो आज दोनों ओर से गालियों का पूरा-पूरा सरंजाम है। राजनीतिक नेताओं ने अपना ध्येय प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण को समझना नहीं, गलत समझना बना लिया है। कांग्रेस के लोग लीग को भला बुरा कहते हैं, लीग के लोग कांग्रेस को। ऐसी दशा में साहित्यकारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी रच-नाओं द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर सद्भाव की सृष्टि करें क्योंकि बिना इस सद्भाव के कोई समझौता नहीं हो सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य

है कि समझौता न होने का कारण कुछेक शर्तें नहीं, बल्कि एक दूसरे के प्रति सद्‌भाव या मैत्री की कमी है। समस्या का मूल वही है, इसलिए उसका समाधान पूँजीवादी राजनीतिज्ञों द्वारा उतना सम्भव नहीं जितना प्रगतिशील साहित्यकारों द्वारा। सामान्य जनता में अच्छी तरह पैठकर उनके मनोभावों को भली तरह पढ़कर अगर उन्हें पास लाने के विचार से अच्छी-अच्छी कलाकृतियाँ रची जायें तो इसमें संदेह नहीं कि उनके दिलों का मैल कटेगा। चोटी के नेताओं में तो जहर अच्छी तरह फैल चुका है लेकिन सामान्य जनता में उतना नहीं यद्यपि जहर उस पर भी असर करने लगा है। फिर भी अभी उसे बचाया जा सकता है और विग्रह के रास्ते से हटाकर निर्माण के रास्ते पर खड़ा किया जा सकता है। सामान्य जीवन में हिन्दू और मुसलमान सदा एक दूसरे का गला ही नहीं काटते, एक दूसरे की मदद भी करते हैं, हँसते बोलते हैं और अन्य प्रकार से मित्रतापूर्ण आचरण करते हैं। यही एकता के महावृक्ष का बीज है। इसी को आधार बनाकर हमें इस बात का उद्योग करना चाहिए कि दोनों में आज जो ३६ का सम्बन्ध है, वह नष्ट हो और कम से कम इतनी मैत्री उनमें उपजे कि वे एक दूसरे की बात को शान्ति और धीरज के साथ सुन और गुन सकें। समय कम है, क्योंकि स्थिति प्रति पल बिगड़ती जाती है। इसलिए हमें अपने कर्तव्य को समझकर जल्दी ही इस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इसके लिए हमको स्वयं मुसलमान जनता से और पास का सम्बन्ध बनाना होगा। लेकिन यह हमें करना ही होगा क्योंकि इसके बिना हमारी आजादी का मार्ग बिलकुल अवरुद्ध रहेगा। यह अगर आज नहीं तो कल हमें स्वीकार करना पड़ेगा। यदि हम इसे आज स्वीकार करलें तो अच्छा हो क्योंकि तब संभव है हम कुछ अनावश्यक रक्तपात रोक सकें।

नवम्बर १९४५]

मार्क्स फ्रायड और कविता

★

राह में एक पत्थर पड़ा हुआ है। वह समझता है कि वह पूर्ण स्वतन्त्र है। वह अगर कोई अच्छी जगह न चुन, बीच राह में पड़ा हुआ है जहाँ उसे राहगीरों की ठोकरें झेलनी पड़ती हैं, तो वह इसलिए नहीं कि उसके पास इसके अलावा और चारा नहीं बल्कि इसलिए कि ऐसा करना उसे भाता है। एक आदमी आता है। उसे ठोकर लगती है और वह झल्ला कर पत्थर को उठा कर फेंक देता है। पत्थर हवा में उड़ा चला जा रहा है और अपने से कहता जा रहा है : जमीन पर पड़े-पड़े कितनी ऊब और थकान मालूम होने लगती है, उफ़; राम बचाये! कभी कभी इस तरह हवा के डैनों पर बैठ कर उड़ना भी जरूरी होता है!' फिर वह पत्थर एक खिड़की के शीशे से टकराता है और शीशे को तोड़ता हुआ भीतर कमरे में जा गिरता है। गिरने के साथ ही वह एक गहरी साँस लेता है और कहता है : 'इतनी उड़ान के बाद सुस्ताना अब लाजिमी है।' उस कमरे की युवती मालकिन कमरे में आती है सिंगार करने। कोमल वातावरण के बीच एक रूखे, अनगढ़ पत्थर को देख उसके अभिसार के चित्र को, जिसके मार्दव को वह बेसुध हो सँजो रही है, घनी ठेस लगती है और वह खिड़की से हाथ निकाल कर पत्थर को बाहर फेंक देती है और पत्थर अब फिर अपनी पुरानी जगह पहुँच जाता है, तो कहता है : भई बहुत अच्छे! ऐसे अनुभव भी क्या रोज रोज मिलते हैं? इन्हीं से तो जिन्दगी की ताज़गी और हरापन बरकरार है।'

ऐसी ही, या इसी आशय की एक रूसी कहानी है, फेडर सोलोगब की। इस कहानी का रूपक मैंने विभिन्न ढंगों से विभिन्न मौकों पर समझा है। आज जिस तरह मैं इसे समझना चाहता हूँ, शायद वही सब से अधिक उपयुक्त है। शायद

यह पत्थर आदमी का प्रतीक है। आदमी की मजबूरियां ने ही उसकी जिन्दगी के दामन में गोटे लगाये हैं और सिर्फ इतना ही नहीं इन मजबूरियों का ही नाम जिन्दगी पड़ गया है। ऐसी हालत में भी अगर कोई आदमी यह कहे कि दुनिया में उसके 'स्व' को छोड़ कर और कुछ नहीं है, तो कहना पड़ेगा कि उस आदमी की बेशर्मी उस पत्थर की बेशर्मी से ज्यादा दूर नहीं है। व्यक्ति की इसी अलंघ्य बेबसी और वैसी ही अलंघ्य जिद की ट्रैजेडी को कलाकार ने असाधारण रूप से पकड़ा है। व्यक्ति की इसी मजबूरी को उसकी आजादी की दलील बनाने के आगे अगर एक बड़ा नैतिक अपराध है तो उसके पीछे एक काफी पुरानी परम्परा है; और इस परम्परा का छोर पूँजीवादी संस्कृति में है।

व्यक्ति को अपने में पूर्ण, स्वतः संपूर्ण मानने का आग्रह सभी मध्यवर्गीय नीतियों में मिलता है, और फ्रॉयड भी अपनी इस वर्ग-संजात, पूर्वनिश्चित धारणा से अछूता नहीं है और उसकी विचारधारा के मूल में यही बात है। अमित्र समाज के बीच में पड़े हुए व्यक्ति के लिए सिर्फ एक रास्ता था जिसमें वह अपनी इन मजबूरियों को छिपा सके; अपनी अहमिका को फुला कर, ऐसे एक आइने के सामने खड़े होकर जो उसे दसगुना बड़ा करके दिखाये। पूँजीवाद जहाँ एक ओर व्यक्ति को सच्चा मान देने के बदले उसके व्यक्तित्व का दिन में सौ बार अपमान करता है, वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्ति को एक झूठी अहमिका का मौका देकर एक प्रवंचना की सृष्टि करता है। व्यक्ति का आदर करना पूँजीवादी संस्कृति नहीं जानती। हाँ, झूठा बढ़ावा देना जरूर जानती है। इसी बुनियादी भूल को अपनाकर फ्रायड ने अपनी सारी विचारधारा में विष फैला दिया है। व्यक्ति की रग रग को पैसे पर आश्रित, कुत्सित समाज के शिकंजे में जकड़ कर उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्ति-माहात्म्य के सपने दिखाना पूंजीवाद की ऐसी नीति है जो दिन दिन मँजती गयी है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का निरादर करने के साथ साथ उसे जलोदर की-सी एक अप्राकृतिक और वीभत्स सूजन देना ही पूँजीवादी संस्कृति का धर्म है। इस तथ्य के प्रति इतना आक्रोश न हो यदि व्यक्ति यह न जाने कि सामाजिक जीवन के कार्यक्षेत्र में इससे कैसी भयानक गड़बड़ी फैलती है। इसका अर्थ होता है समाज के प्रति व्यक्ति का दायित्व कम करना, व्यक्ति के जीवन में अराजकता को प्रश्रय देना और वैयक्तिक जीवन के रंगमंच से समाज को ढकेल देने का प्रयत्न करना। फ्रायड के मनः शास्त्र की मूल कमजोरी शायद इसी बात में है। 'सुररियलिज़्म' नामक नवीनतम कला-सिद्धान्त भी इसी विचारधारा से उत्पन्न है और उसमें व्यक्ति का अहंकार, उसका उन्मत्त व्यक्तिवाद बौखलाकर अपने लिए मार्ग ढूँढ़ता जान पड़ता है।

फ्रायड कहता है कि व्यक्ति की सभी अचेतन और अवचेतन प्रवृत्तियों के मूल में उसकी अतृप्त वासना है, उसकी यौनवृत्ति है। चूँकि निसर्गतः भूख का कारण स्वयं व्यक्ति में नहीं बल्कि व्यक्ति के बाहर होता है और उसका उत्तरदायित्व प्रत्यक्षतः पूँजीवादी समाज पर होता है, इसलिए जाने चाहे अनजाने फ्रायड ने हिस्टीरिया का कारण अनिवार्य्य रूप से व्यक्ति के अन्दर ढूँढ़ निकाला, और जो आंशिक सत्य था उसे अकेला सत्य माना। इस प्रसंग में यह कहना अनर्गल न होगा कि बाद की कुछ मनोवैज्ञानिक खोजें अकाट्य रूप से साबित करती हैं कि मृगी या पागलपन का बहुत बड़ा कारण भूख है, पौष्टिक संतुलित आहार का न मिलना है, आज का संतुलनहीन सामाजिक जीवन है। इस मत के प्रतिपादन के लिए अनेक आंकड़े दिये जा सकते हैं पर यहाँ कदाचित् उनकी आवश्यकता नहीं है।

मुझे लगता है कि व्यक्ति को उसकी सामाजिक परंपरा से अलग ला खड़ा करने के फलस्वरूप ही उसे कल्पना करनी पड़ी है कि मनुष्य बुद्ध की कसयास्थित विशाल प्रस्तरमूर्ति की तरह, एक ही मसाले की बनी बेचप्पी या थेंगड़े की इकाई है; अपने गुणों में वह भी जैसे एक मोनोलिथ ही है। और यह कल्पनाप्रसूत व्यक्ति युगयुगान्तर से एक महान् संघर्ष में रत है जिसकी सफलता-असफलता पर ही उसने सारा दाँव लगा दिया है। यह महान् संघर्ष, यह महाभारत होता किस बात को लेकर है ? मनुष्य की यौनवृत्ति को, उसी के इर्द गिर्द। फ्रायड के मतानुसार यह महाभारत अनादि अनन्त रूप में चल रहा है। व्यक्ति का अखिल विश्व उसी से रंगा हुआ है, उसका प्रत्येक पल उसी के कम्पन से उद्वेलित है, उसकी वासना की तृप्ति ही उसके पूर्णत्व की तृप्ति है, वासना के क्षेत्र में उसकी हार ही उसकी संपूर्ण हार है, उसकी आत्यंतिक विफलता है। लड़का अगर आगे चल कर अपने बाप से खुल कर नहीं बोल पाता और अलग-अलग-सा रहता है तो वह इसलिए कि बचपन में उसने अपने बाप की हत्या करके अपनी माँ से विवाह करना चाहा था !

फ्रायड का दृष्टिकोण असामाजिक है। इतना ही नहीं, मार्क्स के सन्देश में आमूल क्रान्ति की जो माँग है, फ्रायड में उसका सर्वथा अभाव है। फ्रॉयड ऐसा कहीं नहीं मानता कि जिस समाज के व्यक्तियों की परीक्षा उसने की है, उसमें भी कहीं कोई सड़न या दुर्गन्ध है, और उसे तोड़फोड़ डालने की भी कोई आवश्यकता है। चाहे एक दिमागी उत्सुकता के लिए ही क्यों न हो वह एक बार भी पूँजीवादी समाज को संदिग्ध मुजरिमों के कठघरे में लाकर नहीं खड़ा करता, उसकी

नीयत में शुबहा नहीं करता। इस प्रकार फ्रॉयड इसी अर्थ में प्रतिगामी है कि वह समाज को आगे बढ़ने का कोई सन्देश नहीं देता, उल्टे अपने विश्लेषण में इसी 'जो है' (Status quo) की वकालत करता है। यदि उसने सामाजिक तत्वों को पकड़ने का प्रयत्न किया होता तो वह भी मार्क्स की तरह एकदम ठक्-से रुक जाता और मर्ज पकड़ने के लिए पूँजीवादी समाज के अन्दर उँगलियाँ दौड़ाता। लेकिन फ्रॉयड तो पूँजीवादी संस्कृति की सभी स्थापनाओं को स्वीकार करके आगे बढ़ता है, उसे जो सिद्ध करना था, उसे ही सिद्ध मानकर आगे बढ़ता है। उसके सामने दो प्रश्न थे। एक तो यह कि लोगों को मानसिक विकार, मानसिक रोग क्यों होते हैं और उनका क्या उपचार है। इस सम्बन्ध में तो हम जानते हैं कि फ्रॉयड की चिकित्सा-प्रणाली को काफी सफलता मिली है। मगर दूसरा प्रश्न ज्यादा तात्विक है। व्यक्ति को संसार में एक पूर्ण समन्वित, सामंजस्यपूर्ण, संतुलित व्यक्तित्व मिला है या नहीं, मनुष्य का समुचित विकास हो रहा है या नहीं ? और अगर नहीं हो रहा है तो वे बाधाएँ कौन-सी हैं ? शायद यह कहना ठीक होगा कि इसी प्रश्न के अन्तर्गत फ्रॉयड को उस सामाजिक व्यवस्था की भी परीक्षा करनी चाहिए थी व्यक्ति जिसका ही एक अंग है। लेकिन फ्रॉयड ने सामाजिक व्यवस्था को यों ही, बिना जाँच-पड़ताल के सारे अभियोगों से मुक्त कर दिया है; और यहीं पर उसकी वह कमजोरी है जिसने उसे एकांगी बना दिया है। यह बात विवाद से परे है कि कोई भी विचारधारा सत्य के पास नहीं आ सकती जब तक कि वह आपाततः प्रचलित सामाजिक व्यवस्था पर बड़ा-सा प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाती। और जहाँ तक मैं जानता हूँ, यही फ्रायड नहीं करता।

फ्रायड को उसकी चिकित्सा प्रणाली के क्षेत्र से अलग लाकर उसे कसौटी पर कसने की आवश्यकता इसीलिए हुई कि वह कोरा चिकित्सक नहीं है। हर महान् चिन्तक अगरचे वह संकीर्ण अर्थ में दार्शनिक नहीं भी है, तब भी वह एक मतलब में दार्शनिक होता ही है। मुझे लगता है कि किसी एक खास अर्थ में, चाहे मनुष्य की प्रगति की चरम सीमा के रूप में, चाहे मनुष्य को एक जीवन-दर्शन देनेवाले के रूप में प्रतिभा के ऐसे विभिन्न आलोक जैसे होमर और दांते और गेटे और शेक्सपियर, अरस्तू और स्पिनोज़ा, गैलिलियो और न्यूटन और आइंस्टाइन, अफ़लातून और मार्क्स और फ्रॉयड, राफेल और पिकासो एक हैं।

फ्रॉयड के मतानुसार मनुष्य का चेतन मन उसके अचेतन और अवचेतन मन से बहुत कमजोर है। और काव्य सृजन एक ऐसी क्रिया-प्रणाली है जिसमें व्यक्ति का अवचेतन मन प्रस्फुटित होता है; उसकी लालसाओं के जो स्वप्न हैं

उन्हीं को कवि कविता का रूप देता है। कला मनबुझाव (जिसे मनोविज्ञान की शब्दावली में 'विश फुलफिल्मेंट' कहते हैं) का जरिया है, यथार्थ की अतृप्त वासनाओं, विफलताओं पर एक स्वप्निल आवरण डालकर उन्हें देखने का प्रयास है। कविता की रचना में कवि के चेतन मन का उद्घाटन नहीं होता और यदि होता भी है तो बहुत सीमित रूप में। फ्रॉयडवादी आलोचक इन सब को 'ड्रीम वर्क' 'विश फ़ुलफ़िलमेंट' 'फ़ैन्टसी' 'इल्यूज़न' आदि शब्दों के माध्यम से समझता-समझाता है। मार्क्सवादी आलोचक के पास इस सब के लिए 'पलायन' और 'स्वप्न' को छोड़ कर अन्य शब्द नहीं हैं। सारे पलायनवादी साहित्य की दलील फ्रॉयड के मत में है। सो इस तरह। व्यक्ति की यथार्थ में जितनी विफलता और उसके प्रति जितना आक्रोश है वह चेतन मन से निकलकर अवचेतन मन का अंश बन जाता है और फिर साहित्य में इसी अवचेतन मन का उद्‌गार होता है, साहित्य अवचेतन मन की रंगस्थली है।* एक बार यह बात मान लेने पर यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई न होगी कि वे बातें जो यथार्थ से भाग कर अवचेतन मन की अँधेरी गुफाओं में जा छिपी थीं उन्हीं का अभिषेक कविता में होता है, अर्थात् 'भागे हुओं' का अभिषेक! इस प्रकार फ्रॉयड के मतानुसार समस्त कला यथार्थ से बचने का कवच है; या अंग्रेजी आलोचना से शब्द चुरायें तो कहेंगे 'सेफ्टी वाल्व' है।

आधुनिकतम 'सुर-रियलिज्म' जिसे भूल से 'अति यथार्थवाद' कहा जाता है और जो वास्तव में पलायनवाद की सब से सड़ी और दूषित आवृत्ति है, कला के क्षेत्र में फ्रायडवाद के सब से निकट है और उसी के अनुरूप है। अचेतन और अवचेतन मन की डरावनी गहराइयों को मापनेवाले चित्रकार पिकासो, मातिस, हेनरी मूर और क्ली के चित्र, ज्वायस के अन्तिम उपन्यास, एज़रा पाउंड और ई० ई० कमिंग्स की कविता, ये सब फ्रॉयडीय विचारधारा के अन्तर्गत आती हैं। डी० एच० लारेन्स की कविता इस श्रेणी से कुछ भिन्न है लेकिन उसकी कविता का सन्देश फ्रॉयड के मनःशास्त्र से बहुत प्रभावित है। लारेन्स का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसी से ओतप्रोत है। फ्रॉयड जहाँ कहता है कि आदमी की 'न्यूरोसिस' और मृगी का कारण यौन भूख है वहाँ लारेन्स कहता है कि आज के युग की

---

* हिन्दी में विशेष रूप से इलाचंद्र जोशी पर यह बात कितनी फ़िट बैठती है! —लेखक

थकान, अनुभूति को पैनेपन से अनुभव करने में उसकी अति दयनीय असमर्थता, व्यक्ति का अन्दर-बाहर जो मुर्दार खाल जैसा हो गया है जिसमें अनुभूति की तीव्रता को आँकने की ताकत ही नहीं रह गयी है, इन सब का कारण शक्ति के उस आदिम स्रोत का सूख जाना है या बन्द कर दिया जाना है जिसे यौनवृत्ति या सेक्स कहते हैं। लारेन्स सेक्स को एक शक्ति या एनर्जी के रूप में देखता है और सोचता है कि उसी को पूर्ण उन्मुक्त कर देने से व्यक्ति की इस व्यापक थकान और मुर्दनी का लोप हो जायगा।

हमने ऊपर कहा है कि फ्रायडवाद कविता को यथार्थ से बचने का कवच मानता है। उसके ठीक विपरीत मार्क्सवाद कविता को, सारे साहित्य और सारी कला को यथार्थ से लोहा लेने का, समाज को बदलने का अस्त्र मानता है। वह कला को चेतन मन का उद्‌गार, चेतन मन की अभिव्यक्ति का माध्यम मानता है। वह मानता है कि कविता की रचना किसी उद्देश्य को लेकर होती है और वह उद्देश्य मात्र कविता नहीं। उसका एक सामाजिक पक्ष होता है। जैसा एक अँग्रेजी आलोचक काडवेल कहीं पर कहता है : अगर हम कला या कविता की उपमा मोती के दाने से देते हैं तो हमें मानना होगा कि समाज की स्थिति उस सीप की है जो मोती के दाने के चारों ओर लिपटी रहती है और जिसके अंतः कोष में ही मोती मोती बनता है। कला और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध का इससे सुन्दर स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

इस तरह जब कविता पर सामाजिक प्रभाव अनिवार्य है तब आज की कविता पर आज की पूँजीवादी संक्रान्ति की छाप भी अनिवार्य है। और इसी लिए कुछ वर्षों से विश्व साहित्य में जो थकान मिलती है उसे जब फ्रायडवादी आलोचक अतृप्त वासना से उत्पन्न मानता है तब समाजवादी आलोचक उसे आज की पूँजीवादी संस्कृति के ह्रास का प्रतिफलन मानता है। सारी आधुनिक अंग्रेजी कविता में जिसका आचार्य टी० एस० एलियट है, यही बात पायी जाती है। टी० एस० एलियट के ही शब्दों में * उसे अगर अपनी जिन्दगी को क़हवे के चम्मचों की लम्बाई से नापना पड़ा है तो इसका कारण अतृप्त वासना नहीं बल्कि मरणोन्मुख पूँजीवादी संस्कृति का वह सर्वांगीण ह्रास है जिसके बीच उसने अपना जीवन गुजारा।

* I have measured out my life with coffee spoons.

प्रगतिशील कवि के लिए आज का धर्म है कि वह पूँजीवाद की असंगतियों को, विषमताओं को अनुभूति के माध्यम से चित्रित करे। जो कुछ कविताएँ रूसी कवि मायाकोवस्की की देखने को मिलती हैं उनसे जान पड़ता है कि प्रतिभाशाली कवि बिना काव्योचित गुणों को ठेस पहुँचाये ऐसा आसानी से कर सकता है।

अक्तूबर १९४१]

फासिज्म का सांस्कृतिक ब्लैकआउट

आजकल सारी बातें संस्कृति को लेकर होती हैं। विश्व की जनता इस ओर सजग है और अपनी संस्कृति की दीपशिखा को नहीं बुझने दे सकती। लोगों की इतनी संस्कृतिमूलक चेतना विकास के एक निश्चित धरातल की ओर संकेत करती है। जब संस्कृति केवल नृतत्व का विषय न होकर जनता के नजदीक जीवन से कुनमुनाती और डोलती हुई चीज हो जाती है तब फासिज्म के समक्ष एक बहुत बड़ी समस्या की रूपरेखा तैयार होने लग जाती है क्योंकि तब विश्व की जनता जो फासिज्म की ऐतिहासिक भूमिका से परिचित हो चुकी होती है एक कर्तव्यनिष्ठ प्रहरी की तरह उस फासिज्म का मुकाबला करती है जो उसकी संस्कृति पर आघात करता है। फासिज्म संस्कृति पर आघात क्यों करता है इसके पीछे एक अनिवार्य कारण है। सारे विरोधों में से एक जो विरोध फासिज्म और साम्यवाद में है वह है सांस्कृतिक विरोध। साम्यवाद सारी राष्ट्रीय संस्कृतियों को उभरने और पनपने में योग देता है। फासिज्म विश्व को एक ऐसे अन्धकारयुग में डाल देना चाहता है जहाँ सारी संस्कृति के ध्वंसावशेष के रूप में केवल दो चीजें बच रहेंगी—वाद्यों में अपूर्व वाद्य लौहबूटों की खटखट और नृत्यों में अपूर्व नृत्य हिटलरी सैनिकों का 'गूज़स्टेप'। अतः सोवियत और जर्मनी के बीच का यह सांस्कृतिक विरोध बहुत बड़ा है।

जिस संस्कृतिमूलक चेतना की ओर ऊपर संकेत हुआ है वह उस समय जर्मन जनता में विशेष रूप से द्रष्टव्य थी जिस समय फासिज्म ने वहाँ पैर जमाये। उसी चेतना की आँख में धूल झोंकने के लिए फासिज्म 'आर्य संस्कृति' आदि के थोथे नारे लेकर उठा उसी तरह जैसे इटली ने अबीसिनिया को सभ्य और

सुसंस्कृत बनाने के लिए उस पर चढ़ाई की और जापान एशियाई संस्कृति का नामलेवा है !

हिटलरी फासिज्म ने अपना कारोबार 'शुद्ध आर्यत्व' के नारों के साथ खोला। यह बहुत बड़ा झूठ था। नृतत्त्व की सारी खोजें बताती हैं कि संसार में अब शुद्ध नहीं सिर्फ मिश्रित जातियाँ हैं।

हिटलरी फासिज्म ने अपने आप को आर्य संस्कृति का मसीहा करार दिया।

पर आर्य तो गुणियों का आदर करते थे और संस्कृतिमूलक सारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना उनका सहज धर्म था। हिटलरी फासिज्म में तो किस्सा ही कुछ और है। उन्होंने तो अपने बड़े से बड़े वैज्ञानिकों चिन्तकों कलाकारों लेखकों और कवियों को या तो मार डाला है या कालकोठरियों में सड़ने और यातनाएँ सहने के लिए डाल दिया है या उन्हें देशनिकाला दे दिया है। उन्होंने तो कला के सारे केन्द्रों, पुस्तकालयों, म्यूजियमों और दूसरी जगहों पर आग बरसायी है। उन्होंने तो पुराने स्थापत्य की यादगार इमारतों को तहस-नहस किया है। उन्होंने तो अपने यहाँ बाजार के बीचोबीच अपने महान् से महान् पुराने और नये साहित्यकारों की किताबों की होलियाँ विधिपूर्वक जलायी हैं। ये तो कला के पारखियों के कर्म नहीं हैं। आर्य तो कला के पारखी थे। इसी से जनता ने 'शुद्ध आर्यत्व' का अनुवाद अपनी भाषा में किया है 'बर्बरता'।

फासिज्म की उत्पत्ति और उसके विकास के पीछे काम करनेवाले ऐतिहासिक कारणों को अगर हम जानें तो फिर हमें उसकी बर्बरता की नितनयी कोंपलें फूटती देख आश्चर्य न होगा। हम तब जानेंगे कि जनसंस्कृति का गला घोंटने के लिए फासिज्म कोई सीमा नहीं स्वीकार करता। दिमित्रोफ कहता है यह युग जनक्रान्ति का है। यह कहने का मतलब सिर्फ इतना है कि इस युग की पहचान वर्ग संघर्ष का अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाना है। पूँजीपतियों, जमींदारों और श्रमजीवी-किसान वर्ग के बीच सतत चलते रहनेवाले संघर्ष की परिणति अब इस युग में होनी ही चाहिए। अब वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं जिनका जवाब पतनोन्मुख पूँजीवाद उसी रूप में नहीं दे सकता जिस रूप में अब तक देता आया है। उसके सामने सिर्फ दो सूरतें हो सकती हैं, या तो अपना तख्ता उलट जाने दे या मरने के पहले एक बार जनता के लहू का फाग खेल जाय। इसी तरह मरता हुआ पूँजीवाद हिंस्र फासिस्त साम्राज्यवाद की शक्ल अख्तियार करता है। पूँजीपतियों और किसान-मजदूरों के संघर्ष की भूमिका स्पष्ट है। आज की उत्पादन क्रिया में उत्पादन के साधन, कलें आदि प्रधान हैं और

मनुष्य गौण। हमेशा से यही बात थी कि जिसके हाथ में उत्पादन के साधन थे उसके हाथ में बड़ी महत्वपूर्ण चीज थी। उत्पादन के साधनों के बल पर पूँजी-पति सूदखोरी-मुनाफाखोरी करते हैं। श्रमजीवी यह जानते हैं, इसीलिए पूँजी-पतियों के हाथ से उत्पादन के साधन छीनकर वे एक अनावश्यक मुनाफाखोर वर्ग को मिटा देना चाहते हैं।

तो अब सारी लड़ाई इन्हीं उत्पादन के साधनों, यन्त्रों-कलों और जमीन के लिए है। पूँजीपतिवर्ग जानता है कि यह सब हाथ से निकल जाने का मतलब सोने की चिड़िया का हाथ से निकल जाना है। इसलिए वह उन्हें हाथ से भरसक जाने न देगा और श्रमजीवी वर्ग जानता है कि जब तक वे साधन अधिकृत नहीं कर लिये जाते और पूँजीपतिवर्ग को निकाल बाहर नहीं किया जाता तब तक दुनिया दुःखी रहेगी ही। यही लड़ाई अब अपने अन्तिम पर्व में है। इतिहास का कुछ ऐसा क्रूर व्यङ्ग है कि पूँजीपतियों ने अपनी कब्र खोदनेवाला आप पैदा कर दिया है। सो कैसे ?

पूँजीपति की जितनी लागत एक मजदूर पर आती है उससे ज्यादा आमदनी वह उसके जरिये करना चाहता है। लागत से उबरकर जितनी रकम बचती है वही मुनाफा है जो पूँजी बन जाता है। अपनी पूँजी बढ़ाने के दो तरीके पूँजी-पति के पास हैं। पहला यह कि मजदूर पर अपनी लागत कम करके अर्थात् मजदूर को कम मजदूरी देकर अपने मुनाफे का हाशिया बढ़ा ले। उसे मजदूर की तन्दुरुस्ती या बहबूदी का तो खयाल हो नहीं सकता। उसकी सारी दिलचस्पी तो इस बात में है कि मजदूर मरता-खपता काम करे और साथ ही इस बीच अपनी बीवी की मदद से आइन्दा इस चक्की में पेरे जाने वालों की एक फौज खड़ी कर दे! (अगर वह मजदूरों के क्रीड़ाविनोद का भी कोई प्रबन्ध करता है तो वह उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर नहीं बल्कि केवल इसलिए कि इस प्रकार वह मजदूर की कार्यशक्ति को बढ़ा सकता है और उसकी क्रान्तिभावना को बहलाये रख सकता है।) इन्हीं दो बातों का इन्तजाम करते हुए वह मजदूर की मजदूरी को और उस पर खर्च की जानेवाली रकम को न्यून-तम बना सकता है। ऐसा करने में उसका लाभ तो स्पष्ट ही है, पर इसमें साथ ही एक खतरा है जिस पर उसका ध्यान साधारणतः नहीं जाता। मजदूरों में क्षोभ जागता है और वह बेइन्साफी की तह में पहुँचने की कोशिश करने लगते हैं। 'वर्ग साहचर्य' और 'मनुष्य जाति की एकता' का ढिंढोरा पीटनेवाली परी कहा-नियाँ जो उसे सुनायी जाती हैं, उनमें विश्वास करने से वह इन्कार करता है।

अपनी पूँजी बढ़ाने का जो दूसरा तरीका पूँजीपति काम में ला सकता है वह अपना कारबार बढ़ाकर अर्थात् संख्या में अधिक मजदूरों का शोषण करके। यहाँ भी उसकी चाल सफल नहीं होती, पूँजीवादी असंगतियाँ आड़े आती हैं। शोषितों की जो फौज पूँजीपति खड़ी करता है वह सचमुच ही एक संगठित, फौजी जमात हो जाती है जो अपने अधिकारों से परिचित होती है और उन्हें मनवाना भी जानती है।

इस तरह पूँजीवाद अपनी कब्र खोदने वाला आप पैदा करता है। वर्ग संघर्ष की इसी पैनी भूमिका में हमें फासिज्म को देखना चाहिए।

फासिज्म पूँजीवाद की सबसे स्पष्ट और खूँखार शक्ल है इसमें शक और शुबहे की फिर कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती। देश का विभाजन दो स्पष्ट खेमे में हो चुकता है। दोनों फरीक एक दूसरे को अच्छी तरह, पास और दूर से पहचानते हैं, अपने अपने औज़ार भी वे तौलते रहते हैं। फासिज्म का मतलब है पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच खुल्लमखुल्ला, एलानिया लड़ाई। और चूँकि यह लड़ाई सजग वर्गचेतना के खिलाफ पूँजीवाद की अन्तिम लड़ाई है, इसलिए पूँजीवाद के पास अपने हथियारखाने में जो भी हथियार हैं उन सबको वह बाहर निकाल लाता है और बौखलाये हुए, घिरे हुए खूँखार रीछ की तरह लड़ता है। इस नङ्गी लड़ाई का इतना हिंस्र होना ही इस बात की दलील है कि वर्गसंघर्ष अपनी परिणति को पहुँच गया है।

फासिज्म पशुबल से तो लड़ता ही है मगर साथ ही साथ वह इस बात को भी जानता है कि निरा पशुबल जनता की ताकतों का मुकाबला नहीं कर सकता। उन गद्दार सोशल डेमोक्रैटों ने जिन्होंने आज से दो दशक पहले योरप भर में परिपक्व जनक्रान्तियों को पूँजीपतियों के हाथ बेंच दिया था, अपने कुछ पत्रों में इसे स्वीकार भी किया है। इस तरह फासिज्म को विवश होकर धोखे की टट्टियाँ खड़ी करनी पड़ती हैं, लोगों को बरगलाने और उनकी आँख में धूल झोंकने का प्रबन्ध करना पड़ता है। पूँजीपतियों के पास तो सारा पशुबल होता है, जेल, कोठरियाँ, हल्की मशीनगनें, झपाटेमार हवाई जहाज—फॉन रिबेनट्राप ने एक बार कहा था कि झपाटेमार हवाई जहाजों के इस युग में जनक्रान्ति की कल्पना करना नासमझी है—जनता के पास सिर्फ एक हथियार होता है और वह है एक ठोस वर्गचेतना, आग में तपी हुई, इस्पात सी मजबूत और लचीली।

फासिस्ट सरकार अपने प्रोपेगैंडा से धोखे और फरेब की टट्टी खड़ी करना चाहती है, क्योंकि अगर वह जनता में वर्गचेतना का उभार रोक सके तो वह इस

तरह उनको निरस्त्र कर सकती है। कला और संस्कृति की ओर फासिस्ट सरकार का क्या रुख हो, इस बात का निश्चय इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया जाता है कि जनता में वर्गचेतना का उभार रोका जाय। इसी के सहारे हम पेशीनगोई भी कर सकते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में फासिस्ट सरकार का रुख कैसा होगा।

जनता में वर्ग-चेतना का उभार रोकने का प्रयत्न असम्भव ही कहा जायगा क्योंकि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से ही वह उत्पन्न होती है और जब तक परिस्थितियों में मौलिक अन्तर न आयेगा, तब तक वर्ग-चेतना पैदा होगी और पोढ़ी होगी। परिस्थितियों को ज्यों का त्यों बनाये रख कर यह कल्पना करना कि जनता में वर्गचेतना न जागे, एक नामुमकिन चीज की कल्पना करना है। साथ ही श्रमजीवियों और किसानों की स्थिति तो उत्तरोत्तर विषम होती जाती है और वे क्रमशः उस विन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ वर्गचेतना अपनी रोटी के ही समान यथार्थ हो पड़ती है। इसके लिए फासिस्ट सरकार क्या कर सकती है? कुछ नहीं। फिर, वह वर्गचेतना का उभार भी नहीं रोक सकती और एक दिन जर्मन जनता अपनी सरकार की वर्गस्थिति को भलीभाँति समझ जायगी। वह दिन महत्वपूर्ण होगा।

उस दिन की कल्पना तक से फासिस्ट सरकार अपने लौहबूटों में काँप जाती है। वह दिन न आये, जनता कहीं उनकी नंगी शकल न देख ले इसीलिए वह चाहते हैं कि वर्गसंघर्ष को कुहासे से ढँक दें। इसीलिए गोबेल्स अपनी प्रोपेगैंडा की कलों को एक पल के लिए थमने नहीं देता। वे हर वक्त झूठ और फरेब की ऐसी चादरें बुना करती हैं जो फासिस्ट सरकार के सड़ते हुए घावों को ढँक सकें। पर दुःख तो यह है कि गोबेल्स की कलें तक ऐसी चादर नहीं बुन पातीं जो सब घावों को मूँद सकें। कहीं न कहीं से उघड़कर वह झाँकने ही लगता है।

रोगन, कलई, मुलम्मा, धुंध, कुहासा, स्मोक-स्क्रीन, ब्लैकआउट, भारी पर्दे—इन चीजों से फासिस्ट सरकार की 'सांस्कृतिक' चेष्टाओं का बोध होता है। कलई-मुलम्मे की कोशिशें और भी मुशकिल इसलिए हो जाती हैं कि पड़ोस में ही सोवियत संघ है जो अपनी जिन्दगी की मिसाल से ही मानों इन घावों को उघाड़े देता है। धुएँ के पीछे देखना मुशकिल है, मगर जो देख पाते हैं ऐसों की संख्या आज भी जर्मनी में बढ़ रही है।

योरप की सामाजिक क्रान्तियों के खून से रँगा हाथ लेकर फासिज्म रंगमंच पर आया। स्वाभाविक था कि इन क्रान्तियों की प्रेतात्मा उसे सताये। सामाजिक

क्रान्तियों के मूल में सदियों की परम्परा, क्रमिक विकास होता है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में छोटी बड़ी तब्दीलियाँ होती रहती हैं; उन्हीं के अनुसार चेतना में वृद्धि भी होती रहती है। ये ही सामाजिक परिवर्तन एक दिन क्रान्ति की शकल में आ जाते हैं। इसीलिए सामाजिक क्रान्ति की हत्या करनेवाला फासिज्म इतिहास को पीछे ढकेल ले जाना चाहता है। वह चाहता है कि व्यक्ति की भावनाओं को प्रागैतिहासिक, आदियुगीन पटरियों पर दौड़ाये क्योंकि इतिहास बतलाता है कि समाज में तब तक संघर्ष का बीजारोपण न हुआ था। व्यक्ति रहे सन् उन्नीस सौ बयालीस में, पर उसका मानसिक व्यापार उन सिक्कों से चले जो आज से हजारों बरस पहले के गुफाओं के हमारे पूर्वज काम में लाते थे! व्यक्ति आज के सामाजिक संघर्ष में रहे पर उसकी मान्यताएँ आज की-सी न हों! ऐसा तभी हो सकता है जब सारे राष्ट्र को उठाकर किसी विराट् रेफ्रीजरेटर में रख दिया जाय! फासिज्म अपने देश के साहित्य और अन्य प्रचार से ऐसा ही वातावरण तैयार करना चाहता है। व्यक्ति के संस्कारों को ऐसे अप्राकृतिक ढंग से मोड़ने की बात नात्सियों के ही दिमाग की उपज हो सकती थी!

मनुष्य के सारे सांस्कृतिक विकास की कुंजी यही है कि वह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के संघर्ष को हटाकर आगे बढ़े और प्राकृतिक शक्तियों से संघर्ष करने की भूमिका बनावे। मनुष्य जाति ने अब तक जितना सांस्कृतिक विकास किया है वह भी प्रकृति से संघर्ष करने में ही। उदाहरण के लिए वह रेडियो काफी है जिसे मैं अपने सामने रखा देख रहा हूँ और जिसने देशों की भौगोलिक दूरी को मिटा-सा दिया है, गा कोई लन्दन में रहा है और मैं अपने कमरे में बैठा बैठा एक यन्त्र का कान उमेठ रहा हूँ और गाना हजारों मील की दूरी को न-कुछ करके मुझे यों सुनायी दे रहा है जैसे मेरे सामने बैठकर ही गाया जा रहा हो। मनुष्य की सारी संस्कृति, सारी कला अपने वातावरण को समझते हुए, उससे प्रभावित होते और उसे प्रभावित करते हुए मनुष्य के आगे बढ़ने का इतिहास है। किसी भी महान् कलात्मक कृति का कोई मतलब ही नहीं हो सकता जब तक वह समाज को यानी मनुष्य जाति को आगे न बढ़ाये। समाज को आगे बढ़ाना, उसमें उथल-पुथल करके नयी दुनिया बनाने में लगे रहना ही कला के जिन्दा रहने की दलील है। निदान सारी कला को जीवन के यथार्थ से अनुप्राणित होना पड़ता है। और जीवन का यथार्थ ही वह चीज है जिससे फासिज्म बचना चाहता है। संस्कृत मनुष्य परतन्त्र नहीं रहना चाहता और फासिज्म मनुष्य को परतन्त्र बनाने का इच्छुक है, इसलिए वह सबसे पहले संस्कृति पर आघात करता है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि फासिज्म और संस्कृति का सहज वैर है। इसलिए किसी भी जगह फासिस्ट सरकार की पहली शर्त है कि वहाँ की जातीय संस्कृति पर छापा मारा जाय, वहाँ की कलाकृतियों, कलाभवनों को राख कर दिया जाय और उनकी कलात्मक परम्परा को जड़ से खोद फेंका जाय! फासिज्म कला और संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखता है, जिस घृणा के मूल में भय है। इस सत्य को अपनी रग रग में महसूस करते हुए ही स्पेन में दुनिया के अनेक क्रान्तिकारी कलाकारों और साहित्यकारों की एक टुकड़ी फ्रैंको के खिलाफ लड़ी थी। इसीलिए कॉडवेल और राल्फ फॉक्स और डेविड गेस्ट जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों ने अपनी जान दी। इसीलिए आन्द्रे मालरो, रेमों सेंडर, रैल्फ बेट्स और दूसरे सैकड़ों लेखक मैड्रिड और बार्सीलोना में अपनी अपनी जगहों पर डटे रहे।

एक ओर तो जर्मनी के बड़े से बड़े दार्शनिक, कलाकार, संगीतकार, कवि, औपन्यासिक, वैज्ञानिक फासिस्टों द्वारा निर्वासित हैं और दूसरी ओर जिनकी नात्सियों से निभ पाती है, वे हैं मात्र किराये के टट्टू। इन किराये के टट्टुओं में कुछ लोगों में इतनी ईमानदारी तो है कि वे साफ साफ कहते हैं कि हम जिसका नमक खाते हैं, उसी की-सी कहते हैं! गेरहार्ड शुमान अपने को फ्यूरर के घूँसे से ज्यादा कुछ नहीं समझता! सुनते हैं कि उसकी इस कविता पर बहुत प्रसन्न होकर हिटलर ने उसे विशेष पुरस्कार दिया था। कुछ लोग अपने को दिमागी स्टार्मट्रुपर मात्र समझकर सन्तुष्ट हैं! हांस जूस्त नामी महाशय का हाथ, संस्कृति का नाम सुनते ही, पिस्तौल के घोड़े पर पहुँच जाता है! सच है, फासिस्ट सरकार के संस्कृति-सम्बन्धी आश्वासनों की इससे स्पष्ट व्याख्या नहीं हो सकती।

अनंजियो और योने नागूची ने तो जैसे अपनी-अपनी फासिस्ट सरकार के हाथ अपने को बेच दिया। इन नामों की कद्र दुनिया एक वक्त करती थी, इस-लिए इनको लेकर अपना कनस्तर पीटने में फासिस्ट सरकार को सुविधा होती है। ये लोग और इन्हीं के भाई-बन्द हर फासिस्ट सरकार द्वारा इसीलिए पाले जाते हैं कि वे जाति-श्रेष्ठता के और दूसरे नारे लगावें। जर्मनी, जापान और इटली तीनों जगह का 'खून और तलवार' (Blood & Sword) वाला आन्दोलन ऐसों ही के नेतृत्व में फलता-फूलता है। इनका काम है कि रक्तपात और हिंसा की बातें चिल्ला-चिल्लाकर जनता को मानसिक तनाव की स्थिति में रक्खें। रवीन्द्र-नाथ टाकुर ने संस्कृति के प्रश्न को लेकर जो शब्द योने नागूची को लिखे थे

उनसे ज्यादा घनी प्रतारणा फासिज्म के एक क्रीतदास को नहीं मिल सकती। उन शब्दों का और भी अधिक मूल्य इसलिए है कि वे विश्वसंस्कृति के एक महान् प्रहरी के शब्द हैं।

जो नागूची जैसे ख्यातिलब्ध कवि और अनंज़ियो जैसे औपन्यासिक हैं जिनकी गरिमा में अपने को लपेट कर फासिस्ट सरकार संसार के सामने जा सकती है वे तो अपनी अपनी सरकार के कारनामों पर संस्कृति का मुलम्मा चढ़ाया करते हैं। वे अगुवा अपनी फासिस्ट सरकार की नीति का अधिकारी रूप से प्रतिपादन करनेवाले लोग हैं—यानी फासिस्ट सरकार के 'संस्कृति विभाग' के कर्मचारी। दूसरे प्रकार के लोग हैं जो 'रचनात्मक साहित्य' की सृष्टि करते हैं। और जो 'रचनात्मक' साहित्य फासिस्ट देशों से निकला है उससे अधिक ध्वंसात्मक साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। उसमें परी कहानियों, थोथे रहस्यवाद, धर्मांधता और काम-लिप्सा की ही चर्चा है। नात्सी जर्मनी का 'महान् लेखक' हान्स हाइन्ज़ इवर्स केवल यौन विषयों पर ही अपनी लेखनी दौड़ाता है और उसकी सबसे महान् कृति 'कामसूत्र' है। ऐसा ही साहित्य वहाँ क्यों रचा गया है, इसके पीछे तीन बड़े कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि उस वातावरण में ऐसे ही साहित्य की सृष्टि हो सकती है। रूसी संगीतकार प्रोकोफियेफ के शब्दों में कला और संस्कृति की दृष्टि से नात्सी जर्मनी की आबहवा खराब हो गयी है।

दूसरा कारण यह है कि फासिस्ट सरकार एक गुब्बारे के समान है जो ऐसा ही साहित्य सहन कर सकती है जिसमें चुभनेवाली चीजें न हों।

तीसरा कारण है कि फासिज्म ऐसा ही सहित्य पैदा करना चाहता है। चाहे वह थोथा रहस्यवाद हो, चाहे धर्मांधता और चाहे कामुकता का घना मुश्की वातावरण, सबमें एक चीज जो यकसाँ पायी जाती है वह यह है कि उनसे जीवन के यथार्थ को चुन चुनकर निर्वासित कर दिया गया है। कामुकताभरे साहित्य का मुश्की वातावरण तो विशेष कर इस बात की क्षमता रखता है कि जनता के मस्तिष्क पर धुंध की तरह छा जाये; इसीलिए उसकी बाढ़ भी विशेष है।

बहुत सी परी कहानियाँ जो नात्सी जर्मनी में रची गयी हैं उनमें सोती हुई राजकुमारी वाली मशहूर कहानी दोहरायी जाती है। एक राजकन्या जो अनुपम सुन्दरी होती है किसी अभिशाप के कारण ऐसी नींद में सोयी रहती है, जिसका अन्त तभी हो सकता है जब कि चमत्कार करने की शक्ति रखनेवाला राजकुमार आकर उस राजकन्या का मुँह चूमे। ऐसी सारी कहानियों में अन्योक्ति की ऐसी

योजना होती है कि सब में हिटलर ही वह राजकुमार होता है और जर्मनी वह निद्रिता राजकन्या। इस तरह हिटलर का स्पर्श जर्मनी के लिए वरदान बन जाता है।

अगर हम इस पृष्ठभूमि के सहारे संस्कृति के ऊपर की गयी फासिस्ट बर्बरताओं को देखें तो हमें इन तमाम बातों पर आश्चर्य न करना पड़ेगा। तब हम जान सकेंगे क्यों

—हिटलर के गिरोहों ने संसार के सर्वश्रेष्ठ लेखकों जैसे बालज़ाक, गेटे, वाल्तेयर, अनातोल फ्रान्स, ज़ोला, मोपासाँ, हाइने, गोर्की की पुस्तकों की होलियाँ जलायी हैं; जिसने कभी भी संस्कृति और आजादी की बात की है, फासिज्म उसको अपना दुश्मन मानता है: जब किसी लेखक को मरे हुए दो सौ साल हो चुकते हैं तो वह उसकी पुस्तकों से बदला लेता है (जर्मनी : गेटे !);

—हाइने की प्रसिद्ध कविता 'डी लोरेलाई' जो सारी जर्मनी को कण्ठस्थ है स्कूल की पुस्तकों में किसी अज्ञात कवि की रचना के रूप में प्रकाशित है;

—आइन्सटाइन, मैक्स बार्न, टामस मान, लियों फख्तवांगर, मैक्स राइनहार्ट, हाइनरिक मान, आस्कर फ्रीड, गोल्ड शिमड, स्टिफान ज्वाइग, आर्नल्ड ज्वाइग, लियनहार्ड फ्रैंक और सैकड़ों दूसरे साहित्यकार जिनकी रचनाओं से ही बाहर की दुनिया योरपवालों की धड़कन और थरथरी महसूस करती रही है अपने देश से निर्वासित हैं;

—इटालियन सरकार अपने औपन्यासिक इगनैत्सियो सिलोनी के और फ्रैंको की सरकार रेमों सेंडर के खून की प्यासी है;

—फ्रैंको की सरकार ने स्पेन के राष्ट्र कवि लोर्का को गोली से उड़ा दिया; जापान की फासिस्ट सरकार ने अपने देश के ताकाजी कोबायाशी को गोली से उड़ा दिया; नात्सी सरकार ने जर्मनी के क्रान्तिकारी कवि एरिक म्यूसम को एक कन्सेनट्रेशन कैम्प में और नाटककार अर्न्स्ट टोलर को न्यूयार्क के एक होटल में मरवाकर यों टाँग दिया कि ऐसा जान पड़े कि उन्होंने आत्मघात किया है;

—नात्सियों ने यासनाया पोलयाना में टालस्टाय के मकान की छीछालेदर की जिसे सोवियत सरकार एक विश्वनिधि की तरह संजो रही थी; जरा सोचिए खुद टालस्टाय की कुर्सियों, मेजों और 'अन्ना' जैसी कलाकृति की पांडुलिपि से आग जलायी और टालस्टाय के काम करने के कमरे में अपने घोड़े बाँधे;

—क्लिन के शहर में संगीतकार चाइकोव्स्की, टागनरोग में चेखोव और और लिटिल रशिया में गोगोल के मकानों को आग लगायी ;

—जापान-अधिकृत कोरिया में कोई अपनी मातृभाषा न सीख सकता है न काम में ला सकता है और होली-दिवाली जैसे राष्ट्रीय पर्वों को मनाने की मनाही है।

विश्व की जनता फासिस्ट साँप को जो उसकी सांस्कृतिक निधियों को डसना चाहता है, कुचलेगी ही।

हंस: सितम्बर १९४२

देशी फासिज्म

★

'हंस' के एक अंक में भारतीय जननाट्य संघ के प्रधानमन्त्री निरञ्जन सेन और प्रगतिशील लेखक, पत्रकार और सिनेमा-निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास का विज्ञप्तिमूलक लेख 'प्रगतिशील साहित्य और संस्कृति पर हमला' प्रकाशित हुआ था। यद्यपि उस लेख का उद्देश्य, देश के कोने-कोने में कला और संस्कृति पर होनेवाले सरकारी हमलों का एक रेखाचित्र मात्र उपस्थित करना है, तथापि यह बात बिलकुल निःसन्देह है कि उससे जो चित्र उभरकर हमारी आँखों के सामने आता है वह रेखाचित्र नहीं, कला और संस्कृति के पाशविक फासिस्ती दमन का एक गहरे भारी रंगों का तैलचित्र है! सरकारी और बिड़ला-डालमिया जैसे महाजनों के पैसे से निकलनेवाले पत्र तो इस बर्बर दमन की कहानी को सामने आने ही नहीं देते। यही कारण है कि सामान्य जनता को यह पता ही नहीं है कि उसी के चुने हुए नेता लोग, नये 'स्वाधीन' भारत की सुरक्षा के नाम पर, आजादी के नाम पर कैसे आजादी का गला घोंट रहे हैं।

जिस लेख का हमने ऊपर हवाला दिया है, उसमें केवल जननाट्य संघ पर होनेवाले हमले का उल्लेख है, लेकिन उतने से ही अन्याय की रगें काफी साफ दिख जाती हैं और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आज के सत्ताधारियों के हाथ में नयी संस्कृति को खतरा ही खतरा है। विरोध का स्वर उन्हें जहाँ तनिक-सा भी सुन पड़ेगा वहाँ वे अपने दमन की पूरी शक्ति के साथ तैयार मिलेंगे। हाँ, उनके लिए तनिक भी डरने की बात नहीं है जिन्होंने अपनी आत्मा बेचकर अपनी 'आजादी' खरीदी है। वह 'आजादी' आजादी नहीं पूँजीपतियों की गुलामी है, असत्य और अन्याय के आगे आत्मसमर्पण है, आँख के सामने अत्याचार देखकर भी मुँह न खोलने की गर्हित प्रतिश्रुति है, नैतिक साहस पर हीनतम अव-

सरवादिता की विजय है, पुंस्त्वहीनता है। अगर ऐसी बात न हो तो आज की सामाजिक स्थिति में ऐसी एक नहीं एक हजार बातें हैं जिनके विरुद्ध प्रतिवाद करना अपनी सजग मानवता का परिचय मात्र देना है। अगर हम यह नहीं चाहते कि हमारे देश में जनतन्त्र का गला घोंट दिया जाय और फासिस्ती शासन व्यवस्था कायम हो जाये तो हमें इसके लिये निरन्तर संघर्ष करना पड़ेगा। कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी हमें अपनी आजादी छिनने से बचानी होगी, क्योंकि फासिज्म का पहला आक्रमण उसी पर होता है और उसी की शुरुआत आज हमें अपने देश में दिखायी दे रही है।

भारतीय जननाट्य संघ का अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने 'भारत की आत्मा' और 'अमर भारत' नाम के नृत्य-वाद्य-समन्वित मूक अभिनय देखे हैं और उनके लोकगीत सुने और लोक-नृत्य देखे हैं, वे इस बात को जानते हैं कि जननाट्य संघ इस दिशा में एक अभिनव क्रान्तिकारी उद्योग है जिसका दूरव्यापी उद्देश्य नयी सांस्कृतिक मान्यताओं के आलोक में पुरानी संस्कृति का अभ्युत्थान और तात्कालिक उद्देश्य क्रान्तिकारी भारत की नींव बनाने में, रूपरेखा तैयार करने में कला का योग देना है। अब जरा एक नजर में यह भी देख जाइए कि इसी जननाट्य संघ के खिलाफ सरकार कैसी खड्गहस्त है :

हमारे प्रान्त में प्रान्तीय जननाट्य संघ के मन्त्री राजेन्द्रसिंह के विरुद्ध वारंट जारी है। आगरा शाखा के मन्त्री बिशन खन्ना को पहले ही गिरफ्तार किया जा चुका है। * लेख में कहा गया है कि 'दंगों के दौरान में और बाद में भी आगरा

* अभी हाल में उनकी हेबियस कारपस की अपील हाइकोर्ट से मंजूर हुई है और उन्हें छोड़ने का आदेश दिया गया है। यह बात दिमाग पर जोर लगाकर सोचने की है कि सरकार जिसे अपराधी करार देकर जेल में ठूँस देती है, न्यायालय और वह न्यायालय जो स्वयं स्वतंत्र नहीं है और कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश स्थितियों में शासक वर्ग के हित में न्याय करता है—उसे निर्दोष स्वीकार करता है और छोड़ने का आदेश देता है। इससे प्रकट है कि सरकार का पक्ष कितना कमजोर रहा होगा। विद्वान् न्यायाधीश ने फैसले में कहा कि अभियुक्त पर लगाये गये अभियोग अस्पष्ट हैं और सुरक्षा कानून का उद्देश्य मजदूरों में चेतना फैलाने पर रोक लगाना नहीं है।

न्याय कुछ कहे, मगर सरकार के चरों को तो कुछ और ही आदेश मिले हुए हैं!

के ट्रूप ने सांप्रदायिक एकता के लिए प्रशंसनीय कार्य किया था।' खुद मन्त्रियों ने भी आगरा जन-नाट्यसंघ के कार्य की प्रशंसा की थी, किन्तु आज जब वे जनता के दुःख और निराशा को वाणी प्रदान करते हैं तो वे राष्ट्र के लिए खतरा बन जाते हैं !

'इलाहाबाद में वहाँ की शाखा के संस्थापक सदस्यों में से एक, परमानन्द गौड़ को पकड़कर नजरबन्द कर दिया गया है। कानपुर के शाखा के मन्त्री श्री चक्रवर्ती के विरुद्ध वारण्ट जारी है।........अलीगढ़ और बस्ती में तो जैसे बाकायदा आतंक का राज्य कायम हो गया है और सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करनेवालों का ढूँढ़-ढूँढ़कर शिकार किया जा रहा है। दिल्ली की शाखा ने दङ्गों के दौरान में, वहाँ की कांग्रेस कमेटियों के तत्वावधान में, पुरानी और नयी दिल्ली के प्रायः प्रत्येक हल्के में अपने प्रदर्शन किये......किन्तु सङ्कट के हटते ही जन-विरोधी शिकञ्जा कसना शुरू हुआ.........गृह विभाग ने बाकायदा एक ऐसा विभाग खोल रखा है जिसमें सङ्घ के प्रत्येक सदस्य की पूरी जन्म-कुण्डली रहती है।

'बम्बई में मराठी जत्थे के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया है......

आंध्र में जो दमन हो रहा है, वह आँखें खोल देनेवाला है। 'मा भूमि' नाटक को जिसमें निजाम के विश्वासघात और रजाकारों के अत्याचारों का दिग्दर्शन है जब्त कर लिया गया है। जब्ती से पूर्व यह नाटक नौ महीने के भीतर पचास लाख लोगों के सामने खेला जा चुका है। १९४८ में आंध्र नाटक-कला-परिषद् की ओर से यह नाटक पुरस्कृत हो चुका है। कुछ मास पूर्व, मद्रास सरकार के गवर्नमेंट हाउस में इसका एक विशेष प्रदर्शन किया गया था... मन्त्री गोपाल रेड्डी ने प्रसन्न होकर ११६) की थैली भेंट की और मंत्री कुरमैया तथा वेंकटराव ने, सार्वजनिक रूप से इस नाटक की और जन-नाट्यसंघ के सदस्यों की प्रशंसा की। किन्तु, अब इस नाटक को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है—उस नाटक को जो निजाम और रजाकारों की कलई खोलता है !!!......राष्ट्र की सुरक्षा के नाम पर आंध्र के प्रायः सभी सांस्कृतिक कार्यकर्त्ताओं को पकड़कर बन्द कर दिया गया है। उनके प्रदर्शनों को देखने के लिए आनेवाली जनता का अश्रुगैस, लाठी और गोलियों से स्वागत किया जाता है !......

'कलकत्ते में, दिगिन बेनर्जी के नाटक 'वस्तुभीत' पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। प्रतिबन्ध से एक वर्ष पूर्व यह नाटक कलकत्ता तथा आसपास के

इलाकों में खेला जा चुका है।.. ...सजलराय चौधरी बङ्गाल की एक सुप्रसिद्ध फिल्म कम्पनी के सहायक-निर्देशक और जन-नाट्यसङ्घ के सदस्य हैं। उन्हें बंगाल जन-सुरक्षा कानून के मातहत, बिना कोई आरोप लगाये, गिरफ्तार करके नजरबंद कर दिया गया है......

'गत फरवरी में स्टेनगन और रिवालवरों से सुसज्जित तीस व्यक्तियों के एक दल ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के युवकों के सम्मेलन में आने वाले प्रतिनिधियों के स्वागतार्थ किये गये जन-नाट्य संघ के आयोजन पर हमला किया था......जिसमें जन-नाट्यसंघ के दो सदस्य मारे गये, दो बुरी तरह जख्मी हुए जिनमें जननाट्य सङ्घ के जेनरल मन्त्री श्री निरञ्जन सेन भी थे।...खुले में, पुलिस की आँखों के ठीक सामने, हत्यारे हमला करते हैं।

अब हम फिर यह पूछना चाहते हैं कि अगर यह फासिज्म नहीं तो और क्या है ? इस वृत्तान्त के बाद क्या आपके कान में भी जर्मन फासिस्त हान्स जोस्त के ये शब्द नहीं बज रहे हैं : संस्कृति का नाम सुनते ही मेरा हाथ अपने रिवालवर की मूठ पर पहुँच जाता है !' क्या वह इतिहास इतनी जल्दी लोगों को भूल जायगा, वह इतिहास जो कि इतिहास नहीं आज का निर्मम, कान को बुरा लगनेवाला लेकिन सोलहो आने सच, यथार्थ है ?

पत्र-पत्रिकाओं, साहित्य, नाटकों, नृत्यों, बैले, कथाओं और पवाड़ों, बिदेसिया और होरी से आगे बढ़कर दमन की चक्की ने अब फिल्मी दुनिया को भी समेट लिया है। अब सिनेमा-जगत् में भी पुलिसराज कायम करने की तैयारियाँ हो रही हैं। उसकी कहानी यह है।

बँगला के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री मनोज बसु के विख्यात उपन्यास 'भूलि नाइ' (भूला नहीं हूँ) की हाल ही में फिल्म बनायी गयी है। उपन्यास का विषय है १९०५ का राष्ट्रीय आन्दोलन। लेखक ने सचाई की तसवीर देनी चाही है, इसलिए उसने उस जमाने के पुलिस-जुल्म की कहानी को भी भाषा दी है। **सरकारी सेंसर बोर्ड ने इस चित्र को रद्द कर दिया है।**

चित्र सचमुच जनता के स्वार्थ के खिलाफ है या नहीं, इसकी जाँच करने के लिए एक कमेटी बनायी गयी है। उस कमेटी में कौन महानुभाव हैं, यही नजर भरकर देख लेने से सारी बात समझ में आ जायेगी और हमारी ओर से किसी टीका-टिप्पणी की जरूरत न होगी। कमेटी में हैं : पुलिस कमिश्नर एस० एन०

चटर्जी, डिप्टी पुलिस कमिश्नर पी० के० सेन, बंगाल मिल-मालिक संघ के अध्यक्ष एस० सी० राय, खुफिया-विभाग के डा० सुधामय दत्त और बंगाल पावर्स (काला कानून) की सिलेक्ट कमेटी के जे० सी० गुप्त।

इस कमेटी के सम्बन्ध में प्रोफेसर मन्मथ बोस ने कहा : 'सरकार सिनेमा-जगत् में राजनीतिक 'गंदगी' (!) बन्द करने पर कमर कसे है। **इसी लिए साहित्यकारों-कलाकारों के बदले पुलिस-कमिश्नर को लेकर 'संस्कार-कमेटी' बनी है !'**

जैसे तत्वों को लेकर कमेटी की रचना हुई है, उनसे और क्या आशा की जा सकती थी ! हमें तो यह बात नितान्त स्वाभाविक लगती है, इसमें हमें रत्ती-भर आश्चर्य नहीं होता कि इस कमेटी ने 'नवजात राष्ट्र' की सुरक्षा के विचार से 'भूलि नाइ' को रद्द कर दिया ! आप को भी आश्चर्य न हो यदि आप इस बात पर ध्यान दें कि 'नवजात राष्ट्र' ये दो शब्द मुट्ठी भर पूँजीपति और सामंती शोषकों के पर्याय हैं, उनके जिनकी सत्ता पुलिस की शक्ति पर ही आधारित है। हमारे वे कला-कारगण जिनका हृदय समुद्र की तरह (या मरुस्थल की तरह या चरागाह की तरह !) विशाल और उद्गम स्थल पर नदी के जल की तरह शुद्ध और शीतल है, हिमालय के शिखर पर आसीन होकर वहाँ से वर्ग-संघर्ष को न देख पायें तो यह और बात है, अन्यथा 'भूलि नाइ' जैसे राष्ट्रीय, स्वाधीनता-प्रेमी, प्रगतिशील चित्र का रद्द किया जाना एकदम शुद्ध वर्ग-संघर्ष है जिसमें रत्ती-भर भी मिलावट नहीं है।

इस घटना के सम्बन्ध में देखिए स्वयं मनोज बसु ने क्या कहा है, उनके शब्दों में कैसी मार्मिक पीड़ा बोल रही है :

'हम खुश हैं कि आजादी मिली है, मगर जिन क्रांतिकारियों ने देश के लिए अपने प्राणों की आहुति दी, उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की आजादी भी लुप्त हो चली है।'

आप जानते हैं, कांग्रेसी सरकार ने अपनी इस जनतन्त्र विरोधी, संस्कृति-विरोधी, फासिस्ती हरकत की सफाई देते हुए क्या दलील पेश की है ? उसने कहा—

'मौजूदा हालत में संघर्षोन्मुख फिल्म दिखलाने से राष्ट्रीय सरकार के खिलाफ संघर्ष का भाव पैदा होगा !'

कहते हैं कि पुलिस-कमिश्नर ने कहा—'आजकल पुलिस-फौज को किसी तरह नीचा दिखाना ठीक नहीं।'

इसके उत्तर में जब सिनेमावालों की ओर से यह कहा गया कि 'भूलि नाइ' चित्र में राष्ट्रीय आन्दोलन की ही एक सच्ची कहानी को रूप दिया गया है और इतना ही नहीं अँग्रेजी अमलदारी के पुलिस जुल्म और उसके खिलाफ जनता के प्रतिरोध की कहानी हमारे राष्ट्रीय चरित्र को दृढ़ करने ही में सहायक होगी, तब इसके विरोध में कांग्रेसी, 'राष्ट्रीय' सरकार की ओर से, उन लोगों की ओर से, जो अभी कल तक आजादी के आन्दोलन में आगे आगे थे, गजरे पहनते थे, जिनके नामों की जय-जयकार होती थी, जो कुछ कहा गया वह आजादी की लड़ाई के साथ घृणिततम विश्वासघात का एक छोटा-सा उदाहरण है। उन्होंने कहा—

'अँग्रेजी अमलदारी की पुलिस को लेकर ही तो हमारा काम चल रहा है। इसलिए पुलिस के प्रति घृणा के प्रचार को बन्द करना होगा।'

वर्ग-संघर्ष अगर यह नहीं तो और क्या होगा ! ऐसा वर्ग-संघर्ष जिसने नैतिक हीनता को अपनी सीमा पर पहुँचा दिया है ! इतिहास साक्षी है कि जो सत्ताधारी ऐसी बात करने लग जाते हैं उनपर शब्द के तर्क का, न्याय के तर्क का, कोई असर नहीं रह जाता ; वे शक्ति के उपासक हो जाते हैं और अकेला शक्ति का तर्क ही उनकी समझ में आता है !

'भूलि नाइ' वाली यह घटना अपने आप में जितनी भयानक है वह तो है ही, वह और भी भयानक है सिनेमा-जगत को पूरी तरह अपने कब्जे में ले लेने की सरकारी कार्रवाइयों के पूर्वाभास के रूप में।

यह गम्भीर आशंका की बात है कि पच्छिमी बंगाल [और इसी प्रकार बम्बई के भी] फिल्म सेंसर बोर्ड की एक कमेटी ने 'फिल्मों से राष्ट्र के पुनर्निमाण, 'ऊँची फिल्म कला की रचना' 'अवांछनीय फिल्मों के दमन' आदि के लिए सरकार के हाथ में 'विशेष अधिकार' (अपार क्षमता) देने की सिफारिश की है।

यह 'विशेष अधिकार' हमारे लिए नयी चीज नहीं है। अब हम इसका चेहरा खूब अच्छी तरह पहचानते हैं।

'दंगा', चोरबाजार और गुंडागिरी रोकने के लिए बनाया गया विशेष-अधिकार आर्डिनेंस (काला कानून) आज किसके खिलाफ काम में लाया जा रहा है, उसे सभी अपार क्षोभ और पीड़ा के साथ देख रहे हैं। जिन समाज-विरोधी

तत्वों के उन्मूलन की घोषणा के साथ यह आर्डिनेंस बना था, उनका बाल तक बाँका नहीं हुआ है। वे पहले ही की तरह मूछों पर ताव देते घूम रहे हैं। चोर-बाजार का अखंड साम्राज्य कायम है, गुंडागिरी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है और दंगे का पोषण करनेवाले लोग और संस्थाएँ, जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, मजे में अपना काम किये जा रहे हैं, उसके आधे खुले आधे छिपे संघटन धड़ल्ले के साथ बनते जा रहे हैं, पुराने संघटन जो मौसम खराब होने की वजह से जरा दबे पड़े थे, फिर शान से उभर रहे हैं, उनके नये-नये अखबार निकल रहे हैं, बिक रहे हैं, जहर फैला रहे हैं, वातावरण को गंदा बना रहे हैं। यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि जिन लोगों पर राष्ट्रपिता की हत्या का अभियोग हो, उन्हें यों हर तरह की सुविधाएँ मिलें।

इस तरह हम देखते हैं कि 'दंगा, चोरबाजारी और गुंडागिरी रोकने के लिए' सरकार ने जो विशेष अधिकार अपने हाथ में लिये थे उनका इस्तेमाल 'दंगा चोरबाजारी और गुंडागिरी रोकने के लिए' नहीं, सरकार से भिन्न मत रखनेवालों के अंधे दमन के लिए किया गया, और हमने देखा कि विशेष अधिकार के अन्तर्गत 'गुंडे' की परिभाषा में बड़े-बड़े किसान और मजदूर नेता, कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट और दूसरे वामपक्षीय दलों के लोग, लेखक, कवि, गायक, अभिनेता, पत्रकार, फिल्मनिर्देशक, कांग्रेस के पुराने नेता, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पुराने सदस्य, धारा सभा के सदस्य, विधान परिषद् तक के सदस्य सब आ गये—और जेलें इन लोगों से भर गयीं!

फिल्म के क्षेत्र में जिस विशेष अधिकार या क्षमता की माँग की जा रही है उसका कैसा इस्तेमाल किया जायगा, 'भूलि नाइ' के प्रति सरकार का रुख उसका एक हलका-सा संकेत है; उस विशेष अधिकार के अन्तर्गत 'अवांछित' फिल्में कौन-सी होंगी यह बताने की आवश्यकता नहीं। 'भूलि नाइ' तो ऐसी एक 'अवांछित' फिल्म है ही, और फिर इस बात की ही क्या गारंटी है कि 'गुंडा' की जैसी परिभाषा की गयी वैसी ही अब 'अवांछित' की न की जायगी? जैसे 'गुंडे' की परिभाषा में असली गुंडे नहीं आते, भलेमानस आते हैं (जिनका अकेला अपराध यह होता है कि वे किसी के हाथ अपनी आत्मा नहीं बेंचते, किसी पद की उन्हें लालसा नहीं होती, अपने स्वतन्त्र चिन्तन के लिए वे कष्ट सहर्ष वरण करते हैं।) वैसे ही सरकार के मत में 'अवांछित' चित्र वे नहीं हैं जो समाज को, विशेषतः युवक समाज को, घोर चरित्रहीन और नपुंसक बनाये डाल रहे हैं, उनमें बुरी-से-बुरी समाज-विरोधी भावनाओं का संचार कर रहे हैं, दिन रात अश्लील

गानों और नाचों और गर्हित संकेतों से उनकी वासना को उत्तेजित कर रहे हैं। नहीं, वे तो बड़े निर्दोष हैं, जनता का मनोरंजन ही उनका उद्देश्य है, उनमें भला क्या बुराई है, उनमें 'अवांछित' क्या है! 'अवांछित' तो वे चित्र होंगे जो जनता में जाग्रति फैलाएँगे, उसमें उसके अधिकारों की चेतना भरेंगे, उसे पूँजीपति के, जमींदार के, राजा के, सरकार के अन्याय और उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होने का संदेश देंगे, आज की घोर काली अमानिशा को चीरकर नये विहान की ओर बढ़ने के लिए उसका आवाहन करेंगे,—वे चित्र होंगे 'अवांछित'!—सोलहो आने 'अवांछित'!

हाँ, 'अवांछित' तो वे होंगे, मगर किसकी दृष्टि से?—जनता की दृष्टि से नहीं, शोषकवर्ग की दृष्टि से।

आज की शासन व्यवस्था में दमन का वह एक ही तर्क है जिससे एक ओर अच्छे राजनीतिक कार्यकर्ता और विचारक 'गुण्डे' घोषित करके जेल में सड़ाये जाते हैं जब कि समाज-विरोधी लोग (दंगाई और गुण्डे और अनाजचोर-कपड़ाचोर) छुट्टे साँड़ों की तरह घूमते हैं, और दूसरी ओर श्रेष्ठ, जनरुचि का परिष्कार करनेवाली, प्रगतिशील फिल्में 'अवांछित' घोषित करके दबा दी जाती हैं जब कि 'रतन' और 'दिल' और 'शहनाई' और 'खिड़की' जैसी भोंड़ी, कामोत्तेजक और अश्लील फिल्में ठाठ के साथ चलती हैं, लाखों-करोड़ों लोग उन्हें देखते हैं। वे 'अवांछित' नहीं हैं, कोई उन पर उँगली नहीं उठाता यद्यपि उनसे राष्ट्र के चरित्र का भीषण अधःपतन हो रहा है। उनसे जनता की कलात्मक रुचि का भयङ्कर सत्यानाश हो रहा है, क्योंकि हीन-से-हीन, गंदे-से-गंदा मनोरञ्जन करना ही उनका उद्देश्य है। राष्ट्र के नैतिक निर्माण पर उनका क्या दुष्प्रभाव पड़ रहा है इसे देखने की फुर्सत सरकार को नहीं है। वे सरकार की दृष्टि में 'अवांछित' नहीं हैं और क्यों हों! सरकार ऐसे ही चित्र (ऐसा ही साहित्य, ऐसी ही कला) तो चाहती है जो जनता की सहज वृत्तियों के निम्नतम स्तर पर उतरकर उसको अपनी मांसल छलना के मायाजाल में इस बुरी तरह उलझा लें कि उसे दूसरी गंभीर, आवश्यक बातों पर ध्यान देने के लिए अवकाश, शक्ति और रुचि ही बाकी न रहे। यह कड़वी मगर सच्ची बात है कि सरकार जान-बूझकर ऐसे चित्रों को प्रश्रय देती है और सामाजिक संघर्ष ज्यों-ज्यों तीव्र से तीव्रतर होगा त्यों-त्यों इस तरह की रचनाओं की और भी बाढ़ आयेगी, फिल्म के क्षेत्र में, साहित्य और अन्य कलाओं के क्षेत्र में, सभी क्षेत्रों में।

सरकार ने 'संस्कार कमेटी' बिठा दी है जरूर, लेकिन वह इन दूषित प्रवृ-

त्तियों का संस्कार कभी नहीं करेगी, वास्तव में जिनका संस्कार अपेक्षित है। अन्यथा वह दिन अब दूर नहीं है (बल्कि अपने कुछ फिल्मनिर्देशक मित्रों की बात के आधार पर कह सकता हूँ कि वह दिन बहुत हद तक आ गया है, आज भी है) जब लोग भोंडे, कुरुचिपूर्ण मनोरंजन के अलावा और कुछ पाना कबूल ही न करेंगे। 'भूलि नाइ' जैसी फिल्मों को रद्द करके और अपने लिए सेंसर के 'विशेष अधिकार' की माँग करके सरकार हमको उसी सांस्कृतिक सर्वनाश की ओर ले जा रही है।

इसीलिए बंगाल के कलाकार जी-जान से सरकार के इस अनधिकार हस्तक्षेप का विरोध कर रहे हैं।

इस सम्बन्ध में विख्यात साहित्यकार ताराशंकर बनर्जी ने कहा :

'अंग्रेजी अमलदारी में सिनेमा नियंत्रण की जो व्यवस्था थी, उसके खात्मे की ही माँग हम कर रहे थे। राष्ट्रीय सरकार का मतलब यह तो नहीं है कि हर क्षेत्र में हम उसी की निर्धारित राह पर चलें। दंड-मुंड का मालिक बनाकर उन्हें गद्दियों पर नहीं बैठाया गया है। देश की जिस लाखों लाख जनता ने जंगे आजादी में कुर्बानियाँ की हैं उस पर अविश्वास करने का अधिकार उन्हें किसने दिया है? अगर कला में सुधार करने की सचमुच ही जरूरत है तो जिन साहित्यकारों और कलाकारों ने कला की रचना की है, वे क्या यह काम नहीं कर सकते?'

विख्यात अभिनेता अहीन्द्र चौधुरी ने कहा—

'सरकार के इस बेहूदा प्रस्ताव का विरोध करने की इच्छा तो नहीं, मगर डर है कि दमन नीति का यह अंकुर एक दिन विशाल विषवृक्ष बन जायगा। कैंची चलाने के अलावा सरकार ने सिनेमा कला के लिए कुछ भी नहीं किया है। उसी 'कैंचीधारी' संस्था को और भी अधिकार दिया जा रहा है!'

प्रो० मन्मथ बसु ने कहा—

'बड़े-बड़े आदर्शों की बात करके धाँधली दूर करने के नाम पर सरकार हमारे हाथ-पाँव जकड़कर सत्ता की गद्दी पर बनी रहना चाहती है।'

असल बात यही है। यही कारण है कि आज उनके चलते केवल उन फिल्मों, नाटकों, नाच-गानों, चित्रों, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं की खैरियत है जो नयी चेतना से शून्य हैं, जिनमें आज का वास्तविक, यथार्थ सामाजिक परिवेश और उसमें जनता के दायित्व का बोध नहीं है; जो पाठक और दर्शक और श्रोता को आज के भारत से, भूख, गरीबी, दमन, ब्लैकमार्केट और अनाहार मृत्यु से हटाकर या

तो घृणिततम कामुकता के पंक में फँसा दें या प्राचीनकालीन, मौर्ययुगीन या बुद्धकालीन या गुप्तकालीन सुवर्णयुग के स्वप्नलोक की सैर करायें जब कि भारत धनधान्य से पूर्ण था, उसे किसी चीज की कमी नहीं थी और वह कला व संस्कृति के उच्चतम शिखर पर था, आदि (पौराणिक फिल्मों की बहुलता भी द्रष्टव्य है) जो आज की नग्न दीनता और श्वासरुद्ध त्रास की प्रेतछायाओं को किसी मंत्रबल से भगाने में योग दें ; जो अपनी हीनतम अवसर-वादिता के वशीभूत होकर झूठी आशाओं के ऐसे सुवर्णमृग दौड़ा दें कि राम (जनता) उनमें उलझ जाये और रावण सीता (स्वाधीनता) का अपहरण कर ले जाये !

पंद्रह अगस्त के अवसर पर बहुत से पत्रों ने अपने विशेषांक निकाले हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य अलग-अलग उनकी आलोचना करना नहीं, लेकिन उन्हें देखने से (उदाहरण के लिए दो को ले लें, 'आजकल' जो कि सरकारी पत्र है और 'संगम' जो कि बिड़ला का पत्र है) ऐसा लगता है कि उनका उद्देश्य जनता को उस व्यक्ति की-सी स्थिति में ला खड़ा करना है जो बम्बई या कलकत्ता पहुँच कर वहाँ ठगा-सा खड़ा बिजली के बड़े-बड़े लाल-नीले हरे-पीले अक्षर जलते-बुझते देख रहा हो ; उसके पेट में आग लगी हुई है और तन नंगा है लेकिन उसकी आँखों के आगे बड़े-बड़े रंग-बिरंगे हरूफ चमक और बुझ रहे हैं :

अशोक....विक्रमादित्य....बुद्ध....अजंता.......मोहेन जोदड़ो....तक्ष-शिला...यवन....आर्य....आर्य....यवन....तक्षशिला...मोहेन जोदड़ो... अजंता...बुद्ध...विक्रमादित्य...अशोक........

आज हमारे देश में सचाई के लिए जगह नहीं है क्योंकि सचाई में तूफानों का जोश है और सरकार के पैर फूस के हैं !

और जैसे-जैसे वर्गसंघर्ष तीव्रतर होगा, जैसे जैसे 'राष्ट्रीय' सरकार के सम्बन्ध में जनता के भ्रमों का उच्छेद होगा अर्थात् जैसे जैसे उसका सामाजिक आधार संकुचित होगा वैसे-वैसे कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी और भयावह स्थिति सामने आयेगी। धीरे-धीरे सारे आधुनिक वाङ्मय में, मोटे रूप में, तीन ही प्रवृत्तियाँ रह जायेंगी : कामोत्तेजना, युद्धोत्तेजना और अतीत गौरव।

कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी भारत हिटलरी फासिज्म के चरण-चिह्नों पर चलना सीख रहा है। यदि कला और संस्कृति के प्रहरी समय रहते उसका प्रतिकार नहीं करते तो उन्हें अपनी लेखनी-तूली लेकर कमिश्नर और पुलिस

कम्युनिस्ट पार्टी पर भारत सरकार का और तमाम प्रान्तीय सरकारों का भीषण कोप है, यह हमें मालूम है। इस कोप का कारण भी हमको मालूम है, पर इस समय वह विवाद संगत नहीं।

इस समय हम न्याय और जनतंत्र की बात करना चाहते हैं। दो कारणों से। एक तो यह कि आज संसार में इन्हीं आदर्शों का बोलबाला है, दूसरे यह कि कांग्रेसी हुकूमतें स्वयं इन्हीं आदर्शों का ढिंढोरा पीटती हैं। जेल में भारद्वाज की हत्या करके उन्होंने अपने सिर कितनी भारी जवाबदेही ली है, इसका गुमान उन्हें आज नहीं, कुछ समय बाद होगा।

हमने समझ-बूझकर 'हत्या' शब्द का प्रयोग किया है। जो व्यक्ति सात साल से यक्ष्मा से पीड़ित हो, उसे १०४ डिग्री बुखार में जेल ले जाना और छुरी से उसका गला रेत देना, दोनों एक ही बात है, शायद छुरी से गला रेतना कम कठोर होता!

श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपनी सफाई देते हुए कहा है कि सिविल सर्जन को इस बात का पता नहीं चला कि भारद्वाज की मृत्यु इतनी सन्निकट है। पता भी भला कैसे चलता, वहाँ तो सैंया भये कोतवाल अब डर काहे का वाली बात है। हम तो यह तक कहने को तैयार हैं कि एक नुक्ते से सिविल सर्जन का कहना ठीक है। ठीक वह इस अर्थ में है कि वास्तव में भारद्वाज की मृत्यु संनिकट न थी, अपनी दीर्घ बीमारी में उन्होंने ऐसी न जाने कितनी स्थितियाँ अपने कठोर संयम और समुचित परिचर्या, सेवाशुश्रूषा के बल पर सफलतापूर्वक झेली होंगी, इस बार भी यही अधिक संभव था कि वे रोग से लड़कर उस पर विजय पाते। इसीलिए हम और जोर देकर कहना चाहते हैं कि लालबहादुर शास्त्री की पुलिस ने भारद्वाज की हत्या की है। यह कि उनकी मौत पास न थी, उन्हें मौत के पास ले जाया गया और आखिर को मार डाला गया—यही असलियत है। इस पर लाख कलई मुलम्मा किया जाय, मगर उससे असलियत नहीं छिप सकती।

लाल बहादुर शास्त्री ने मृत व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति का कुछ प्रदर्शन भी किया है, दो आँसू गिराने की भी कोशिश की है। अगर वे दिल की गहराइयों से निकले हुए आँसू होते तो भी भारद्वाज को जिन्दा करने में असफल रहते। मगर वह आँसू नकली हैं, उनसे उस वीर सैनिक को अपनी मौत में भी तकलीफ पहुँचेगी। ज्यादा अच्छा होता, अगर शास्त्री जी ने उन्हें खर्च न किया होता।

हमें इस मौत का गिला नहीं है। यह क्रान्तिकारियों और क्रान्ति-विरोधियों की लड़ाई है। क्रान्ति कुर्बानियाँ लेती है। अभी तो शुरूआत है। यह तो क्रान्ति का प्रथम चरण है। अभी न जाने कितने लोगों को कुर्बानी देनी होगी। हम भारद्वाज की मौत पर आँसू बहाकर उस वीर शहीद का अपमान नहीं करना चाहते।

मगर रोना हमें इस बात का है कि यह हत्या जनतन्त्र की दुहाई देनेवाले लोगों ने न्याय और सुरक्षा के नाम पर की है। अगर यही न्याय है तो जङ्गल का न्याय फिर कैसा होगा और अगर यही सुरक्षा है तो फिर पूँजीपतियों जमींदारों और अन्य शोषकों की सुरक्षा का रूप कैसा होगा! हमें कोई शिकायत न हो अगर भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारें खुले आम यह घोषणा कर दें कि उन्होंने बिड़ला और टाटा और पदमपति सिंहानियाँ और बड़े-बड़े राजाओं जागीरदारों की रक्षा करने का बीड़ा उठा लिया है और जो भी उनका विरोध करेगा, उसको वे कुचल देंगे। मगर ये सरकारें खुले आम भला ऐसी बात कैसे कह सकती हैं। चिन्ता की कोई बात नहीं, वास्तविक घटनाएँ दिनों दिन उनका असली रूप उघाड़े दे रही हैं और अब वह शुभ घड़ी पास आती जा रही है जब जनता की आँखें भी पूरी तरह खुल जायँगी और वह अपने असली और नकली, झूठे और सच्चे दोस्त का विवेक कर सकेगी। उसी घड़ी की आतुर प्रतीक्षा में आज हम आँसू नहीं बहाते क्योंकि वह घड़ी प्रतिशोध की घड़ी होगी। भारत की क्रान्तिकारी जनता ने इस मौत को खून की घूँट की तरह पिया है और वह समय आने पर इसका बदला लेगी, इस विषय में सन्देह के लिए गुञ्जाइश नहीं है।

पर आज उनका चेहरा हमारी आँखों में घूम रहा है। इन पंक्तियों का लेखक एक बार भारद्वाज से मिला था। भुवाली में। सैनटोरियम में वह अलग एक कुटीर लेकर रहते थे। मैं रातभर उनके सङ्ग रहा था। मैं वहाँ अपने एक मित्र से मिलने गया था। वह मित्र भारद्वाज का अनन्य प्रीतिभाजन था (या है, व्याकरण की दृष्टि से क्या शुद्ध है नहीं जानता क्योंकि वह मित्र तो है पर उसको प्रीति देने वाला भारद्वाज अब नहीं है!) तभी मैं भारद्वाज से मिला था। उनका कठोर, संयमशील, दृढ़, मनस्वी, मेधावी, अत्यन्त हँसमुख चेहरा मेरी आँखों के सामने घूम रहा है। उस आदमी को कांग्रेसी सरकार ने मार डाला, उस आदमी को। सात बरस के इस जीर्ण रोगी से सरकार को क्या भय था, यह आसानी से

समझ में नहीं आता। शायद उनकी मनोवृत्ति में भी प्रकृति का यही तथ्य कार्य कर रहा था कि सिंह किसी कारण से यदि अशक्त भी हो रहा हो तो भी शृगाल उससे भय खाते ही हैं।

भुवाली के मेरे उन मित्र की चिट्ठी भारद्वाज के मरने पर आयी है। उसमें उन्होंने यह तो लक्ष्य किया ही है कि एक क्रान्तिकारी से उसका दुश्मन इतना भय खाये, यह क्रान्तिकारी का सबसे बड़ा सम्मान है; लेकिन उसने एक बात बड़े दर्द के साथ लिखी है। उसने लिखा है कि इतिहास का यह कितना बड़ा व्यंग्य है कि वह भारद्वाज जिसने कांग्रेस की खातिर ग्यारह बरस की आयु में घर छोड़ा, अन्त में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल की जेल में १०४ डिग्री ज्वर में तपता हुआ दम तोड़े। पूर्ववर्ती अंग्रेज सरकार ने भारद्वाज का बलिष्ठ शरीर तोड़कर उसे क्षय का रोग दिया, कांग्रेसी सरकार ने मृत्यु में उसकी अंतिम परिणति कर दी।

भारतीय रंगमञ्च पर वर्ग-संघर्ष का रूप इतनी जल्दी इतना उग्र हो जायगा, इसकी कल्पना कम ही लोगों ने की थी। मगर वह संघर्ष तो अब सामने है। मजदूरों के अंतर्राष्ट्रीय गाने के शब्दों में 'यह अंतिम जंग है अपनी।' इतना कहने के बाद उस दिशा में और कुछ कहने को नहीं रह जाता।

अब हम दो शब्द कहना चाहते हैं उन उदारपंथी लोगों से जो अब तक कांग्रेस की जनतंत्रात्मकता आदि से बड़ी-बड़ी आशा लगाये बैठे हैं। उनके लिए अब भीषण आत्ममंथन का समय उपस्थित है। वे या तो अपनी आँखें मूँद लें और कान बन्द कर लें और फिर कहें कि हम कुछ नहीं देखते और कुछ नहीं सुनते, या तो आये दिन होने वाली इन घटनाओं को देखें और इनके प्रकाश में (या अंधकार में!) अपनी चिराचरित आस्थाओं की परीक्षा करें।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने १५ अगस्त, १९४७ पर अपने उच्छ्वसित उद्गार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं :—

> आज मौर लाओ हे, कदली स्तंभ बनाओ,
> ज्योतित गंगा जलभर, मंगल कलश सजाओ!

पन्द्रह अगस्त को मिली हुई 'आजादी' से बहुतों को धोखा हुआ। अब आये दिन होने वाली घटनाएँ आँखों में उँगली डाल-डालकर हमें उस 'आजादी' की नग्न वास्तविकता का दिग्दर्शन करा रही हैं। क्या अब भी हमारी आँखें न खुलेंगी!

ऊपर जो पंक्तियाँ हमने उद्धृत की हैं, उनमें यह उद्‌गार चिह्न (!) ही हमें सच जान पड़ रहा है ! 'ज्योतित गंगा जल भर मंगल कलश सजाओ' क्योंकि एक तपे हुए राजनीतिक कार्यकर्ता को जनतन्त्र के नाम पर इसलिए मार डाला गया है कि वह अधिकार-मद में भूले हुए एक राजनीतिक दल की हां में हां नहीं मिलाता, उससे भिन्न मत रखता है ; जो भिन्न मत रखने के अलावा और कुछ उसके प्रतिपादन के लिए कर भी नहीं सकता क्योंकि पहले के शासकों ने उसे इस बुरी तरह तोड़ दिया है कि वह कुछ कर सकता ही नहीं, जो सात साल से बिस्तर पर है—या था !—जरूर मंगल कलश सजाओ ! और उसमें भारद्वाज और उसके अनेक गोली खाये हुए साथियों की अस्थियाँ रख दो !

भारद्वाज की हत्या जनतंत्र की हत्या है।
भारद्वाज की हत्या मनुष्यता की हत्या है।

यह हम मानते हैं कि जो अधिकार व्यक्ति को नहीं होता, वह राज्य को होता है—अर्थात् हत्या करने का अधिकार, लेकिन तो भी इतना नम्र निवेदन हम अवश्य करना चाहते हैं कि ऐसी हत्याओं के अभिशाप से सत्ता के सिंहासन डोले बिना न रहेंगे।

अप्रैल '४८

★

मैक्सिम गोर्की

जीवन के कड़वे अनुभवों से ही अपने नाम की सृष्टि करनेवाले अलेक्सी मैक्सिमोविच पेशकोफ़, मैक्सिम गोर्की, का जन्म सन् १८६७ ई० में नीज़नी नोवगोरोद में हुआ था।

गोर्की के साहित्य को समझने के लिए उसके जीवन का थोड़ा-सा परिचय भी आवश्यक है। सात बरस की आयु में ही अनाथ होकर बालक गोर्की ने पहले-पहल यह जाना कि जीवन एक बड़े भयानक संघर्ष का नाम है। उसमें किसी ओर से किसी प्रकार की सहायता की आशा रखना बेकार है। सहायता माँगने पर भी नहीं मिलती। आदमी अगर जीने की इच्छा रखता है तो उसे अकेले ही लड़कर अपने लिए जगह बनानी होगी। समाज से किसी आश्रय या सहायता की आशा एक छलना है, मृग-मरीचिका है।

गोर्की की 'शेल्कश' और अन्य कई कृतियों में वोल्गा का जो सजीव चित्रण है, उसका कारण यही है कि माँ की गोद से वंचित वह बचपन से ही वोल्गा की लहरों पर पला। वोल्गा की गड़गड़ाहट को ही उसने चित्रित कर दिया हो, सिर्फ यह बात भी नहीं है। वोल्गा ने उसके चरित्र के निर्माण में एक स्थायी प्रभाव के रूप में काम किया है। कदाचित् वोल्गा की लहरों से ही उसने जीवन को एक लहर, एक प्रवाह के रूप में देखना सीखा हो, वोल्गा के थपेड़ों में ही उसे जीवन के थपेड़ों का पूर्व-परिचय मिला हो, वोल्गा के उतार-चढ़ाव में ही उसे जीवन के उतार-चढ़ाव की झाँकी मिली हो। जैसा गोर्की के एक आलोचक ने लिखा है, वोल्गा ही उसकी सच्ची माँ बनी। जीवन की अपनी पहली दीक्षा उसे वोल्गा की लहरों पर मिली।

और ठीक भी है। ज़ारशाही रूस में एक अनाथ बालक को यह दीक्षा और

मिल भी कहाँ सकती थी। चारों ओर ग़रीबी और अशिक्षा का चटियल मैदान फैला हुआ था। किसानों और मज़दूरों को पीसकर ज़ारशाही पनप रही थी। जहाँ जीवित रहना ही एक संघर्ष हो, वहाँ बालक गोर्की का जीवित रहा आना स्वयं एक आश्चर्य की बात है। पर इसके लिए गोर्की को अपने बाहुबल, अपने पुरुषार्थ को छोड़कर और किसी का आभार मानने की आवश्यकता नहीं है। पचीसों मोटे-झोटे काम करके गोर्की ने अपना पेट पाला और आगे के संघर्षों के लिए शक्ति ग्रहण की। वोल्गा पर चलनेवाले एक स्टीमर में नौकरी करते समय ही उसे साहित्य के प्रति अनुराग पैदा हुआ। इसका जनक था स्मूरी नामक एक व्यक्ति जो स्टीमर का रसोइया था। वही गोर्की को तरह-तरह के उपन्यास और कहानियाँ सुनाता और इस प्रकार गोर्की के मन में पढ़ने की लालसा जागी। सोलह साल की आयु में वह कज़ान विश्वविद्यालय गया। उसका विचार था कि जैसे अकाल के समय भूखों को रोटी बँटती है, वैसे ही अशिक्षितों को शिक्षा भी बँटती होगी। लेकिन कज़ान में जाकर उसे अपनी भूल मालूम हुई : और सभी वस्तुओं की ही तरह शिक्षा भी लक्ष्मीपुत्रों को ही मिलती है। गोर्की के जीवन का यह शायद सबसे कड़वा अनुभव था। उसे ज़बर्दस्त चोट लगी और वह आवारों की तरह दर-दर मारा-मारा फिरने लगा। दो-ढाई साल के आवारों के जीवन ने उसे जीवन के प्रति वितृष्णा से भर दिया और उसने थक-हार कर उन्नीस साल की आयु में अपने सीने में गोली मार ली।

लेकिन संयोग से बच गया। १८९२ में उसकी मुलाकात विख्यात रूसी लेखक कोरोलेंको से हुई। इस मुलाकात ने उसके जीवन की धारा को पलट दिया। यह कहना एक प्रकार से कदाचित् ठीक ही होगा कि गोर्की के वास्तविक जीवन का इतिहास कोरोलेंको से मिलने के बाद से शुरू होता है। उसके पहले का सारा काल गोर्की के जीवन का प्रागैतिहासिक, अन्धकार युग है। कोरोलेंको ने ही उसे लेखक बनाया। यों सामग्री की कमी गोर्की के पास नहीं थी। शोषित जीवन का उसे गहरा सर्वांगीण परिचय था। अपने चौबीस वर्ष के जीवन में उसे 'निम्न' वर्ग के जिन प्राणियों का परिचय मिला, वे ही उसके क्रान्तिकारी साहित्य के मूलाधार बने। लक्ष्मीपुत्रों के समाज द्वारा बहिष्कृत वे 'जो कभी इन्सान थे' Ex-men ही उसके पात्र बने। जिन आवारे चरित्रों का प्राधान्य गोर्की के साहित्य में है, वे भी वे ही थे जिनसे गोर्की का निजी परिचय था, वे ही जो समाज की विषमता के कारण, बेकारी के कारण मेहनतकश की ईमानदार ज़िन्दगी छोड़कर आवारागर्दों की ज़िन्दगी अपनाने के लिए मजबूर हुए थे।

कोरालेंको से परिचय होने के बाद जब गोर्की ने मजबूत हाथों से अपनी क़लम पकड़ी, तब उसे अपनी दुनिया का, ग़रीबों, भूखों और नंगों की दुनिया का पूरा परिचय प्राप्त था। अपने पात्रों के अनुभव उसके अपने अनुभव थे, उनकी अनुभूतियाँ उसकी अपनी अनुभूतियाँ थीं। वह भी उन्हीं में से एक था। अपने जीवन के चौबीस और प्रधान रूप से सत्रह वर्ष उसने भूख, ग़रीबी और बदहाली की वे तमाम चोटें सही थीं जो उसके वर्ग के प्राणी चिरकाल से सहते आ रहे थे। उनकी पीड़ा की कहानी उसकी मांस-मज्जा का अंग बन गयी थी। इसी लिए वह लेनिन के शब्दों में शोषित जनता का सर्वोत्तम लेखक बन सका। पर उसको लिखने के रास्ते पर लगाया कोरोलेंको ने। इसी लिए कोरोलेंको से गोर्की की मुलाक़ात उसके जीवन की सबसे बड़ी घटना है। कोरोलेंको का गोर्की के जीवन पर कितना विधायक प्रभाव पड़ा है, इस विषय में स्वयं गोर्की ने अपने वृत्तकार गोरोदेत्स्की को लिखा था :

'एक शब्द भी कहीं घटाये-बढ़ाये बग़ैर यह लिखो : कोरोलेंको ने गोर्की को लिखना सिखाया और अगर गोर्की कोरोलेंको की शिक्षा से लाभ नहीं उठा सका है तो इसमें गोर्की का ही दोष है। लिखो : गोर्की का पहला शिक्षक था सैनिक-रसोइया स्मूरी ; उसका दूसरा शिक्षक था, वकील लानिन; उसका तीसरा शिक्षक था अलेक्ज़ेंडर कालूज़नी, उन लोगों में से एक जो कभी इंसान थे ; उसका चौथा शिक्षक था कोरोलेंको......'

शोषित जनता की तकलीफ़ों का इतिहास गोर्की के पन्नों में संचित है। गोर्की को पढ़ते समय सबने लेखक की शक्ति का अनुभव अवश्य किया होगा। उसका कारण यही है कि अपनी विलक्षण रूप से तीक्ष्ण आँखों से गोर्की ने संसार को देखा था। गोर्की के साहित्य में शक्ति का जो स्रोत सर्वत्र प्रवाहित दीख पड़ता है, उसका कारण जीवन के प्रति गोर्की का स्वस्थ दृष्टिकोण ही है। गोर्की के पहले भी यथार्थवादी लेखक हो गये थे। रेशेतनिकोफ़, लेवितोफ़, उस्पेंस्की आदि ने जीवन का नग्न, यथार्थ चित्रण किया है। पर उनके चित्रण में और गोर्की के चित्रण में एक बहुत तात्त्विक अन्तर है। उस्पेंस्की आदि के पात्र दयनीयता की प्रतिकृति हैं। उनका स्वाभिमान, आत्मविश्वास, स्वतन्त्रता की भावना, सब उनमें लुप्त-सी हो गयी है। स्वतन्त्रता की भावना नष्ट होने के साथ-साथ स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति भी उनमें नहीं है। वे अपने भाग्य को रोते हैं। अपने को, अपनी ज़िन्दगी को कोसते हैं। वे निरे असन्तोष की प्रतिमाएँ अवश्य हैं, पर यह असन्तोष क्रान्तिकारी का असन्तोष नहीं है, इस असन्तोष में हृदय की ज्वाला नहीं है;

यह असन्तोष कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं करता। यह असन्तोष राख का एक ढेर है। गोर्की के पात्रों में भी असन्तोष रहता है। पर वह क्रान्तिकारी है। वह राख का नहीं, बारूद का ढेर है। उसके पात्र भाग्य को नहीं कोसते। जीवन को अगर वे कोसते हैं तो इसलिए नहीं कि उससे उन्हें अनुराग नहीं है, बल्कि इसलिए कि बहुत अधिक अनुराग है। उनमें बहुत अधिक स्वाभिमान और आत्मविश्वास होता है। वे आज़ादी का मतलब समझते हैं। आज़ादी की आग उनके अन्दर जलती है। उनके शरीर शिकजे में कसे हुए हैं, पर उनका मन उन्मुक्त रहता है, क्योंकि उनमें चेतना होती है। अपनी शृङ्खलाओं की वास्तविकता को समझनेवाला प्राणी उतना शृङ्खलाबद्ध नहीं होता जितना वह जिसे अपनी शृङ्खलाओं का ज्ञान तक नहीं है। जैसा गोर्की के एक आलोचक ने लिखा है 'केवल ऑस्ट्रोव्स्की* के पात्रों में हमें गोर्की के आवारों से कुछ-कुछ मिलते-जुलते प्राणी देखने को मिलते हैं— प्रसन्न, स्वतंत्र, जीवन और प्रकृति और सौन्दर्य के अनन्य उपासक × × ×' 'गोर्की के आवारों में उन सामाजिक अत्याचारों की चेतना आ गयी है जिनके कारण उनका जीवन पिस रहा है। उन्हें अपनी शक्ति का भी पूरा ज्ञान है और वे समाज के खिलाफ़ खुली बग़ावत का झंडा बुलन्द करते हैं। भाग्य भला इन आवारों को क्या कुचलेगा, इन्हें तो अपनी भूख और ग़रीबी का अभिमान है।' ओरलोफ़, कोनोवलोफ़, बुड्ढी इज़रगिल, माकर शूद्र, कुज़मा कूसियाक, वारेका ओलेसोवा आदि सभी ऐसे ही पात्र हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि गोर्की नग्न यथार्थ का चित्रण करके ही क्यों नहीं रुक जाता जैसा कि उसके पूर्वगामी अनेक औपन्यासिकों ने किया था? क्योंकि गोर्की का यह विश्वास था कि लेखक को सामाजिक अवनति का लेखा जोखा पेश करके, दैनंदिन जीवन का फोटो देकर ही न बैठ जाना चाहिए। उसे लोगों के दिलों में आजादी की उमंग पैदा करनी चाहिए। उसे उत्साह और आत्मविश्वास के साथ बोलना चाहिए, जिसमें मनुष्य में नये प्रकार का जीवन रचने की अदम्य लालसा जगे।

यही गोर्की की कला, उसके मानववाद Humanism की विशेषता है। वह मानवता को ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ ही नहीं देखता, आज़ादी के लिए लड़ता और मरता, आज़ाद होता हुआ भी देखता है। इसी लिए वह रेशेतनिकोफ़ और उस्पेंस्की की तरह जीवन के नग्न यथार्थपूर्ण चित्र देकर ही संतोष नहीं कर

* एक रूसी नाटककार।

लेता। उसके आगे मनुष्य का क्रान्तिकारी भविष्य भी रहता है जो वर्तमान को बदल देने की क्षमता रखता है। ओरलोफ़ परिवार नामक कहानी के नायक ओरलोफ़ को देखने से गोर्की के तमाम पात्रों का लगभग ठीक-ठीक अन्दाज़ हो जायगा। ओरलोफ कहता है : मेरी आत्मा भीतर ही भीतर जलती रहती है। मुझे जगह चाहिए जिसमें मेरी शक्ति ठीक से समा सके। मुझे अपने अन्दर अदम्य शक्ति का अनुभव होता है! अगर हैज़ा, थोड़ी देर को मान लो, आदमी बनकर, राक्षस बनकर—इलिया मुरोमेत्स ही क्यों न हो वह फिर—आ जाय तो मैं उससे भिड़ जाऊँगा! मैं कहूँगा, 'यह मौत तक की हमारी लड़ाई है। तुम एक ताक़त हो और मैं, ग्रिश्का ओरलोफ़, भी एक ताक़त हूँ, आओ देखें कौन ज्यादा बड़ी ताक़त है!'

यह एकदम दूसरी बात है कि ओरलोफ़ और उसके भाईबन्द गोर्की के तमाम पात्र शोषक राक्षसों से मोर्चा लेनेवाले दृढ़चेता क्रान्तिकारी न होकर आवारे ही रह जाते हैं और आवारे ही मर जाते हैं। लेकिन यह भी सच बात है कि उनमें बहुत ताक़त है, बहुत जोश है, बहुत प्राण है। उन सबकी शक्तियों को उचित दिशा चाहे न मिली हो पर हम उनकी कल्पना भीख माँगते या गिड़गिड़ाते हुए नहीं कर सकते। वे दूसरी ही धातु के बने हैं। वैसे पात्रों की सृष्टि करने में गोर्की का उद्देश्य था वर्तमान की परिधि में रहते हुए, वर्तमान के आधार पर भविष्य की क्रान्तिकारी कल्पना। अपनी पाठक (१८९८) शीर्षक कहानी में गोर्की ने साहित्य-रचना के उद्देश्य आदि पर अपने विचारों का पूरा-पूरा दिग्दर्शन कराया है। गोर्की की ऐसी सर्व्वाङ्ग-संपूर्ण आत्म-विवृति अन्यत्र मिलना कठिन है इसलिए इस कहानी के सम्बन्ध में तनिक विस्तार से बात करना बुरा न होगा। इस कहानी में वह बताता है कि कैसे जब उसकी एक कहानी शुरू शुरू में छपी तो उसके मित्रों ने उसे पढ़ा और उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। जब वह अपने मित्रों के यहाँ से घर को लौट रहा था और मन ही मन बहुत सुख अनुभव कर रहा था, तो रास्ते में उसे एक अपरिचित व्यक्ति मिला और लेखक के कर्तव्यों के सम्बन्ध में उससे बात करने लगा।

अजनबी ने कहा, 'आप मानेंगे कि साहित्य का कर्तव्य है अपने आपको समझने में मनुष्य को सहायता पहुँचाना, उसमें आत्म-विश्वास की अभिवृद्धि करना, सत्य के लिए उसकी जिज्ञासा बढ़ाना, मनुष्य के दुर्गुणों से लोहा लेना; उसके सद्गुणों को पहचानना और उसके अन्दर अनुताप, क्रोध और साहस की

सृष्टि करना ; संक्षेप में वह सब बातें करना जिनसे मनुष्य में बल आये, उनका जीवन सौन्दर्य की पवित्र आ मा से आलोकित हो सके।'

'मुझे लगता है कि हमें एक बार फिर अपनी ही कल्पना से सृष्ट वस्तुओं, स्वप्नों की आवश्यकता है क्योंकि हमने जिस जीवन का निर्माण किया है उसमें रंग और बू नहीं है......आओ, कोशिश करें, कल्पना की मदद से आदमी शायद एक पल के लिए जमीन से उठ सके और अपनी असली जगह पा सके जो उसने खो दी है।'

पाठक फिर पूछता है, 'क्या तुम अपनी कल्पना से वह छोटी सृष्टि भी कर सकते हो जिससे लोग थोड़ा ऊपर उठ सकें ? नहीं ! आजकल के शिक्षक तुम लोग जितना देते नहीं, उससे ज्यादा तो ले लेते हो, क्योंकि तुम सिर्फ़ बुराइयों की ही बात बोलते हो—तुम्हें वे ही दिखायी देती हैं। लेकिन आदमी में अच्छाइयाँ भी तो आखिर होंगी ही : तुम में खुद भी कुछ अच्छाइयाँ हैं, क्यों, नहीं हैं ?.........क्या तुम यह नहीं देखते कि अच्छाइयां और बुराइयों की परिभाषा देने और उन्हें अपने-अपने खानों में बिठालने की जो कोशिश तुम हरदम करते रहते हो, उसकी वजह से दोनों सफ़ेद और काले डोरे के गोलों की तरह आपस में फँस गयी हैं, और दोनों का मौलिक रंग उड़कर उसकी जगह एक तीसरे ही, राख के रंग ने ले ली है ?......मुझे इस बात में सन्देह है कि परमात्मा ने तुम्हें जमीन पर भेजा है। अगर उसने दूत भेजे होते, तो उसने तुम से अधिक बलशाली व्यक्ति चुने होते। उसने उनके दिलों में जिन्दगी, सच्चाई और आदमियों के लिए एक ज़बर्दस्त मुहब्बत की आग सुलगा दी होती।'

'बस वही रोज़ की ज़िन्दगी, रोज़ की ज़िन्दगी, वही रोज़ के लोग, वही रोज़ की घटनाएँ और विचार ! तब आखिर तुम 'क्रान्तिकारी आत्मा' की बात कब करोगे, आत्मा के पुनर्जन्म की ज़रूरत के बारे में कब लिखोगे ? कहाँ है नये जीवन के निर्माण का आह्वान ? कहाँ हैं निर्भीकता के पाठ ? कहाँ हैं वे शब्द जो आत्मा को पंख लगा सकते हैं ?

'इस बात को स्वीकार करो कि तुम जीवन का ऐसा चित्रण करना नहीं जानते जो मनुष्य के हृदय को अनुताप के विष से भर दे और उसमें नये प्रकार से जीवन की रचना करने की लालसा जगाये......क्या तुम जीवन की गति को बढ़ा सकते हो ? क्या औरों की तरह तुम भी उसे शक्ति से अनुप्राणित कर सकते हो ?'.......

थोड़ी देर बाद मेरे इस अपरिचित प्रश्नकर्त्ता ने फिर कहा, 'एक बात और। क्या तुम मानव-हृदय में जीवन के उल्लास से भरी हँसी की सृष्टि कर सकते हो, जो

आत्मा को ऊपर उठाने की क्षमता भी रखती हो ? सच, देखो, लोग स्वस्थ उन्मुक्त हँसी बिलकुल भूल गये हैं !'

'जीवन की उपयोगिता आत्म-सन्तोष में नहीं है ; जो भी हो, मनुष्य उससे ऊँचा तो है ही। जीवन की उपयोगिता है सौन्दर्य में और किसी लक्ष्य के लिए किये गये प्रयत्न की शक्ति में ; मानव के प्रत्येक पल का एक उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए। रोष, घृणा, अनुताप, वितृष्णा और अन्त में, गम्भीर नैराश्य—यही वे शक्तियाँ हैं जिनसे तुम पृथ्वी पर की प्रत्येक वस्तु का नाश कर सकते हो।' 'जीवन की प्यास तुम किसी में कैसे जगा सकते हो जब तुम्हें सिर्फ भुनभुनाना, आहें भरना और कराहना आता है ? जब तुम धीरे से आदमी की ओर इशारा करके बस यह कहना जानते हो कि वह धूल से अधिक कुछ नहीं है !' (Reader, 1895)

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य के सम्बन्ध में मैक्सिम गोर्की के क्या विचार थे और यथार्थवादी साहित्य से वह किस प्रकार का साहित्य समझता था। इस स्थान पर एक और महत्त्वपूर्ण उद्धरण देने से गोर्की के विचार और स्पष्ट हो जायँगे और स्वयं उसका साहित्य समझने में हमें सरलता होगी।

रूस में एक समय यह विवाद बहुत जोर के साथ चल पड़ा था कि गोर्की शोषित जनता का लेखक है या नहीं। कुछ मजदूरों ने सीधे गोर्की के पास चिट्ठी लिखकर पूछा : बताइये आप शोषित जनता के लेखक हैं या नहीं ? सच्चे जनता के लेखक के क्या लक्षण हैं ? गोर्की ने इसका जो उत्तर दिया, वह हर दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह शोषित जनता के लेखकों के लिए एक घोषणापत्र के समान है।

गोर्की का पत्र इस प्रकार था : †

† I think that these tokens are not many. Among them are : the writer's active hatred for everything that oppresses man from the outside and from within, everything that prevents the full development and growth of man's faculties; the merciless hatred for idlers, parasites, toadies, vulgarians and in general for scoundrels of all sorts and forms. The writer's respect for man as the source of creative energy, the creator of all things, of all wonders on earth; for man as a fighter against the elemental forces of nature, and the

'मैं समझता हूँ वे लक्षण बहुत नहीं हैं। वे यह हैं कि उन सभी चीज़ों के लिए लेखक के मन में सक्रिय घृणा हो जो मनुष्य को बाहर से या अन्दर ही अन्दर क्लेश पहुँचाती हैं, उन सभी चीज़ों के लिए जो मनुष्य की शक्तियों का स्वतंत्र विकास और स्वाभाविक प्रस्फुटन नहीं होने देतीं ; आलसियों, उपजीवियों, सरकारी पिट्ठुओं, लफंगों और इस तरह के हर रूप-रंग के बदमाशों के लिए उसके हृदय में निर्मम घृणा हो। पृथ्वी के समस्त आश्चर्यों, प्रत्येक वस्तु के स्रष्टा और रचनात्मक शक्ति के स्रोत मनुष्य के लिए लेखक के मन में श्रद्धा हो—प्राकृतिक शक्तियों से लड़नेवाले और अपने औजारों, अपने विज्ञान, अपनी निर्म्माणकला द्वारा इस प्रकृति के अलावा अन्य एक प्रकृति, जिसकी रचना का उद्देश्य है मानव-शक्ति को व्यर्थ बरबाद होने से बचाना, के रचयिता मनुष्य के लिए उसकी आन्तरिक श्रद्धा हो। पूँजीवाद के अन्तर्गत मानव-शक्ति की यह बर-

creator of a new 'second' nature by means of his tools, his science and technique in order to free himself from the useless waste of his physical strength, a waste inevitably senseless and cynical under conditions of a class-state. The writer's poetization of collective labour which aims to create new forms of life, forms which absolutely exclude the mastery of man over man and the absurd exploitation of his strength. The writer's appraisal of woman as not only the source of physiological enjoyment, but as a faithful comrade and help in the difficult business of life. His attitude toward children as to persons before whom we are all responsible for everything we do. The writer's effortto heighten in every way the reader's dynamic relation to life, to inspire them with sureness of their power, of their ability to conquer in themselves and outside of themselves everything that prevents them from grasping and becoming aware of the great meaning of life, the tremendous importance and joy of labour.

This is, in brief, my view of the kind of a writer that is needed by the labouring world.

वादी अनिवार्य्य रूप से असंगत और मानव मात्र के प्रति उपेक्षा के भाव पर आधारित होती है।

लेखक उस नये प्रकार के जीवन की रचना के हेतु किये गये सामूहिक श्रम का अपने साहित्य में अभिषेक करे जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच स्वामी-दास का सम्बन्ध न होगा और उसकी शक्तियों का असंगत शोषण-व्यापार नहीं चल सकेगा। लेखक नारी को शारीरिक तृप्ति का साधन मात्र ही नहीं बल्कि जीवन के कठिन व्यापार में एक सच्चा साथी और मददगार समझे। बच्चों की ओर लेखक का दृष्टिकोण इस प्रकार का हो जैसे अपने प्रत्येक काम के लिए हम उनके सामने जवाबदेह हों। लेखक हर प्रकार से जीवन के साथ पाठक के गत्यात्मक सम्बन्ध को और उच्चतर धरातल पर स्थापित करने का प्रयत्न करे, उसमें आत्म-विश्वास जगाये जिसमें उसे अपनी शक्ति और क्षमता का बोध हो और वह अपने को इस योग्य समझे कि वह अपने भीतर और बाहर की उन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर सकता है जो उसे जीवन के महान् प्रयोजन, श्रम की महत्ता और आनन्द को समझने और आत्मसात् करने नहीं देतीं।

संक्षेप में, मेरी समझ में मेहनतकशों को ऐसे ही लेखक की जरूरत है...'

अब कदाचित् यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि मानव-जीवन और संस्कृति के भविष्य के सम्बन्ध में इतना स्वस्थ और आशावादी दृष्टिकोण रखने के कारण गोर्की का यथार्थवाद वर्तमान जीवन की विभीषिका तक ही अपने को सीमित नहीं करता, वह उसके आगे, नवीन भविष्य के निर्म्माण का स्वप्न भी देखता है। यह स्वप्न पलायनवादी का रंगीन हवामहल नहीं है। यह स्वप्न क्रूर यथार्थ के साथ संघर्ष करनेवाले क्रान्तिकारी की नवीन विश्व-योजना है। इसकी जड़ आकाश में नहीं, धरती में है, आज के यथार्थ के वक्ष में है। अपने इस सिद्धान्त को गोर्की ने (Revolutionary romanticism) क्रान्तिकारी रोमांस कहा है, पर आज इसी को स्तालिन के शब्दों में समाजवादी यथार्थवाद (Socialist realism) कहते हैं। समाजवादी यथार्थवाद की दार्शनिक भाव-धारा के निर्म्माण में गोर्की का बहुत बड़ा हाथ है।

गोर्की की इस विशेषता से मिलती-जुलती जो दूसरी बड़ी विशेषता है, वह है जीवन से उसका गहरा प्रेम। गोर्की ने अपने पात्रों के रूप में दृढ़चेता क्रांतिकारियों की सृष्टि तो नहीं की है लेकिन उनमें जीवन का उद्दाम वेग, जीने की प्रबल लालसा, प्रकृति के प्रत्येक वैभव को अपनी रग-रग और रंध्र-रंध्र में समो लेने की उन्मत्त अभिलाषा, ज़ीवन की प्रत्येक सौन्दर्य-श्री का एक स्वस्थ

व्यक्ति के समान उपभोग करने की कामना इतनी तीव्र है कि उसने एक वेदना का-सा रूप ले लिया है। उसके कुछ पात्रों में तो भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर एक विकार-सी बन गयी है। जो हो, गोर्की के सभी पात्र जीना चाहते हैं, गिरते-पड़ते, लड़ते झगड़ते, चोट खाते और लहू-लुहान होते हुए भी मरना नहीं, जीना चाहते हैं। उनकी जीवन-शक्ति का स्रोत अजस्र है। मृत्यु उन्हें कभी परास्त नहीं कर सकती क्योंकि उनकी जीने की चाह अजेय है। मौत आने पर मर जाना एक बात है और आखिर तक उससे लड़ते लड़ते मरना दूसरी बात है। गोर्की ने अपने साहित्य में मौत के ऊपर जिन्दगी को अपना झण्डा गाड़ते हुए दिखलाया है। और चूँकि उसने अपने मेहनतकश पात्रों के रूप में जिन्दगी को मौत के खिलाफ संघर्ष करते देखा था, इसी लिए उसने साम्प्रतिक स्थिति को निराशा-जनक पाते हुए भी, निराशा और पराजय के चित्र न देकर आशा और विजय और संघर्ष के चित्र दिये थे। जनता के संघर्षों से ही उसने बल और प्रेरणा ग्रहण की थी। और उन्हींने 'मा' की मा को एक अविकसित, अशिक्षित और क्रान्ति में अदीक्षित नारी से एक प्रथम कोटि का क्रान्तिकारी बनाया था और उन्हीं से विमुख होने के कारण क्लिम सामगिन एक हेय प्राणी बना।

गोर्की ने मानव संस्कृति को सदा इसी प्रकार समझा कि जन-जन मिलकर उसका निर्म्माण करें, और उसे अपने सुख-सौविध्य, अपने ज्ञान और विज्ञान-विषयक उन्नति का साधन बनायें। उसने कहा कि 'मैंने तमाम जीवन उन्हीं लोगों को सच्चा वीर समझा है जो काम करना चाहते हैं और काम करना जानते हैं, और विश्व को सुन्दर बनाना और मानवजाति के योग्य एक नये प्रकार के जीवन की रचना के लिए मानव शक्तियों को उन्मुक्त करना ही जिनके जीवन का लक्ष्य है। इन्हीं सिद्धान्तों के प्रभाव में सोवियत् साहित्य में रचनात्मक श्रम और स्वतंत्र मानव के विकास का भाव आया। सोवियत् साहित्य का नायक बना वह व्यक्ति जो निर्माण करता है, जो कठिनाइयों के आगे हार नहीं मानता, वीरोचित श्रम द्वारा ही जो विकसित और परिपक्व होता है, जो रेगिस्तानों का पता लगता है और हाइड्रोएलेक्ट्रिक स्टेशन बनाता है, जो गाँवों को शहर बना देता है और पुरानी दस्तकारी की दूकानों की जगह बड़े-बड़े कारखाने खड़े कर देता है।' (मास्को न्यूज १७ फरवरी,'४३)

गोर्की की इसी स्वस्थ, मानववादी परंपरा में पलकर सोवियत् नागरिकों में से शान्तिकाल में बहादुर स्तैखनोवाइट मजदूर निकले जो अपने राज्य को सुखी,

समृद्ध और हर प्रकार से सुदृढ़ बनाने के लिए अकेले तीन-तीन और चार-चार आदमियों का काम करते, और आज इन्हीं सोवियत् नागरिकों में से वीर मजदूरों के अलावा वीर छापेमार और वीर हवाबाज निकल रहे हैं, जिन्होंने विश्व की जनता को हिटलरी दासता से बचाकर उसे स्वतंत्रता के पथ पर आगे बढ़ाया है। शान्तिकाल में और आज के स्वाधीनता-युद्ध में गोर्की ने सोवियत् लेखकों—और विश्व के सभी क्रान्तिकारी लेखकों—को नेतृत्व और प्रेरणा दी है। दोनों ही युगों में गोर्की उनकी—उसी प्रकार जैसे सामान्य सोवियत् जनता की—प्रेरक शक्ति रहा है। आज के सोवियत् लेखक—शोलोखोव, एरेनबुर्ग, पावलेंको, सिमोनोफ, लियोनोफ आदि प्रधानतया गोर्की के आदर्शों से अनुप्राणित हैं। वे सोवियत् जीवन की तो उपज ही हैं, पर उनके साहित्यिक निर्माण में गोर्की का भी बहुत बड़ा हाथ है।

विश्व के सभी फासिस्त-विरोधी लेखकों के लिए गोर्की का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि गोर्की उन सर्वप्रथम कलाकारों में था, जिसने फासिज्म के बर्बर संस्कृति-विनाशक रूप को खूब अच्छी तरह समझकर, उसके खिलाफ आवाज उठायी थी। गोर्की ही ने फासिस्तों को सबसे पहले 'भेड़िया' कहा था और उसके खिलाफ कलाकारों का मोर्चा बनाने में रोमें रोलाँ और आँरी बारबुस के साथ योगदान किया था। तब उसे यह नहीं मालूम था कि उसके मरने के पाँच साल बाद ही फासिस्त 'भेड़िये' उसकी मातृभूमि पर आक्रमण करेंगे और टॉल्सटॉय, पुश्किन, चाइकोव्स्की और चेखोव की ही तरह उसके शिक्षक कोरोलेंको के घर, उसके उपन्यासों की पांडुलिपियों और उसके अन्य स्मृति-चिह्नों को सुरक्षित रखनेवाले म्यूजियम को भी आग लगा देंगे। पर उसने उनके रूप को जिस प्रकार समझा और उद्घोषित किया था, फासिस्तों ने अपने कार्य्य द्वारा उसकी भयानक सत्यता को ही प्रमाणित किया है।

गोर्की ने अपने देश और तमाम विश्वकी जनता को फासिज्म की असलियतसे खबरदार किया था, इसीलिए ट्रॉट्स्की-बुखारिन के दल के फासिस्त दलालों ने एक हत्यारे डाक्टर लेविन, की मदद से १८ जून १९३६ को उसे जहर देकर मार डाला।

लेकिन सचाई की आवाज क्या इस तरह दबायी जा सकती है?

वह दिन अब करीब है जब संसार की जनता गोर्की के आदर्शों से प्रेरणा पाकर उन्हीं के आधार पर नवीन विश्व, नवीन सभ्यता और संस्कृत की नींव

रक्खेगी, वह जनता जिसके जीवन का लक्ष्य 'विश्व को सुन्दर बनाना और मानव जाति के योग्य एक नये प्रकार के जीवन की रचना के लिए मानव शक्तियों को उन्मुक्त करना है।' †

सन् १९४४]

† गोर्की की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से, जहाँ तक मुझे पता है, 'शेलकश,' 'छब्बीस और एक,' 'पतझड़ की वह रात' और 'माकर शूद्र' का और उपन्यासों में 'मा' का अनुवाद हिन्दी में हो चुका है।

गोर्की के मुख्य ग्रन्थ ये हैं :—

उपन्यास :

Mother, Ex-men, Bystander, Magnet, Other Fires

नाटक :

Enemies, Lower Depths, Yegor Bulicheff, Oostagayev.

कहानी- संग्रह :

Twentysix Men & A girl and other stories, Through Russia.

गद्यकार महादेवी और नारी समस्या

कवि के रूप में ही महादेवी अधिक प्रख्यात हैं, लेकिन उनके गद्य-साहित्य से थोड़ा सा भी परिचय प्राप्त करने पर इस बात का पता अच्छी तरह चल जाता है कि उनका गद्यकार का रूप उनके कवि-रूप से तनिक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रतिपादित विचारों और शैली दोनों ही की दृष्टि से वह हमारे आधुनिक साहित्य का एक बहुत पष्ट अंग है और आज की हमारी प्रगतिशील सामाजिक चेतना से भलीभाँति अनुप्राणित होने ही के कारण हमारे नवीन साहित्य को स्फूर्ति भी देता है।

महादेवी का गद्य-साहित्य तीन प्रकार का है। पहला, उनका विवेचनात्मक गद्य जो उनकी कविता-पुस्तकों की भूमिका और कुछ स्फुट निबन्धों के रूप में है; दूसरा, उनके संस्मरण; तीसरा, 'चाँद' की उनकी नारी-समस्या-विषयक संपादकीय टिप्पणियाँ, जिन्हें पुस्तकाकार एकत्र करके 'श्रृंखला की कड़ियाँ' नाम दिया गया है। महादेवी का काव्य पढ़ चुकने पर जब पाठक उनके इस गद्य-साहित्य को पढ़ता है तब जो बात अपनी सम्पूर्ण तीव्रता से सबसे पहले उसकी चेतना को स्पर्श करती है, वह है दोनों की परस्पर-विरोधी प्रवृत्ति। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि यह विरोध केवल विरोधाभास नहीं, समग्र विरोध है। कवि महादेवी की दृष्टि, उनका लक्ष्य, पाठक के मन पर उनका प्रभाव, उनके साहित्यिक उपादान—सब गद्यकार महादेवी से सर्वथा भिन्न हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसा जान पड़ने लगता है कि कवि महादेवी और गद्यकार महादेवी दो व्यक्ति हैं, एक नहीं। इस बात पर तनिक और गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। महादेवी का काव्य मूलतः आत्मकेन्द्रिक है। उसकी आत्मा को भिन्न-भिन्न आलोचकों ने भिन्न-भिन्न

नाम दिये हैं। किसी ने उसे रहस्यवाद कहा है, किसी ने दुःखवाद और किसी ने रुदनवाद। महादेवी ने स्वयं अपनी कविता का सबसे अच्छा परिचय दिया है :

मैं नीर भरी दुख की बदली

उनकी इसी एक पंक्ति को मन में रखे हुए आप उनके सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का अवलोकन कर डालिए और तब आप तुरन्त जान लेंगे कि यही भाव शिराओं में बहनेवाले रक्त के समान उसमें सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है। अब इसे आप चाहे जिस नाम से पुकार लीजिए, उसकी मूल प्रेरणा में कोई अन्तर नहीं आयेगा और उसको जानने समझने के लिए आवश्यक है कि हम कवि की सृष्टि को कठोर धरती पर उतारकर उसका निरीक्षण करें। वैसा करने पर सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी के रुदन, दुःख अथवा 'रहस्यवाद' का उद्गम सामाजिक स्थिति में ही है। उनकी कविता समाज की दुरवस्था, असहाय नारी की विपन्न स्थिति, व्यक्ति और समाज के परस्पर 'वैषम्य', रुद्ध भावनाओं, दमित इच्छाओं, प्रचलित सामाजिक कुसंस्कारों के कारण पूर्ण रूप से प्रस्फुटित न हो पानेवाले अभिशप्त जीवन का भावात्मक, आत्मकेन्द्रिक निरूपण है; उनकी निःस्व, पराजित प्रतिक्रिया-स्वरूप कवि का एकान्त रुदन है। रुदन ही में कवि को संतोष या आनन्द मिलने लग जाय, पीड़ा की ही वह पूजा करने लग जाय, तब भी कवि की इस असाधारण मनःस्थिति का साक्ष्य देकर यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक स्थिति से असंतोष ही उसका कारण नहीं है। यह बात तो एक कठोर सत्य के रूप में अपने स्थान पर अचल है, नामों अथवा वादों के हेर-फेर से उसका कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। इसलिए महादेवी के काव्य को मूलतः आत्मकेन्द्रिक, आत्मलीन कहना ठीक है, अपनी ही पीड़ा के वृत्त में उसकी परिसमाप्ति है। संसार की पीड़ा का स्वतः उसके लिए अधिक मूल्य नहीं है, मूल्य यदि है तो कवि की पीड़ा के रंग को गहराई देने वाले उपादान के रूप में।

इसके ठीक विपरीत महादेवी का गद्य साहित्य मूलतः समाजकेन्द्रिक है। उसने जनता के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है। उसने समाज के दुःख, दैन्य, न्यस्त स्वार्थों और अभिशापों का प्रतिकार किया है। उसमें एक हारे हुए विद्रोही की आत्मा रुदन कर रही है। उसका मूल उत्स अपनी पीड़ा में नहीं, समाज में दिन-रात चलनेवाले अन्यायों और अत्याचारों में है। अब इसका कोई उचित कारण समझ में नहीं आता कि महादेवी के इन दोनों रूपों में ऐसा अमाप पार्थक्य, ऐसा विचित्र वैषम्य क्यों है। उनके काव्य-साहित्य के अवगाहन से तो कोई भी पाठक

इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि भौतिक जगत के कठोर सन्ताप उनके समीप अस्तित्व हीन हैं और वे अपने पीड़ा लोक में ही अपना विकास देखती हैं। ध्यान देने की बात है कि इस पीड़ा लोक में मूल्य आध्यात्मिक पीड़ा का ही आँका जाता है, उसी पीड़ा का जिसका भलीभाँति उदात्तीकरण Sublimation या तनिक और आगे बढ़कर कहें तो अतीन्द्रियकरण हो चुका है; जरा-मृत्यु, शोक-सन्ताप का कारण जो सम्पूर्ण रूप से कठोर भौतिक पीड़ा है, जिसके कारण विशाल जन-समुदाय का जीवन जीने योग्य नहीं है, वह तो जैसे खोटा सिक्का है। परन्तु यह विचित्र बात है कि इसी 'खोटे सिक्के' से उनके जीवन का व्यापार चलता है। जिन्होंने पास से उनके जीवन को देखा है वे इस बात का साक्ष्य देंगे। जिन्हें इस बात का सुअवसर नहीं मिला है, वे भी उनके गद्य साहित्य के अध्ययन से इस बात का प्रमाण पा सकेंगे कि महादेवी का कर्मनिष्ठ, सहज संवेदनशील, अन्याय का तत्पर विरोधी, सामाजिक तथा अन्य सभी कुसंस्कारों का उच्छेदक, समग्र संघर्षशील यही जीवन उनके गद्य में प्राणों का ओज बनकर बोल रहा है। इसलिए यह कहना बड़ी भूल होगी कि महादेवी के समीप जीवन की कठोर वास्तविकताएँ मूल्यहीन हैं, क्योंकि उनका सारा गद्य-साहित्य इसी बात के विरोध में साक्ष्य देता है। लेकिन जीवन का जो पारदर्शी सत्य उनके गद्य साहित्य का प्राण बनने की सामर्थ्य रखता है, वही उनके काव्यलोक में पहुँचकर क्यों सहमा नितान्त पंगु एवं अक्षम बन जाता है और उसी ओजःस्फूर्त रूप में उनकी भाव-चेतना को भी क्यों नहीं प्रभावित करता, यह एक ऐसी समस्या है जिसका उत्तर इस समय देना सम्भव नहीं है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय भी वह नहीं है। इस समय तो हमें उनके नारी जीवन-विषयक विचारों की ही समीक्षा करनी है।

भारतीय नारी आज कैसी उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, अधिकारहीन, व्यक्तित्वहीन प्राणी है, इसका प्रमाण खोजने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। जिस किसी ने भी अपनी दोनों आँखें फोड़ नहीं डाली हैं, उसके लिये यह एक स्वयंसिद्ध बात है। हमें चारों ओर नारी की दासता के प्रमाण मिलते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतीय नारी से अधिक दयनीय प्राणी संसार में कठिनाई से मिलेगा। उसे न पुत्री के रूप में अधिकार है, न माता के रूप में, न पत्नी के रूप में, न बहन के रूप में। विधवा की तो जो स्थिति हमारे समाज में है, वह बिलकुल अकथ्य है। अनेक समाज-सुधारकों ने हिन्दू विधवा को समाज की बलिवेदी पर चढ़नेवाले बलिपशु की संज्ञा दी है लेकिन चिन्तन और भावनायुक्त इस बलिपशु के लिये यह संज्ञा हलकी नहीं पड़ेगी, यह कहना कठिन है। आज हिन्दू समाज

नारी की अभिशप्त परवशता की भूमिका में दम तोड़ रहा है। जड़ रूढ़ियों और बद्धमूल संस्कारों की धुआँती हुई अग्नि में जलते हुए नारी जीवन की चिराँध से साँस लेना कठिन है। शायद हम सभी लोगों के घरों की दीवारों पर नारी के किसी न किसी रूप की निर्मम हत्या से उछले हुए खून के छींटे मिलेंगे। समाज के इस व्रण को न जानने का नाट्य अब कोई नहीं कर सकता। आज हिन्दू समाज में (विशेषकर मध्यवर्गीय समाज में) नारी की क्या दशा है, इसका विक्षुब्ध परिचय स्वयं महादेवी के शब्दों में सुनिये :

> 'इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिये रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिये गाय या घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का सजीव चित्र देखना हो तो विवाह के समय गुलाब सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पाँच वर्ष बाद देखिये। उस समय उस असमय प्रौढ़ा दुर्बल सन्तानों की रोगिन पीली माता में कौन सी विवशता, कौन सी रुला देने वाली करुणा न मिलेगी!'
>
> —शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १०२

और भी तीखा परिचय लीजिये :

> 'कानून हमारे स्वत्वों की रक्षा का कारण न बन कर चीनियों के काठ के जूते की तरह हमारे ही जीवन के आवश्यक तथा जन्मसिद्ध अधिकारों को संकुचित बनाता जा रहा है। सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित असंख्य स्त्रियों के सुनहले भविष्यमय जीवन कीटाणुओं से भी तुच्छ माने जाते देख कौन सहृदय रो न देगा? चरम दुरवस्था के सजीव निदर्शन हमारे यहाँ के सम्पन्न पुरुषों की विधवाओं और पैतृक धन के रहते हुए भी दरिद्र पुत्रियों के जीवन हैं। स्त्री पुरुष के वैभव की प्रदर्शिनी मात्र समझी जाती है और बालक के न रहने पर जैसे उसके खिलौने निर्दिष्ट स्थानों से उठा कर फेंक दिये जाते हैं, उसी प्रकार एक पुरुष के न होने पर न स्त्री के जीवन का कोई उपयोग ही रह जाता है, न समाज या गृह में उसको कहीं निश्चित स्थान ही मिल सकता है। जब जला सकते थे तब इच्छा या अनिच्छा से उसे जीवित ही भस्म करके स्वर्ग में पति के विनोदार्थ भेज देते थे, परन्तु अब उसे मृत पति का ऐसा निर्जीव

स्मारक बनकर जीना पड़ता है जिसके सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक होना तो दूर रहा, कोई उसे मलिन करनेकी इच्छा भी रोकना नहीं चाहता।'

—पृ. १६-१७

हिन्दू नारी की घर और बाहर दोनों जगह एक ही सी स्थिति है :

'हिन्दू नारी का घर और समाज इन्हीं दो से विशेष सम्पर्क रहता है। परन्तु इन दोनों ही स्थानों में उसकी स्थिति कितनी करुण है इसके विचारमात्र से ही किसी भी सहृदय का हृदय काँपे बिना नहीं रहता। अपने पितृगृह में उसे वैसा ही स्थान मिलता है जैसा किसी दूकान में उस वस्तु को प्राप्त होता है जिसके रखने और बेचने दोनों ही में दूकानदार को हानि की सम्भावना रहती है। जिस घर में उसके जीवन को ढलकर बनना पड़ता है, उसके चरित्र को एक विशेष रूपरेखा धारण करनी पड़ती है, जिस पर वह अपने शैशव का सारा स्नेह ढुलका कर भी तृप्त नहीं होती, उसी घर में वह भिक्षुक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दुःख के समय अपने आहत हृदय और शिथिल शरीर को लेकर वह उसमें विश्राम नहीं पाती, भूल के समय वह अपना लज्जित मुख उसके स्नेहांचल में नहीं छिपा सकती और आपत्ति के समय एक मुट्ठी अन्न की भी उस घर से आशा नहीं रख सकती। ऐसी है उसकी वह अभागी जन्मभूमि जो जीवित रहने के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं देती। पति गृह, जहाँ इस उपेक्षित प्राणी को जीवन का शेष भाग व्यतीत करना पड़ता है, अधिकार में उससे कुछ अधिक परन्तु सहानुभूति में उससे बहुत कम है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ उसकी स्थिति पल भर भी आशंका से रहित नहीं। यदि वह विद्वान पति की इच्छानुकूल विदुषी नहीं है, तो उसका स्थान दूसरी को दिया जा सकता है। यदि वह सौन्दर्योपासक पति की कल्पना के अनुरूप अप्सरी नहीं है, तो उसे अपना स्थान रिक्त कर देने का आदेश दिया जा सकता है। यदि वह पति की कामना का विचार करके सन्तान या पुत्रों की सेना नहीं दे सकती, यदि वह रुग्ण है या दोषों का नितान्त अभाव होने पर वह पति की अप्रसन्नता की दोषी है, तो भी उसे घर में दासत्व मात्र स्वीकार करना पड़ेगा।'

—शृंखला की कड़ियाँ पृष्ठ ३९-४०

पुरुष-शासित समाज में नारी की दासता का इससे अधिक प्रखर परिचय दूसरा नहीं हो सकता :

'साधारण रूप से वैभव के साधन ही नहीं, मुट्ठी भर अन्न भी स्त्री के सम्पूर्ण जीवन से भारी ठहरता है।'

—अतीत के चलचित्र, पृष्ठ ५३

महादेवी इन निष्कर्षों पर किताबी ज्ञान के सहारे नहीं, जीवन के निकट परिचय द्वारा पहुँची हैं। यही कारण है कि उनके संस्मरणों में से अधिकांश नारी की परवशता का चित्र उपस्थित करते हैं। विधवा जीवन के जो चित्र उन्होंने दिये हैं, उनमें खास तल्खी है। इस प्रश्नपर उनका ध्यान बार बार जाने का कारण भी शायद यही है कि यहाँ पर नारी की परवशता का घोरतम रूप दिखायी पड़ता है।

वेश्याओं की समस्या पर भी उन्होंने अपने सहज संवेदनशील ढंग से विचार किया है और उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँची हैं, जिन पर कोई समाजशास्त्री पहुँचता। वेश्याओं को हेय समझनेवालों का समुदाय विस्तृत है लेकिन उनको उस हेय स्थिति तक पहुँचाने में और उन्हें वहीं रखने में स्वयं उनका हाथ भी है. इसे समझने वाले बिरले ही मिलेंगे। उन पर विचार करते हुए अधिकांश लोग अपने कल्पित पावित्र्याभिमान की गरिमा से फूलकर नाक-भौं सिकोड़ते देखे जायेंगे, लेकिन उनकी पवित्रता, उनकी नैतिकता को वेश्याओं की नैतिकता से ऊँचा कहने के लिये ठिठककर थोड़ा विचार अवश्य करना पड़ेगा।

महादेवी कितने सहानुभूतिपूर्ण ढंग से वेश्या-जीवन पर विचार करती हैं, इसे देखिये :

'यदि स्त्री की ओर से देखा जाय तो निश्चय ही देखने वाला काँप उठेगा। उसके हृदय में प्यास है, परन्तु उसे भाग्य ने मृग-मरीचिका में निर्वासित कर दिया है। उसे जीवन भर आदि से अन्त तक सौन्दर्य की हाट लगानी पड़ी, अपने हृदय की समस्त कोमल भावनाओं को कुचलकर, आत्मसमर्पण की सारी इच्छाओं का गला घोंटकर रूप का क्रय-विक्रय करना पड़ा—और परिणाम में उसके हाथ आया निराश-हताश एकाकी अन्त। × × × जीवन की एक विशेष अवस्था तक संसार उसे चाटुकारी से मुग्ध करता रहता है, झूठी प्रशंसा की मदिरा से उन्मत्त करता रहता है, उसके सौन्दर्य-दीप पर शलभ सा मँडराता रहता है, परन्तु, उस मादकता के अन्त में, उस बाढ़ के उतर जाने पर, उसकी ओर कोई सहानुभूति-भरे नेत्र भी नहीं उठाता। उस समय उसका तिरस्कृत स्त्रीत्व, लोलुपों के द्वारा प्रशंसित रूप-वैभव का

भग्नावशेष, क्या उसके हृदय को किसी प्रकार की सान्त्वना भी दे सकता है ? जिन परिस्थितियों ने उसका गृहजीवन से बहिष्कार किया, जिन व्यक्तियों ने उसके काले भविष्य को सुनहले स्वप्नों से ढाँका, जिन पुरुषों ने उसके नूपुरों की रुन-झुन के साथ अपने हृदय के स्वर मिलाये और जिस समाज ने उसे इस प्रकार हाट लगाने के लिये विवश तथा उत्साहित किया, वे क्या कभी उसके एकाकी अन्त का भार कम करने लौट सके ?

—शृंखला की कड़ियाँ, पृ. १११–११२

इसी समस्या पर पुनः लिखते हुए महादेवी के इस पवित्र क्षोभ को देखिये :—

'इन स्त्रियों ने जिन्हें गर्वित समाज पतित के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरुष की वासना की वेदी पर कैसा घोरतम बलिदान दिया है, इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरुष की बर्बरता, रक्त-लोलुपता पर बलि होनेवाले युद्ध-वीरों के चाहे स्मारक बनाये जावें, पुरुष की अधिकार भावना को अक्षुण्ण रखने के लिये प्रज्ज्वलित चिता पर क्षण भर में जल मिटनेवाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरुष की कभी न बुझनेवाली वासनाग्नि में हँसते हँसते अपने जीवन को तिल-तिल जलानेवाली इन रमणियों को मनुष्य जाति ने कभी दो बूँद आँसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा। × × × कभी कोई ऐसा इतिहासकार न हुआ, जो इन मूक प्राणियों की दुखभरी जीवनगाथा लिखता, जो इनके अँधेरे हृदय में इच्छाओं के उत्पन्न और नष्ट होने की करुण-कहानी सुनाता, जो इनके रोम-रोम को जकड़ लेनेवाली शृंखला की कड़ियाँ ढालनेवालों के नाम गिनाता और जो इनके मधुर जीवन पात्र में तिक्त विष मिलानेवाले का पता देता।

—शृंखला की कड़ियाँ, पृ. ११३–११४

वेश्याओं के प्रति जो दृष्टिकोण उपर्युक्त उद्धरणों में रूपायित हुआ है, वह केवल सहानुभूतिपूर्ण ही नहीं, प्रगतिशील भी है, क्योंकि वह यथार्थ पर आधारित है, जीवन-सम्मत है। इस समस्या पर विचार करनेवाले सभी समाजशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार किया है कि वेश्यावृत्ति स्वीकार करने का कारण उन स्त्रियों की व्यक्तिगत दुर्बलता नहीं, सामाजिक परिस्थिति-जन्य विवशता ही है। जहाँ नारी सबसे अधिक पराधीन है, वहीं वेश्यावृत्ति भी सबसे अधिक है। जहाँ

सम्पूर्ण समाज के साथ-साथ नारी भी स्वाधीन है, वहाँ वेश्यावृत्ति नहीं है। ऐसा सम्पूर्ण स्वाधीन समाज तो सोवियत रूस में ही है, इसीलिये वहाँ वेश्यावृत्ति का नाम भी नहीं है और वे स्त्रियाँ जो कभी वेश्यावृत्ति से जीविका उपार्जित करती थीं, आज सम्पूर्ण नागरिक अधिकारों के साथ अपने समाज की क्रियाशील सदस्याएँ हैं और देश को अपनी अन्य पुत्रियों के समान ही उन पर भी गर्व है। इस प्रश्नपर आगे हम और विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ तो केवल यह दिखलाना उद्दिष्ट है कि वेश्याओं की समस्या पर न्यायपूर्ण ढंग से विचार ही नहीं किया जा सकता, जब तक आप उन्हें सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका में रखकर न देखें। ऐसा न करने पर आप उसी बर्बर असभ्य 'निष्कर्ष' पर पहुँचेंगे जिस पर विशाल अशिक्षित जनसमुदाय पहुँचता है, कि वे विशेष कामुकी होती हैं और उनका कोई इलाज सम्भव नहीं, सदा ऐसी स्त्रियाँ होती रहेंगी जिनकी सम्भोगेच्छा इतनी प्रबल होगी कि वे एक पति से अनुरक्त होकर रह ही नहीं सकेंगी, आदि। एक बार फिर यह कहना आवश्यक है कि इस प्रश्न पर यह दृष्टि घोर बर्बरता की द्योतक है। सभ्य, शिक्षित दृष्टिकोण यह है :

> 'मनुष्य जाति के सामान्य गुण सभी मनुष्यों में कम या अधिक मात्रा में विद्यमान रहेंगे। केवल विकास के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हें बढ़ा घटा सकेंगी। पतित कही जानेवाली स्त्रियाँ भी मनुष्य जाति से बाहर नहीं हैं, अतः उनके लिए भी मानव-सुलभ प्रेम, साधना और त्याग अपरिचित नहीं हो सकते। उनके पास भी धड़कता हुआ हृदय है, जो स्नेह का आदान-प्रदान चाहता रहता है, उनके पास भी बुद्धि है जिसका समाज के कल्याण के लिए उपयोग हो सकता है और उनके पास भी आत्मा है जो व्यक्तित्व में अपने विकास और पूर्णत्व की अपेक्षा रखती है। ऐसे सजीव व्यक्ति को एक ऐसे गर्हित व्यवसाय के लिए बाध्य करना जिसमें उसे जीवन के आदि से अन्त तक उमड़ते हुए आँसुओं को अंजन से छिपाकर, सूखे हुए अधरों को मुस्कराहट से सजाकर और प्राणों के क्रन्दन को कण्ठ ही में रूँधकर धातु के कुछ टुकड़ों के लिए अपने आप को बेचना होता है, हत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'
>
> —पृ. ११५

रूप का व्यवसाय गर्हित है, व्यवसायी नहीं; क्योंकि किन्हीं परिस्थितियों में विवश होकर ही उसे यह व्यवसाय करना पड़ा होगा, इसलिये दोष परिस्थितियों

का है, परिस्थितियों के निर्माण करनेवालों का है। जो परिस्थितियों के भँवर में पड़कर बह गया, वह तो हमारी दया का पात्र ही हो सकता है। उसके प्रति तो हम केवल रचनात्मक दृष्टिकोण रख सकते हैं, जिसमें हम पुनः उन परिस्थितियों का निर्माण कर सकें जिनमें पहले का रूप-व्यवसायी फिर से हमारे समाज का आदृत सदस्य बन सके। स्वतन्त्र देश और स्वतन्त्रचेता विचारक यही दृष्टिकोण रखते भी हैं। अभी कुछ दिन हुए समाचार आया था कि फ्रांस ने, नये स्वाधीन जागरित फ्रांस ने, वेश्या-वृत्ति को अवैध घोषित कर दिया है और वेश्याओं को अन्य कार्यों में लगाने की व्यवस्था की है। यही सभी स्वाधीन देशों में होगा। नये रूस का उदाहरण भी इस दिशा में बहुत उपयोगी है। अपनी मातृ-भूमि की स्वाधीनता के युद्ध में जारशाही रूस की वेश्याओं और आज की सोवियत महिलाओं का स्थान अन्य स्त्रियों से अणुमात्र भी कम नहीं रहा। उन्होंने छापेमारों के दस्तों में भी काम किया। जो काम उनकी अन्य बहनों ने किया, वही उन्होंने भी उतनी ही लगन के साथ किया। इसीलिये कि संसार के सभ्यतम देश समाजवादी रूस ने उन्हें मनुष्य बनने का अवसर दिया था, उन्हें उस आत्मा का हनन करनेवाले व्यापार से छुटकारा दिया था, उनसे घृणा न करके उन्हें हृदय से लगा लिया था। उनके प्रति महादेवी के दृष्टिकोण में भी यही संवेदनशीलता, यही करुणा परिलक्षित होती है और इसी करुणा में नव-निर्माण की शक्ति है। यह करुणा वायवी नहीं, जीवन के गतिशील दर्शन पर आधारित है, इसीलिए जहाँ उसमें बलिपशु के लिए अजस्र करुणा है, वहीं बलि करनेवाले के लिये हिंस्र घृणा।

विधवाओं और वेश्याओं की समस्या पर विचार करने के साथ-साथ महादेवी ने कुछ अन्य सामान्य प्रश्नों पर भी विचार किया है, जैसे सामाजिक रूढ़ियाँ। प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष बहुत पुराना है और वह आज भी सुलझने का नाम नहीं लेता। उसके सम्बन्ध में विचार करते हुए वे लिखती हैं :

> 'प्राचीनता की पूजा बुरी नहीं, उसकी दृढ़ नींव पर नवीनता की भित्ति खड़ी करना भी श्रेयस्कर है, परन्तु उसकी दुहाई देकर जीवन को संकीर्ण से संकीर्णतम बनाते जाना और विकास के मार्ग को चारों ओर से रुद्ध कर लेना किसी जीवित व्यक्ति पर समाधि बना देने से भी अधिक क्रूर और विचारहीन कार्य है।'

> 'जीवन की सफलता अतीत से शिक्षा लेकर अपने आपको नवीन वातावरण के उपयुक्त बना लेने, नवीन समस्याओं को सुलझा लेने में

है, केवल उनके अन्धानुसरण में नहीं। अतः अब स्त्रियों से सम्बद्ध अनेक प्राचीन वैधानिक व्यवस्थाओं में संशोधन तथा अर्वाचीनों का निर्माण आवश्यक है।

'समस्त सामाजिक नियम मनुष्य की नैतिक उन्नति तथा उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए आविष्कृत किये गये हैं। जब वे ही मनुष्य के विकास में बाधा डालने लगते हैं तब उनकी उपयोगिता नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ, विवाह की संस्था पवित्र है, उसका उद्देश्य भी उच्चतम है, परन्तु जब वह व्यक्तियों के नैतिक पतन का कारण बन जावे, तब अवश्य ही उसमें किसी अनिवार्य संशोधन की आवश्यकता समझनी चाहिए।'

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से एक सुलझे हुए और रूढ़ियों से मुक्त, प्रगतिशील विचारक का परिचय मिलता है। महादेवी के विचारों में कहीं प्राचीनता के लिए आग्रह नहीं है और सर्वत्र नवीनतम मान्यताओं के स्वीकरण का भाव है। उनके विचारों में किसी सामाजिक कुसंस्कार या जड़ता की छाया भी नहीं मिलेगी। यहाँ तक कि 'जारज' अवैध सन्तानों की समस्या पर भी उनके दृष्टिकोण में वही उदारता है, वस्तुस्थिति को निर्भीक भाव से ग्रहण करने की सचाई है, जो विधवाओं तथा वेश्याओं की ओर से संघर्ष करते हुए उनमें पायी जाती है। अवैध सन्तति की समस्या बड़ी समस्या है। उसे उदार भाव से समस्त नागरिक अधिकारों के साथ ग्रहण कर लेने के लिए आन्दोलन करनेवाले कम ही समाज-सुधारक मिलेंगे। प्रगतिशील दृष्टिकोण के बिना यह सम्भव नहीं। महादेवी में यही क्रान्तिकारी दृष्टिकोण मिलता है। पुराणपंथियों की भर्त्सना करते हुए वे लिखती हैं :

'जिन मानवीय दुर्बलताओं को वे स्वयं अविरत संयम और अटूट साधना से भी जीवन के अन्तिम क्षणों तक न जीत सकेंगे, उन्हीं दुर्बलताओं को किसी भूली हुई अस्पष्ट सुधि-द्वारा जीत लेने का आदेश वे उन अबोध बालिकाओं को दे डालेंगे जो जीवन से अपरिचित हैं। उनकी आज्ञा है, उनके शास्त्रों की आज्ञा है और कदाचित् उनके निर्मम ईश्वर की भी आज्ञा है, कि वे जीवन की प्रथम अँगड़ाई को अन्तिम प्राणायाम में परिवर्तित कर दें, आशा की पहली किरण को विषाद के निविड़ अन्धकार में समाहित कर दें, और सुख के मधुर पुलक को आँसुओं में बहा डालें।' —पृ. ४२-४३

जिससे एक बार भी चूक हुई, उसकी क्या दुर्दशा होती है, इसे महादेवी ने विशेष रूप से 'अतीत के चलचित्र' के छठे संस्मरण की मुख्य पात्री अठारह वर्ष की विधवा के चित्र द्वारा समझाया है। उसी पर विचार करते हुए लिखती हैं :

> 'अपने अकाल वैधव्य के लिए वह दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। उसे किसी ने धोखा दिया, इसका उत्तरदायित्व भी उस पर नहीं रखा जा सकता। पर उस आत्मा का जो अंश, हृदय-खण्ड उसके समान है, उसके जीवन-मरण के लिए केवल वही उत्तरदायी है। कोई पुरुष यदि उसको अपनी पत्नी नहीं स्वीकार करता, तो केवल इस मिथ्या के आधार पर वह अपने जीवन के इस सत्य को, अपने बालक को अस्वीकार कर देगी? संसार में चाहे इसको कोई परिचयात्मक विशेषण न मिला हो, परन्तु अपने बालक के निकट तो वह गरिमामयी जननी की संज्ञा ही पाती रहेगी। इसी कर्तव्य को अस्वीकार करने का वह प्रबंध कर रही है। किसलिए? केवल इसलिए कि या तो उस वंचक समाज में फिर लौट कर, गंगा-स्नान कर, व्रत-उपवास पूजा-पाठ आदि के द्वारा सती विधवा का स्वाँग भरती हुई और भूलों की सुविधा पा सके या किसी विधवा आश्रम में पशु के समान नीलाम पर कभी नीची, कभी ऊँची बोली पर बिके, अन्यथा एक एक बूँद विष पीकर धीरे-धीरे प्राण दे।' —पृ. ६०-६१

अवैध सन्तान के विषय में लिखते हुए देखिए उनकी करुणा किस प्रकार इस तिरस्कृत नवजात शिशु की ओर प्रवाहित होती है :

> 'छोटी लाल कली जैसा मुँह नींद में कुछ खुल गया था और उस पर एक विचित्र सी मुस्कुराहट थी, मानो कोई सुन्दर स्वप्न देख रहा हो। इसके आने से कितने भरे हृदय सूख गये, कितनी सूखी आँखों में बाढ़ आ गयी और कितनों को जीवन की घड़ियाँ भरना दूभर हो गया, इसका इसे कोई ज्ञान नहीं। यह अनाहूत, अवांछित अतिथि अपने सम्बन्ध में भी क्या जानता है? इसके आगमन ने इसकी माता को किसी की दृष्टि में आदरणीय नहीं बनाया, इसके स्वागत में मेवे नहीं बँटे, बधाई नहीं गायी गयी, दादा नाना ने अनेक नाम नहीं सोचे, चाची-ताई ने अपने नेग के लिए वाद-विवाद नहीं किया और पिता ने इसमें अपनी आत्मा का प्रतिरूप नहीं देखा।'

कितने सजीव, चित्रमय रूप में इस 'अवांछित अतिथि' के प्रति समाज का निर्मम तिरस्कार उन्होंने व्यक्त किया है। समाज के इस बर्बर नियम का वे कितना मूल्य आँकती हैं, वह तो इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने एक प्रकार से समाज को चुनौती देकर इन अभागे मां-बेटे को अपनी ममतामयी क्रोड़ में आश्रय दिया, और जैसे घोषणा की—ओ धर्मध्वजियो, तुम्हारे प्रमाण-पत्रों को मैं कूड़ा-कर-कट समझती हूँ।

महादेवी ने नारी की परवशता की समस्या पर केवल कवि की करुणा-विगलित दृष्टि डाली हो, सो बात नहीं है। उन्होंने एक गम्भीर समाज-शास्त्री के रूप में इस समस्या पर चिन्तन किया है। इसीलिए नारी की इस परवशता का मूल कारण क्या है, यह पता लगाने में भी उन्हें ज्यादा देर न लगी। उनका यह निश्चित मत है, कि स्त्रियों की इस परवशता के मूल में उनकी आर्थिक परवशता है और इसलिए उनकी परवशता का उच्छेद तब तक असम्भव है जब तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी नहीं हो जाती। वे कहती हैं :

> 'अनेक व्यक्तियों का विचार है कि यदि कन्याओं को स्वावलंबिनी बना देंगे तो वे विवाह ही न करेंगी, जिससे दुराचार भी बढ़ेगा और गृहस्थ-धर्म में भी अराजकता उत्पन्न हो जायगी। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि स्वाभाविक रूप से विवाह में किसी व्यक्ति के साहचर्य की इच्छा प्रधान होना चाहिए, आर्थिक कठिनाइयों की विवशता नहीं।
>
> —शृंखला की कड़ियाँ पृ. १०२

और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में :

> 'स्त्री के जीवन की अनेक विवशताओं में प्रधान और कदाचित् सबसे अधिक जड़ बनानेवाली अर्थ से सम्बन्ध रखती है और रखती रहेगी क्योंकि वह सामाजिक प्राणियों की अनिवार्य आवश्यकता है।'
>
> 'अर्थ का विषम विभाजन भी एक ऐसा ही बन्धन है जो स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है।'
>
> 'समाज ने स्त्री के सम्बन्ध में अर्थ का ऐसा विषम-विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग की स्त्रियों तक की स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है वरन् अर्थ के सम्बन्ध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बन्धन में बँधी हुई है। कहीं पुरुष ने न्याय का सहारा लेकर और कहीं अपने स्वामित्व की शक्ति से लाभ उठाकर उसे इतना अधिक

परावलम्बी बना दिया है कि वह उसकी सहायता के बिना संसार-पथ में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती।'

'इस प्रकार स्त्री की स्थिति नितान्त परवशता की हो गयी और पुरुष की स्थिति स्वच्छन्द आत्मनिर्भरता की। यह स्थिति-वैषम्य ही नारी-पुरुष सम्बन्ध की विषमता के मूल में है।'

महादेवी के उपर्युक्त उद्धरणों में लेनिन की इस उक्ति की ध्वनि मिलती है :

'जब तक स्त्रियाँ घरेलू कामकाज में फँसी रहती हैं, तब तक उनकी परवश स्थिति रहती है। स्त्री जाति की पूर्ण स्वाधीनता के लिए और उन्हें सच्चे अर्थ में पुरुषों का समकक्ष बनाने के लिए आवश्यक है कि हम सामाजिक उत्पादन प्रणाली का सूत्रपात करें और स्त्रियों को इस बात का अवसर दें कि वे भी पुरुषों ही की भाँति सामाजिक उत्पादन के श्रम में हाथ बँटा सकें। तब स्त्री और पुरुष की समान स्थिति हो जायगी।'[1]

अपने इसी विचार को लेनिन एक स्थल पर और अधिक विशद रूप में प्रस्तुत करते हैं :

'युगों पहले पश्चिमी योरप के सभी स्वाधीनता आन्दोलनों के प्रतिनिधियों ने दशाब्दियों तक ही नहीं शताब्दियों तक इस बात का आन्दोलन किया कि (स्त्री और पुरुष के विषमतामूलक) पुराणपंथी, जड़ कानूनों को उठा दिया जाय और स्त्री तथा पुरुष में कानूनी समता स्थापित कर दी जाय। लेकिन एक भी योरोपीय गणतांत्रिक राष्ट्र, वह तक जो सबसे आगे बढ़ा हुआ था, ऐसा न कर सका, क्योंकि जहाँ पूँजीवाद का राज्य है, जहाँ जमीन और कल-कारखानों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की रक्षा की जाती है, जहाँ पूँजी की सत्ता अचल है, वहाँ पुरुष का (नारी पर) स्वामित्व भी अटल रहेगा। रूस में हमें स्त्री और पुरुष की समता स्थापित करने में सफलता केवल इसलिए मिली कि ७ नवम्बर १९१७ को हमारे यहाँ मज़दूरों का राज्य स्थापित हुआ। × × × कमकरों की सरकार, सोवियत सरकार ने अपनी स्थापना के चन्द महीनों के अन्दर ही स्त्रियों से सम्बद्ध क़ानूनों में क्रान्ति ला दी। स्त्रियों को (पुरुषों के) अधीन रखनेवाले क़ानूनों का लेशमात्र

---

1. Selected Works, Vol. ix. p. 496

भी अब सोवियत प्रजातन्त्रों में नहीं रह गया है। मेरा मतलब खास तौर पर उन क़ानूनों से है जो स्त्री की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाते थे और उसे हीन तथा बहुधा अपमानजनक स्थिति में डाल देते थे—मेरा मतलब तलाक़ के तथा अवैध सन्तान से सम्बद्ध क़ानूनों से है, स्त्री के इस अधिकार से है कि वह अपनी सन्तान के पिता पर गुजारे के लिए दावा दायर कर सके।'[२]

इस विश्लेषण से यह धारणा अवश्य बनती है कि नारी स्वाधीनता के प्रश्न पर महादेवी के विचार समाजवाद से प्रभावित हैं। नारी की परवशता का जो मूल कारण समाजवाद बतलाता है, महादेवी भी अपने अनुभव के आधार पर उससे सहमत हैं। जीवन के प्रति महादेवी का दृष्टिकोण गांधीवादी है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु नारी-स्वाधीनता के प्रश्न पर वे समाजवाद के ही अधिक समीप हैं। गांधीवाद में नारी को घर ही में सीमित रखने का जो आग्रह है, उसे महादेवी स्वीकार नहीं करती। गार्हस्थिक उत्तरदायित्वों की पवित्रता आदि के सम्बन्ध में जो लम्बी-चौड़ी बातें उस ओर से कही जाती हैं, उनका भी महादेवी पर कोई प्रभाव नहीं है। महादेवी ने रोग की जड़ पहचान ली है। वे इस बात को बिलकुल अस्वीकार करती हैं कि स्त्री का कार्यक्षेत्र केवल घर है, घर के बाहर पुरुष का कार्यक्षेत्र है, जहाँ स्त्री को पैर भी न रखना चाहिए। कहती हैं :

> 'वास्तव में स्त्री भी अब केवल रमणी या भार्या नहीं रही, वरन् घर के हर समाज का एक विशेष अंग तथा महत्वपूर्ण नागरिक है, अतः उसका कर्तव्य भी अनेकाकार हो गया है...'

महादेवी का मत है कि स्त्री का कार्यक्षेत्र घर भी है और बाहर भी। घर के दायित्वों के प्रति 'आधुनिकाओं' का जो विद्रोह है, उसे भी वे स्वीकार नहीं करतीं और घर के दायित्वों तक ही सीमित रह जानेवाली बात को, घर की गुलामी को भी नहीं स्वीकार करतीं। उनका रास्ता मध्य का है, जिसका मूल मन्त्र है :

> 'समाज को किसी न किसी दिन स्त्री के असन्तोष को सहानुभूति के साथ समझ कर उसे ऐसा उत्तर देना होगा, जिसे पाकर वह अपने आपको उपेक्षित न माने और जो उसके मातृत्व के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे नवीन युग की सन्देशवाहिका बना सकने में समर्थ हो।'

---

२. उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ ४९५

यह घर और बाहर की सनातन समस्या को सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से, समन्वय के आधार पर हल करने का प्रयास है और शायद इस प्रश्न पर यही स्वस्थतम, प्रगतिशील दृष्टिकोण भी है। 'आधुनिका' की जो सहज प्रवृत्ति घर से सम्पूर्ण रूप में सम्बन्धविच्छेद कर लेने की है, वह ध्वंसात्मक है, रचनात्मक नहीं। उसके सम्बन्ध में महादेवी कहती हैं :

> 'अनुकरण को चरम लक्ष्य माननेवाली महिलाओं ने भी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए सत्पथ नहीं खोज पाया, परन्तु उस स्थिति में उसे खोज पाना सम्भव भी नहीं था। उन्हें अपने मूक छायावत् निर्जीव जीवन से ऐसी मर्म-व्यथा हुई कि उसके प्रतिकार के लिए उपयुक्त साधनों के आविष्कार का अवकाश ही न मिल सका। अत: उन्होंने अपने आपको पुरुषों के समान ही कठिन बना लेने की कठोर साधना आरम्भ की। कहना नहीं होगा कि इसमें सफलता का अर्थ स्त्री के मधुर व्यक्तित्व को जलाकर उसकी भस्म से पुरुष की रुक्ष मूर्ति गढ़ लेना है। फलतः आज की विद्रोहशील नारी व्यावहारिक जीवन में अधिक कठोर है, गृह में अधिक निर्मम और शुष्क, आर्थिक दृष्टि से अधिक स्वाधीन, सामाजिक क्षेत्र में अधिक स्वच्छन्द, परन्तु अपनी निर्धारित रेखाओं की संकीर्ण सीमा की बन्दिनी है।'

महादेवी 'आधुनिका' के इस 'विद्रोह' को आत्महत्या समझती हैं। उनका विश्वास है कि घर और बाहर दोनों ही स्त्री के कार्यक्षेत्र हैं, दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, वस्तुतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और यदि सतुलन के साथ दोनों को साथ लेकर चलने का प्रयत्न किया जाय तो थोड़े ही श्रम से इस दिशा में निश्चय ही सफलता मिल सकती है।

महादेवी इतना कहकर ही संतोष नहीं कर लेतीं कि स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर के बाहर भी है। वे अलग-अलग काम गिनाती भी हैं। जैसे महिला-साहित्य व बाल-साहित्य की रचना। इस दो प्रकार के साहित्य की रचना में स्त्रियों को ही सर्वाधिक सफलता मिलने की सम्भावना है क्योंकि ये दोनों विषय एक प्रकार से उन्हीं से सम्बन्ध रखते हैं। इस साहित्य रचना के अलावा शिक्षा, चिकित्सा और कानून के क्षेत्रों में वे विशेष रूप से सहायक तथा उपयोगी हो सकती हैं। बालक-बालिकाओं की शिक्षा, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा आदि का कार्य तथा बाल एवं महिला साहित्य की रचना निश्चय ही ऐसे मार्ग हैं जिनके सम्बन्ध में महादेवी का उपर्युक्त सिद्धान्त लागू किया जा सके। अर्थात् वे ऐसे कार्य हैं जो उसके मातृत्व को

अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे नवीन युग की सन्देशवाहिका बना सकने में समर्थ हैं। महादेवी के इन विचारों का पूरा महत्व तब समझ में आता है जब हम संसार की अकेली समग्र क्रान्तिकारी शासन-सत्ता, सोवियत रूस में स्त्रियों की स्थिति पर नजर दौड़ाते हैं। वहाँ भी स्त्री जाति का विकास उसके मातृत्व की रक्षा मात्र के आधार पर नहीं बल्कि उसके विकास के आधार पर हुआ है। सोवियत राज ने स्त्री के मातृत्व को विकसित करके स्त्री जाति का उन्नयन किया है और उसे सोवियत समाज का उपयोगी सदस्य बनाया है, उसके मातृत्व को अपहृत या विस्मृत करके नहीं। यही कारण है कि सोवियत रूस में स्त्रियों का उन्हीं क्षेत्रों में सबसे अधिक विकास हुआ है जिनकी ओर महादेवी ने संकेत किया है। विभिन्न पेशों में सोवियत नारी का क्या आनुपातिक स्थान है, इसके आँकड़े देखने पर पता चलता है कि वैज्ञानिक खोज के कार्य में स्त्रियों की संख्या ३४ प्रति शत थी, विश्वविद्यालयों के कुल विद्यार्थियों में महिला विद्यार्थियों की ४३.१ प्रति शत थी, चिकित्सकों की कुल संख्या में आधे से ऊपर (५०.६ प्रति शत) महिलाएँ थीं और अध्यापन के क्षेत्र में स्त्रियों ने पुरुषों को बिलकुल पीछे छोड़ दिया था—अध्यापिकाओं की संख्या कुलकी ६४.८ प्रति शत थी। कृषि और कल कारखानों की मजदूरी के कार्य में भी स्त्रियाँ क्रमशः ३७.१ और ३९.८ प्रति शत थीं, जो कि कम नहीं है। लेकिन शिक्षा और चिकित्सा ही वे दो मुख्य कार्यक्षेत्र हैं जिन में स्त्रियाँ निश्चित रूप से पुरुषों से आगे हैं और उत्तरोत्तर आगे होती जाती हैं।

महादेवी ने अत्यन्त गम्भीर और शान्त मन से नारी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है और तत्सम्बन्धी अपने निष्कर्ष वास्तविक जीवन के अपने परिचय के आधार पर बनाये हैं। यही कारण है कि इस प्रश्न पर उनकी स्थिति गांधीवादी सुधारवाद से पृथक् है और उस पर समाजवाद का प्रभाव दिखायी देता है। समाजवाद के सिद्धान्तों पर संचालित सोवियत रूस का विधान अपनी १२२ वीं धारा में यदि नारी की स्वाधीनता की घोषणा इन शब्दों में करता है कि—

> 'सोवियत रूस की स्त्रियों को जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा राज्य-सम्बन्धी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के बराबर अधिकार होंगे (और) इन अधिकारों का उपयोग करने के लिए स्त्रियों को अधिक से अधिक सुविधाएँ दी जायँगी।'

—तो उसका यही कारण है कि जारशाही शासनकाल में रूस की

स्त्रियों की वही दशा थी जो आज भारतवर्ष की स्त्रियों की है। ज़ारशाही शासनकाल के काले दिनों में स्त्री को केवल सामाजिक उत्पीड़न का ही सामना नहीं करना पड़ता था। पारिवारिक जीवन में भी न तो स्त्रियों के कोई अधिकार थे और न अत्याचार से बचाव के साधन। किसान स्त्रियों का पुराने ज़माने के परिवार में क्या स्थान था, इसके ऊपर विचार करते हुए स्तालिन ने कहा था—शादी होने के पहले परिवार में काम करनेवालों में उसका स्थान पहला था। वह अपने पिता के लिए काम करती थी और एड़ी-चोटी का पसीना एक करने के बाद भी पिता के यही शब्द उसे सुनने को मिलते थे, 'मैं तुम्हारा पालन कर रहा हूँ।' शादी होने के बाद वह अपने पति के लिए काम करती थी और उसकी प्रत्येक आज्ञा का सिर झुकाके पालन करती थी। उसके बदले पुरस्कार में उसे पति से यही शब्द सुनने को मिलते थे—'मैं तुम्हारा पालन कर रहा हूँ।'

—समाजवादी रूस की स्त्रियाँ, पृष्ठ २३

नारी-समस्या पर महादेवी के विचार समाजवाद की ओर उन्मुख हैं और उनकी पुष्ट सामाजिक चेतना का परिचय देते हैं। निम्न उद्धरण में वे अपने विचार बहुत सुलझे हुए और संतुलित ढंग से रखती हैं :

'आरम्भ में प्रायः सभी देशों के समाज ने स्त्री को कुछ स्पृहणीय स्थान नहीं दिया परंतु सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री की स्थिति में भी परिवर्तन होता गया। वास्तव में स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने का मापदण्ड कहा जा सकता है। नितान्त बर्बर समाज में स्त्री पर पुरुष वैसा ही अधिकार रखता है, जैसा वह अपनी स्थावर सम्पत्ति पर रखने को स्वतंत्र है। इसके विपरीत पूर्ण विकसित समाज में स्त्री पुरुष की सहयोगिनी तथा समाज का आवश्यक अंग मानी जाकर माता तथा पत्नी के महिमामय आसन पर आसीन है।'

—पृष्ठ १२८

महादेवी का नारी-स्वाधीनता का स्वप्न कम से कम एक देश में जीवन की वास्तविकता पा चुका है। संसार के कम से कम छठें* भाग पर एक ऐसा पूर्ण विकसित समाज है जहाँ नारी को इतिहास में पहली बार अधिक से अधिक और सच्चा मान

* अब एक तिहाई—लेखक

और आदर मिला है। महादेवी ने यदि सोवियत नारी के सम्बन्ध में यथेष्ट बातें पता लगाकर उनके आलोक में भारतीय नारी की समस्या पर विचार किया होता तो उसके वर्तमान जीवन की विभीषिका और भविष्य के स्वप्नों के बीच एक लंबी खाई न होकर कर्तव्य का एक सेतु होता और उनके विचारों की एक बड़ी कमी दूर हो जाती अर्थात् आज की परवश भारतीय नारी के लिए तत्काल कर्म का सन्देश—क्योंकि स्वप्न सार्थक तब होता है जब उसे कर्तव्य का आकार मिलता है।

१९४९]

अतीत के चलचित्र

हम श्रीमती महादेवी वर्मा से सुप्रसिद्ध कवियित्री के रूप में परिचित हैं। 'अतीत के चलचित्र' उनकी पहली गद्य-रचना है। उसमें उनके संस्मरण संकलित हैं। ये संस्मरण न तो बहुत धनी-धोरी लोगों के हैं और न ऐसे लोगों के जिनका समाज में बहुत मान है। उल्टे इन संस्मरणों में लेखिका ने ऐसे व्यक्तियों की स्मृति को ताजा किया है जिन्हें आम तौर पर दुनिया भूल जाया करती है। लेकिन दुनिया इन व्यक्तियों को भूल जाया करती है तो इसमें दोष दुनिया का ही है, क्योंकि वह केवल ऊपरी चीज़ें देखती है और इन व्यक्तियों के बहिरङ्ग में तो ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे कोई याद रखे ; उनका सौन्दर्य तो भीतरी है, उसका संबंध उनके हृदय से है, उसकी निश्छल सरलता से है।

पुस्तक में सबसे पहली चीज़ जो मन को अपनी ओर खींचती है, वह उसका समर्पण है। उसमें लेखिका ने गहरी अनुभूति और संवेदना से अपने कलात्मक उद्देश्य की घोषणा-सी की है :

> जिनके आँसुओं ने मेरा पथ स्वच्छ किया है,
> जिनकी बिखरी कथाओं ने मेरे लिए जीवन की शृंखला जोड़ी है
> जिनकी ममता सुंदर, सरलता शिव और मनुष्यता सत्य रही है,
> जो अपने उपकारों से अनजान और मेरी कृतज्ञता से अपरिचित हैं
> उन्हीं अपने धूमिल चलचित्रों के
> चिर उज्ज्वल आधारों को

लेखिका का कथन है कि ये स्केच मूलतः प्रकाशन के लिए नहीं लिखे गये थे। आत्मसंतोष के लिए ही इनकी रचना हुई थी। उद्देश्य था साहित्यिक सृष्टि के माध्यम से उन लोगों की स्मृति को सँजो रखना।

अतीत के ये चित्र बहुरंग हैं—व्यथा के 'प्रिज़्म' से ही लेखिका ने उन्हें देखा है। वे वेदना की कवि हैं, उस वेदना की जो उनकी दृष्टि में मानव-जीवन की अनिवार्य पहचान है। इस वेदना का कारण यह है कि समय की गति अबाध है, वह रुकता नहीं, बीत जाता है और स्मृति-पट पर अपने दाग़ छोड़ जाता है। यही दाग़ कुछ और

समय बीतने पर वह कड़वी-मीठी अनुभूति बन जाते हैं जिसको लेखिका अपनी कविता में प्रस्तुत करता है, बार-बार और नये-नये रंगों में, नयी-नयी सजधज से !

इस गद्य रचना में भी प्रेरणा का स्रोत वही है। लेखिका ने बहुत सच्चे आदर से अपने पात्रों को याद किया है। यहाँ चित्रफलक बहुत सादा है और तूली की रेखाएँ गहरी।

पुस्तक में चित्र मेहनतकश और मध्यमवर्ग के लोगों के हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मेहनतकश वर्ग के जो चित्र उन्होंने खींचे हैं, उनसे तो उत्फुल्ल जीवनैषणा, उत्साह, आशा और विश्वास का संचार होता है और मध्यमवर्ग के चित्रों से एक अजीब तीखा स्वाद मुँह में आ जाता है। इससे रचनात्मक श्रम के प्रति उनके स्वस्थ दृष्टिकोण का पता चलता है। रचनात्मक श्रम द्वारा जीवनोपार्जन करनेवाले लोगों के चित्रों में उन्होंने मनुष्य की अच्छाइयाँ उभारकर रखी हैं—जिससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उपजीवी मध्यम और अभिजातवर्ग उनकी दृष्टि में मनुष्यत्व के गौरवपूर्ण पद से गिर चुका है। उनकी कल्पना करने पर लेखिका को उनमें लाभ, ईर्ष्या और टुच्चापन ही दिखलाई देता है। लेकिन उनके साहित्यकार मन की आँख मनुष्य-चरित्र की छिपी हुई संभावनाओं पर है, इसलिए उनका विश्वास है कि मनुष्य जो कि परमात्मा का अंश है, अनिवार्यतः अच्छा होगा। उनका साहित्यिक कार्य उसकी इसी छिपी हुई अच्छाई को निकालकर बाहर लाना है। मनुष्य के चरित्र की अच्छाइयाँ जिस तरह दब गयी हैं और बुराइयाँ ऊपर आ गयी हैं, इसका कोई संबंध महादेवी वर्मा परिस्थिति से नहीं जोड़तीं। वह इसे केवल एक तरह की संज्ञाहीनता मानती हैं, बस इतना कि चेतना जड़ हो गयी है। किस कारण से? इस पर विचार करने को वह तैयार नहीं हैं। अस्तु। इन चरित्रों को देखकर यह विश्वास मन में पैदा होता है कि अब भी मनुष्य का नैतिक सर्वनाश नहीं हुआ है, अभी उसका उद्धार संभव है, अब भी महाजनी अर्थनीति की आधारभूत असंगतियों से उत्पन्न उसकी जड़ता और दयनीय आत्मकेन्द्रिकता से उसकी रक्षा की जा सकती है। कदाचित् महादेवीजी हमारी इस बात से सहमत न होंगी। वैसी स्थिति में कहना होगा कि उनकी भ्रान्तियों का जाल टूटने में अभी देर है। पर अभी तो इतना ही काफी है कि उनकी नज़र नासूर पर पड़ गयी है। धीरे-धीरे उसके कारण पर भी वे स्वतः पहुँचेंगी। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह पुस्तक दो-राहे पर खड़े राह दिखलानेवाले एक खंभे की तरह हो जाती है। जब तक लेखिका खंभे के इस तरफ है, सब ठीकठाक है, कोई गड़बड़ी नहीं, कोई डर की बात नहीं, लेकिन खंभे के उस तरफ गयी...और प्रलय, सारे पुराने मान चकनाचूर। रवीन्द्रनाथ का साहित्य भी ऐसा ही एक राह का खंभा था। हममें से बहुत-से लोगों ने रवीन्द्रनाथ को अपने अन्तिम दिनों

में बहुत अनिच्छापूर्वक यह खंभा पार करते देखा है। महादेवीजी को भी अन्ततः वही रास्ता अपनाना पड़ेगा। भावनाओं की जड़ता और महाजनी पूँजीवादी अर्थ-नीति में जो कार्य-कारण संबंध है उसे एक न एक दिन उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा, इतिहास उन्हें बाध्य करेगा।

यदि हम पुस्तक में से केवल दो चरित्रों को उठा लें और उन पर जरा गहराई से विचार करें तो हमें बाकी का भी अच्छा खासा परिचय मिल जायगा ; क्योंकि ये चरित्र मिश्रित नहीं हैं, उन सबका प्रधान गुण एक ही है। वह है उनकी सरलता। महादेवी-जी ने जीवन के एक पहलू को खूब बारीकी से देखा है, और प्रकाश व छाया के थोड़े हेर फेर से वे बहुत कुछ एक प्रकार के चित्र आँकती हैं। लेकिन इसका यह मतलब जरा भी नहीं है कि इससे पुस्तक की ताज़गी में कोई कमी आ जाती है। एक दायरे में तो सब चरित्र एक-से जान पड़ते हैं, लेकिन यों उन सबका अलग-अलग व्यक्तित्व है और किसी प्रकार के भ्रम के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। लेकिन जो चारित्रिक विशेषता उन सबका समान गुण है, वह है उनकी अजस्र ममता और पाठक के हृदय को गला देने की उनकी अद्‌भुत शक्ति।

पहला चित्र रामा का है। नौकर। भला, स्नेहपूर्ण ममत्वशील। बच्चों के लिए दिन में वह न जाने कितने रूप धरता है। वही बच्चों को राह दिखलाता है, वही उनकी आया है, वही उनका उड़नेवाला घोड़ा है, वही उनकी गुड़िया की शादी करानेवाला पुरोहित है और वही उनकी रेलगाड़ी का गार्ड भी है। बच्चे केवल उसको जानते और प्यार करते हैं और उसके संग खूब खुश रहते हैं। फिर एक दिन रामा चला जाता है। और फिर कभी नहीं लौटता। उसका अभाव भोले-भाले बच्चों के अबोध हृदय में एक घाव बनकर रह जाता है—बच्चों ने अभी यह निर्मम पाठ नहीं पढ़ा है कि प्रकृति में अभाव या शून्य के लिए कहीं स्थान नहीं है। जिस तरह से वह नज़र से ओझल होता है उसको देखकर यह नहीं लगता कि वह मंच से हटकर और कहीं गया है, बस यही लगता है कि वहीं खड़े-खड़े वह हवा में घुल गया। और लेखिका को यही दुःख होता है कि इतनी अजस्र ममता को हवा ने कैसे और क्यों निगल लिया!

दूसरा चित्र उन्नीसवर्षीया भाभी का है। विधवा। पर वैधव्य का भार ढोने के लिए अभी उसके कंधे बहुत कमज़ोर हैं। हिन्दू सामाजिक रूढ़ियों और कुसंस्कारों के पूर्ण प्रतिफलन का एक चित्र। वह एक फूल है जिसे कुम्हलाने पर मजबूर किया जा रहा है। वैधव्य की कराल छाया उसके संपूर्ण जीवन को घेरती बढ़ी चली आ रही है, मानों कोई अन्धकार गुहा ही उसे लीलने को बढ़ी चली आ रही है।···और वह जीवन्मृत तरुणी धीरे-धीरे अपने अंत की ओर बढ़ रही है, इसलिए नहीं कि वह मरना चाहती

है, इसलिए भी नहीं कि प्रकृति का यही विधान है, बल्कि इसलिए कि पंडे-पुरोहितों ने उसके नाम यही फरमान जारी किया है। एक हृदय-हीन राक्षस की वन्दिनी वह तरुणी एक ठंडी, अँधेरी, अमानुषिक, निर्दय कोठरी को अपनी संपूर्ण दुनिया मानने पर विवश है। उसे उस कोठरी के बाहर एक बार भी, एक पल के लिए भी झाँकने की इजाज़त नहीं है। पत्थर की एक लकीर की तरह उस विधवा तरुणी—भाभी—का चित्र लेखिका के मानसपटल पर खिंचा हुआ है। लेखिका को उस दिन की कल्पना करके डर लगता है जिस दिन वह खूसट बुड्ढा, भाभी का वह ससुर न रहेगा! जिस दिन उसे अकेले ही इस दुनिया का सामना करना पड़ेगा, जो उसके लिए अपरिचित होगी और जो शायद उसका बुराही चेतेगी! उस दिन क्या होगा? इसकी कल्पना से ही लेखिका काँप जाती है और उसे भीतर ही भीतर बड़ा ज़ोर लगाना पड़ता है यह जवाब देने के लिए कि भाभी अपना तन बेचने के लिए किसी कोठे की राह नहीं पकड़ेगी!

चाहे वह अंधा तरकारीवाला अलोपी हो चाहे एकलव्य की-सी लगन-वाला किसान छोकरा घीसा; चाहे वह नामहीन माँ हो जो विवाह होने के पहले ही माँ बन गयी, चाहे वह बिट्टो हो जिसने मानों अपनी तकलीफों की गाथा पूरी करने के लिए ही शादी की; चाहे वह सौतेली लड़की बिन्दा हो जिसका एकमात्र अपराध यह था कि वह क्यों नहीं जल्दी से इतनी बड़ी हो जाती कि बड़ी बड़ी औरतों की तरह घर का सारा काम-काज सँभालने लग जाय, चाहे वह हथिनी की तरह मस्त पहाड़ी युवती लछमा हो; चाहे वह सीधा सादा कुम्हार बदलू या उसकी कष्टसहिष्णु पत्नी रधिया हो, चाहे उसकी तेरह साल की लड़की दुखिया हो जिसने अभी से जीवन का बोझ उठाने की कला अपनी माँ से अच्छी तरह सीख ली थी; या भाभी, अभिशप्त विधवा; या रामा, मूर्त ममता; या सबिया (सावित्री का बिगड़ा हुआ रूप) जिसके उदात्त नारी-चरित्र का जोड़ पौराणिक सावत्री में ही मिलता है—सबमें स्नेह-ममता-करुणा की एक ही धारा प्रवहमान है, सबके शरीर से जैसे स्नेह और ममता की किरनें फूटती हैं। यह तो उनके चरित्र का सामान्य गुण है; इसके अलावा वे गुण भी हैं जो सबको एक दूसरे से पृथक् करते हैं। सीधे-सादे रामा और भाभी के चित्रों में फ्रांसीसी चित्रकार रोदँ के कृषक-जीवन संबंधी आरम्भिक चित्रों की-सी शांति और संतुलन है। लछमा, बदलू और उस नामहीन लड़की के चित्र में जो कपड़े सीने का काम करने लगी, ऐसा स्वाभिमान और विद्रोह की ऐसी धीरे-धीरे सुलगती हुई आग है कि उसे तेल के रंग की गहरी रेखाओं से ही आँका जा सकता है, पानी के रंग फीके पड़ेंगे। सबिया के चित्र में वही आत्मिक शांति और वही अमर मुसकान है—वह मांसल शरीर अवश्य नहीं है, उसने कभी भरपेट खाना भी तो खाया हो!—जो यूरोपीय पुनर्जागरण के कलाकारों द्वारा अंकित मैडोना में मिलती है। रधिया की तेरहवर्षीया

लड़की दुखिया (नाम भी तो देखो !) का चित्र प्रेमचंद के कुछ पात्रों की याद दिलाता है, दुखिया जो रातभर में ही एक पूर्ण वयस्क, उत्तरदायित्वपूर्ण, शैशव-वंचित, दुःखानुभूतियों से पूरी तरह संपन्न मानसिक-जरा-जर्ज्जर स्त्री हो गयी। दुखिया को देखकर प्रेमचंद के कई नारी-चरित्र याद आ जाते हैं। फ़िनलैंड के महान उपन्यास-कार सिलानपा के 'मीक हेरिटेज' के नायक की पुत्री हिल्डा बिलकुल दुखिया के समान है। दुखिया का चरित्र केवल दो वाक्यों में अंकित किया गया है, लेकिन चित्र पूरा है। रधिया जिस समय स्वयं (क्योंकि दाई को देने के लिए उसके पास एक रुपया नहीं है) एक तेज़ किये गये मगर तब भी भोंथे हँसिये से अपने सद्यःजात शिशु का नार काटती है, अपनी भीषण पीड़ा के उस क्षण में वह शोलोखोव की नटालिया की बहन हो जाती है जो इसी तरह हँसिये से अपना गला काटने की कोशिश करती है। स्वस्थ पुष्ट अंगोंवाली लछमा (जिसे मैं मस्त घोड़ी कहकर पुकारना चाहता अगर उसने जीवन में इतना दुख ही दुख न पाया होता !) जिसके प्यार की तीव्रता जानवरों या आदिम मनुष्यों की-सी है ('सभ्य'मनुष्यों का प्यार उतना तीव्र हो ही नहीं पाता, उनकी बुद्धि संतुलन ला देती है।), ताल्सताय के उपन्यास 'रिज़रैक्शन' की नायिका कत्यूशा से बहुत मिलती है। अलोपी का चरित्र रवीन्द्रनाथ के 'काबुलीवाले' की याद दिला देता है। सो कैसे ? इस तरह। अलोपी कई दिन से होस्टल की छोटी-छोटी लड़कियों को मुफ्त फल दे जाता है। एक दूसरा फलवाला इस बात की रिपोर्ट प्रिंसिपल साहिबा (लेखिका) से करता है। अलोपी से जब जवाब तलब किया जाता है तब वह बहुत डरते-डरते अपना जुर्म कबूल करता है और कहता है कि उसे इन लड़कियों की आवाज़ में अपनी एक बहुत छोटी, रिश्ते की बहन का भान होता है, इन लड़कियों में वह फिर से जैसे जी उठती है, इसीलिए वह उनकी खातिर कभी-कभी कुछ भेंट लाता है (वह ग़रीब है तो क्या हुआ, क्या उसे भेंट देने का अधिकार नहीं है !) और भेंट का क्या कोई पैसा लेता है !

अगर पाठक यह न जाने कि ये सभी चरित्र राई-रत्ती सच्चे हैं तो उसे कभी विश्वास न हो कि दुनिया में इतनी कोमलता अभी बाकी है। इन चरित्रों की प्रेरणा का स्रोत पीड़ा है, पीड़ा का प्रतिकार करनेवाला वह सामाजिक न्याय नहीं, जो पीड़ित और प्रता-ड़ित व्यक्ति अपने बल और पराक्रम से एक दिन जिसके अधिकारी होंगे। इन ग्यारह चित्रों में लेखिका ने जीवन की विभीषिका के कई पहलू पकड़े हैं। पर उन्हें मिली केवल कोमलता—वही उनके कवि का विश्वास है। हमें इस विश्वास की ऐतिहासिक विवेचना करनी चाहिए।

लेखिका ने किसानों की गरीबी देखी है। वह अच्छी तरह इसका कारण भी जानती हैं। लेकिन उसे बताने में (अपने आपसे भी !) उन्हें जैसे डर लगता है। क्योंकि

उनके कवि के विश्वास को उससे चोट लगेगी। वे जानती हैं कि क्यों दुनिया की सारी पूँजी अपने हाथ में बटोरकर बैठनेवाले मौत के सौदागर पूँजीपति संसार की करोड़ों निर्दोष जनता को गोली का शिकार बनाते हैं। वे जानती हैं कि कैसे यह भी एक तरह की ऐतिहासिक अनिवार्यता है जिसके फलस्वरूप समय-समय पर इन युद्धों का होते रहना जरूरी है। पूँजीवाद इस समय जिस संकट से होकर गुज़र रहा है, उससे भी वह बेखबर नहीं हैं। लेकिन...वह अपनी इस मान्यता से पूरे जीजान से चिपके रहना चाहती हैं कि वैयक्तिक सम्बन्ध ही असल चीज़ हैं, बाकी ये सामाजिक सम्बन्ध वगैरः तो बेकार की चीज़ें हैं, उनमें कुछ रखा नहीं है। उनके इस विश्वास—या वासना के पीछे बुखार की गर्मी-सी है। जो बात उन्हें अपनी बौद्धिक पकड़ के ज़रिये मालूम होना चाहिए थी उसे वह अपनी अंतश्चेतना से जानती हैं। उनके पात्र निम्न स्तर के लोग हैं, मुख्यतया किसान हैं। किसानवर्ग में पूँजीवादी अर्थनीति की असंगतियाँ उतने साफ और सीधे और तेज़ शक्ल में दिखाइ नहीं देतीं। सामंतवादी सामाजिक सम्बन्धों का कृत्रिम ढंग से बचाये रखकर किसानों का वर्ग पूँजीवादी प्रणाली की घातक असंगतियों के प्रभाव से अपने को ज्यादा दिन तक मुक्त रख पाता है। जिस प्यास (नॉस्टैलजिया) से लेखिका बार बार पीछे की ओर निहारती है, उससे साबित होता है कि वर्तमान अराजकता से उत्पन्न शोरगुल और हिंसा और रक्तपात का उसके ऊपर गहरा आतंक है और इस स्थिति में उसे बस इस बात की लालसा है कि वह किसी तरह इससे बचकर निकल जाय—निकलकर कहाँ जाय इससे बहस नहीं, कहीं जाय, बस निकलभर जाय। संप्रति वह चीज जिसमें वह बचकर चली जाना चाहती हैं, कल्पनाश्रयी समाजवाद है। लेकिन है वह भी समाजवाद क्योंकि अकेला समाजवाद ही जीवन में सबको समान अवसर दे सकता है। लेकिन चूँकि वर्ग-युद्ध और साम्यवाद का मतलब है खून में होकर जाना, इसलिए उन्हें डर लगता है। और तब वे घूमकर अपनी इन पुरानी, मध्ययुगीन लेकिन सोलहों आने वास्तविक आकृतियों की ओर उँगली से इशारा करके कहती हैं : 'हुं :, तुम वर्ग-युद्ध का पचड़ा लेकर बैठे हो! यह सब तुम्हारे दिमाग की खुराफात है। इधर देखो, इन औरतों और मर्दों को, इनके बारे में तुम्हें क्या कहना है? और हाँ, भूलना मत कि ये लोग तुम्हारा वर्ग-युद्ध फर्ग-युद्ध कुछ नहीं जानते!' अगर मैं चाहता तो अपने दिमाग से ये जुमले न निकालकर नार्वे के लेखक योहन बोयर के किसी उपन्यास की किसी लम्बी वक्तृता का एक टुकड़ा लेकर उद्धृत कर सकता था। इसका मतलब है कि जो बात मैं कह रहा हूँ वह कोई हल्की बात नहीं है, जो उद्गार हमने लेखिका के मुँह में डाला है वह भी कोई काल्पनिक चीज नहीं है। हैमलेट के समान लेखिका को भी लगता है कि कहीं कोई जबर्दस्त गड़बड़ है, लेकिन न जाने किस अदृष्ट के संकेत से वे यह भी समझती हैं कि चाहे जो हो आखिर में सब

जाकर ठीक हो जायगा -- वैसे ही जैसे कि परियों की कहानियों में होता है। लेकिन वे यह भूल जाती हैं कि इतिहास में किसी जादू-टोने या किसी तिलिस्म की कतई गुजार नहीं है। इतिहास तो कार्य-कारण का नाम है। कोई चाहे तो अभी से इस बात की भविष्यवाणी कर सकता है कि महायुद्ध के बाद सारे पूँजीवादी संसार में जो जबर्दस्त आर्थिक संकट आयेगा उससे और गांधीवादी प्रयोग की और भी स्पष्ट विफलता से उनका भरम काफी दूर होगा। मै इस बात को बार-बार कहना चाहता हूँ और इसे इस रूप में कहना जरूरी समझता हूँ क्योंकि महादेवी वर्मा ईमानदार बुद्धिजीवियों के एक ऐसे समुदाय का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनकी एक ऐसी संस्कृति में सच्ची आस्था है जो अपनी ही असंगतियों के कारण मर रही है।

पुस्तक में जो नारी-चरित्र हैं उन सबमें वही गहरी कोमलता है जो शरत् बाबू की नायिकाओं में पायी जाती है। लेकिन महादेवी के चरित्रों में इसके अलावा और भी कुछ है। उनमें ज्यादा रक्त-मांस है, उनपर वास्तविकता की मुहर भी ज्यादा गहरी है। एक शब्द में कहें तो कहेंगे कि उनमें ज्यादा ज़िन्दगी है। महादेवी के नारी-चरित्रों में भावनाओं का जो संयम मिलता है, उसके आगे शरत् के स्त्री-पात्रों की अतिशय भावुकता कृत्रिम-सी जान पड़ती है, ऐसा लगता है जैसे वे अपनी भावुकता का प्रदर्शन करने के लिए अधीर हों। महादेवी के पात्र अधिक यथार्थ हैं। इसके अलावा 'अतीत के चलचित्र' में एक ऐसी ताज़गी है जो पाठक में भी ताज़गी भर देती है, आशा का संचार करती है और जीवन के साथ उसके संबंध को और गहरा बनाती है।

महादेवी की गद्यशैली बहुत चुभती हुई है। उसमें पच्चीकारी तो नहीं है, लेकिन एक धीर प्रवाह है, जो लेख की गंभीरता को तो बढाता है मगर उसे बोझिल नहीं बनाता। जब वे अपने पात्रों की रूपरेखा या उनके आसपास के वातावरण का चित्र खींचने लगती हैं तब उनकी शैली का रंग खुलता है। तब उसमें एक तरह की कठोरता भी आ जाती है, वर्ना अकसर उनके गद्य के दामन में कविता की गोट-सी लगी जान पड़ती है। जो उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ आदि आयी हैं वे स्वयं उनके अनुभव से ली हुई हैं और अकसर बिलकुल अछूती हैं। शैली और विषयवस्तु दोनों ही की दृष्टि से हिंदी गद्य-साहित्य में इस पुस्तक का अनूठा स्थान होगा। जब-जब लेखिका ने सामाजिक विषयों पर कुछ लिखा है तब-तब उसके गद्य में वही आग, संयम से दबाये गये क्रोध की वही ठंडी ज्वाला, वही गंभीर तार्किकता आ जाती है जो 'चाँद' की उनकी टिप्पणियों में पायी जाती है। इन सब बातों के साथ ही साथ उनकी शैली की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि तत्सम शब्दों का प्रयोग करने पर भी वह दुरूह नहीं है। इसका कारण हमारी समझ में यही है कि शब्दों को ग्रहण करने के मामले में उन्होंने सच्ची उदारता

से काम लिया है और भाषा के क्षेत्र में शुद्धि आन्दोलन चलानेवालों से अपने आपको अलग रखा है।

सारी पुस्तक के वातावरण में जो एक हलका-सा व्यंग्य रचा हुआ है उसने किताब को और 'सुस्वादु' बना दिया है ! तिलमिलाहट-भरे, तीखे व्यंग्य के साथ जब वे कहती हैं 'परोपकारियों का मार्ग न समुद्र रोक सकता है न पर्वत' तब आज के हिन्दू समाज की असहाय विधवा की असहायता जैसे और भी मुखर हो पड़ती है। उनका हलका स्मित हास्य और व्यंग्य भी दर्द की गहराई को बढ़ाता है।

'अतीत के चलचित्र' को पढ़कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि उसकी लेखिका ज़िन्दगी से मुँह चुराकर अलग अपने शीशमहल में बैठना पसंद करती है। यह ठीक है कि जिस सामाजिक अन्याय और अत्याचार को उसने अच्छी तरह देखा और अनुभव किया है और जिसका उसने चित्रण किया है, उससे वह कोई क्रान्तिकारी निष्कर्ष नहीं निकालती, लेकिन उसने ज़िन्दगी से आँखें चार की हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उसने बहुत दुःख और कटुता देखी और जानी है और चाहे उससे बाहर निकलने का रास्ता उसने न पाया हो, लेकिन यह तो कहना ही पड़ेगा कि उसने कड़वी सच्चाई को ढँकने के लिए छल और विडंबना का आश्रय नहीं लिया।

१९४१]

स्मृति की रेखाएँ

'स्मृति की रेखाएँ' में महादेवीजी के निजी संस्मरण संगृहीत हैं। ऐसे ही संस्मरणों की उनकी पहली पुस्तक 'अतीत के चलचित्र' थी। आजकल विशेष रूप से जिस संस्मरण का प्रचलन हमारे साहित्य में है, वह है स्वनामधन्य 'साहित्यिक संस्मरण'! एक साहित्यिक अपने परिचित किसी दूसरे अधिक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक का संस्मरण लिखता है और इस प्रकार अपनी और अपने आराध्यदेव दोनों की कीर्ति को दिग्दिगन्त में प्रसारित करता है। साहित्यिक संस्मरण लिखना ठीक है, लेकिन ऐसे संस्मरणों में लेखक का उद्देश्य केवल अपनी और अपने वंद्य साहित्यिक बन्धु की कीर्तिध्वजा फहराना ही न होना चाहिए। उसे इस प्रकार चरित्रांकन करने का प्रयत्न करना चाहिए कि अङ्कित चरित्र का मानवीय पक्ष पूरी तरह उभरकर सामने आ जाय। पर आजकल अधिकांश संस्मरण-लेखकों का ध्यान इस बात की ओर कदाचित् नहीं जाता।

'स्मृति की रेखाएँ' में संकलित संस्मरण एकदम भिन्न प्रकार के हैं। उनके नायक ख्यातनामा साहित्यिक और कलाकार, राजनीतिज्ञ और समाजसेवी नहीं हैं। उनके नायक हमारे गर्वस्फीत समाज से एक प्रकार से निर्वासित 'निम्न' वर्ग के लोग किसान और मजूर हैं। वे सामान्य जन हैं। वे ही वास्तविक भारतीय जनता हैं। उनके चरित्र उदात्त हैं। उनमें मनुष्यता, परदुःखकातरता, सौहार्द, करुणा, स्नेह और परस्पर सहयोग की भावना होती है। लेकिन नहीं, उनकी मनुष्यता और उनका स्नेह और उनकी करुणा सब महत्त्वहीन है। उनका जीवन, उनके मनोभाव हमारे साहित्य के लिए अच्छी विषयवस्तु नहीं हैं, क्योंकि वे स्वयं हमारे समाज द्वारा बहिष्कृत हैं। वे बहिष्कृत हमारे समाज से और उनका जीवन बहिष्कृत हमारे साहित्य से! सम्प्रति, स्थिति यह है। इसका कारण भी है। साहित्यिक सत्ताधारी इस बात को जानते हैं कि इस 'निम्न' वर्ग को साहित्य में स्थान देने का परिणाम होगा उसे क्रान्तिकारी पथ पर चलने के लिए प्रेरणा और बल देना। उनकी तो बात ही छोड़ दीजिए जो ऐसे प्रतिगामी हैं कि विदेशी प्रभुत्व पर भारतीय जनता द्वारा किया गया आघात देखकर मातम मनाते हैं उन्हें तो साहित्य में स्वाधीनता की चेतना का तनिक भी प्रसार देखकर भय के कारण रोमांच हो आता है। सामन्तवाद का अवशेष यह वर्ग आज हमारे सामाजिक जीवन का संचालन नहीं करता और अब कोई क्रियात्मक शक्ति नहीं रह गया है, इसलिए ऐ

साहित्यिक सत्ताधारियों की संख्या आज कम है। वे आज हमारे साहित्य-सूत्र का संचालन नहीं करते, इसलिए उनके विचार और उनकी भावनाएँ हमारे साहित्य की गतिविधि पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं रखतीं। साहित्य-संचालन का नेतृत्व अब उनके हाथ से निकलकर उन सत्ताधारियों के हाथ में चला गया है जो भारतीय स्वाधीनता के पोषक तो हैं पर कातरता या और किसी कारणवश स्पष्ट रूप में यह घोषित करने से कतराते हैं कि भारतीय स्वाधीनता का अर्थ, प्रेमचन्द के शब्दों में, गोरी नौकरशाही के स्थान पर काली नौकरशाही की स्थापना नहीं, वरन् ऐसे भारत का निम्मर्णि होगा जिसमें हमारे समाज की दो प्रबलतम शक्तियों—किसान और मजूर—का विवेक, उनका ही निर्णय अन्तिम और निश्चयात्मक होगा। उनके प्रतिनिधियों द्वारा सत्ता उन्हीं के हाथ में रहेगी, उनके ही प्रतिनिधियों का राज्य होगा और धनिक वर्ग यदि अपने धन-बल से शक्ति का अपहरण करने का प्रयत्न करेगा तो उसका प्रतिकार किया जायेगा। जनता को अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपने ऊपर शासन करने का अधिकार होगा। यों यह बात सर्वमान्य-सी है, पर इस विषय पर पूर्ण मतैक्य और स्पष्ट घोषणा भी वांछनीय है। हमारे साहित्यिकों के अन्दर यह चेतना जितना अधिक से अधिक घर करे उतना ही अच्छा। जब वे इस बात को पूरी तरह समझ लेंगे कि देश की आज़ादी का अर्थ जनता का आत्मनिर्णय का अधिकार है, तभी वे इस बात को भी समझेंगे कि हमारे स्वाधीनता-मूलक साहित्य के सृजन का स्रोत भी वे ही हैं। अभी हमारे स्वाधीनता-मूलक साहित्य की मुख्य कमज़ोरी है कि वह एक निराकार आराध्य देवी की पूजा-अर्चा तक ही सीमित है। स्वाधीनता के लिए मर मिटने का ज़ोरदार आह्वान उसमें है, पर जन-जीवन की दैनन्दिन समस्याओं का उचित समावेश उसमें नहीं है (स्पष्ट रोग का स्पष्ट निदान और स्पष्ट निदान के आधार पर स्पष्ट उपचार—क्रान्तिकारी पथ के अनुसरण का आह्वान), इसलिए उसमें वह शक्ति और ओज, प्राण तथा स्फूर्ति नहीं है, जो स्वभावतः उसमें आ जायगी जब हमारा साहित्य एक निराकार राक्षस को मारकर एक निराकार देवी को सिंहासन पर बिठालने का प्रयास छोड़कर पराधीनता की कठोर वास्तविकताओं, उसके मूर्त्त प्रतीकों, रोज के जीवन में उसकी व्याप्ति का निदर्शन करायेगा, और यह निदर्शन ही स्पष्ट और वास्तविक समस्याओं तथा संघर्षों पर आधारित होने के नाते क्रान्तिकारी जनता के लिए इंगित और आह्वान बन जायगा।

इस प्रकार जनजीवन का चित्रण उचित परिमाण में यदि हमारे साहित्य में नहीं तो इसका कारण केवल कट्टर रूढ़िपन्थी नहीं हैं, वरन् हम सब भी इसका कारण जो कि स्वाधीनता के लिए संघर्षशील तो हैं, पर जनता का इस संघर्ष में क्या महत्त्व और भावी स्वतन्त्र भारत में क्या महत्त्व होगा, इस बात को ठीक से नहीं समझते और दूसरों को ठीक से नहीं समझाते।

महादेवीजी ने अपने संस्मरणों में इस बहिष्कृत, साहित्य से निष्कासित वर्ग के प्राणियों को लेकर नवीन साहित्य का बहुत कल्याण किया है ; क्योंकि नवीन साहित्य इस शोषित वर्ग को ही भावी समाज का, स्वतंत्र भारत का निर्म्माता और प्रहरी मानता है। परन्तु महादेवीजी उनकी ओर कदाचित् यह समझकर आकृष्ट नहीं हुई हैं। उनके आकर्षण का कारण शायद यह है कि इन ग्रामीण अकिंचनों के जीवन में उन्हें मनुष्यता की जितनी श्री मिली है, उतनी समस्त 'भद्रवर्ग' में नहीं मिली। लेकिन वे किस कारण से इन अकिंचन, साहित्य से निर्वासित किसानों के जीवन की ओर आकर्षित हुई हैं, यह महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात यह है कि उपजीवी भद्रवर्ग के कालर-टाई, नाखूनी किनारे की धोती और पंप, सैंडिल और टॉप्स, सस्ती भावुकता, थोथे विरह-मिलन और लम्बी-लम्बी गर्म साँसों को अलग रखकर उन्होंने साधारण किसानों के हृदय में पैठने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक में सात संस्मरण हैं। इन सात संस्मरणों में सबसे प्रभावशाली दो हैं-- बिबिया धोबिन और चीनी कपड़ा बेचनेवाला। गुँगिया और ठकुरी बाबा के चरित्र भी बहुत मार्मिक हैं। भगतिन का संस्मरण कदाचित् सबसे कमज़ोर बन पड़ा है। भगतिन ही उनके व्यक्तित्व के सबसे निकट है, इस नाते उसका ही चरित्र सबसे अधिक निखरना चाहिए था। पर ऐसा नहीं हुआ है।

सभी चरित्रों में मनुष्यता के उत्कर्ष का चित्र मिलेगा। पर चित्रण के लिए चरित्रे के चयन में लेखिका ने अनजाने में उन चरित्रों के प्रति झुकाव दिखाया है, जिनमे परुषता की अपेक्षा कोमलता का ही प्राधान्य है। विद्रोही चरित्र संभवतः लेखिका वे अनुभव की परिधि में नहीं आये, नहीं तो उनका भी चित्रण होता इसमें सन्देह नई क्योंकि अन्ततः वे ही इस पुराने, रोग-जर्जर समाज का अन्त करेंगे जिसमें मुन्नू के माई, ठकुरी बाबा, गुँगिया और बिबिया जैसे व्यक्तियों के लिए जगह नहीं है। बिबिय वह अकेला चरित्र है जिसमें किंचित् विद्रोह मिलता है। पर यह बात सार्थक है कि या विद्रोहिणी भी समाज से हारकर आत्मघात कर लेती है। इस विद्रोहिणी की हार मः में बड़ी प्रतिहिंसा जगाती है। उसकी हार अपनी हार जान पड़ती है, नये युग के लि सङ्घर्ष करनेवालों की हार जान पड़ती है। पर आज के पुरुष-शासित समाज अकेली अबला विद्रोहिणी की हार को अप्रत्याशित कहने की भूल भी कोई न करेगा उसकी हार तो वैसे पूर्व-निश्चित और अवश्यंभावी थी। पर तो भी उसे आत्मघात कर के लिए चढ़ी हुई नदी की ओर जाते देखकर उसे बार-बार पुकारकर कहने का म करता है—

'मरो मत, यह कायरता है ; जिस तरह अपने दुःख में तुम अकेली नहीं हो, उर

तरह अपने सङ्घर्ष में भी तुम्हारी अनगिनत सङ्गिनें हैं। जियो और लड़कर विजयी हो। मृत्यु पलायन है। मृत्यु तुम्हारे लिए नहीं है। लौट आओ'—लेकिन जब वह मर जाती है तो एक ओर तो मन बहुत कठोर वेदना से भर उठता है, मगर दूसरी ओर न जाने क्यों ऐसा भी लगता है कि बिबिया में कुछ है जो नहीं मरेगा, नहीं नष्ट होगा। यह सच है कि बिबिया को पराजित और मृत देखकर वेदना और प्रतिशोध की भावना अधिक जागती है और अपने में विश्वास कम, लेकिन तो भी उसके व्यक्तित्व में चिनगारी का जो अंश है वह उसे ज़िन्दा रखता है। काश कि वह पराजित न होती! तब वह टीस न होती और बिबिया वास्तव में मरती न, अमर होती। पर नहीं, वह तो मर जाती है समाज के शिकंजे में फँसकर, चूहे की तरह। उसे चूहे की मौत देकर लेखिका ने भावी के प्रति अन्याय किया है!

'अतीत के चलचित्र' और प्रस्तुत पुस्तक में महादेवीजी ने करुण रेखाचित्र ही दिये हैं। उन्होंने अधिकांश में उन व्यक्तियों के संस्मरण दिये हैं जो करुणा और ममता और सहज मानवता के स्रोत हैं, जो बिना कान-पूँछ हिलाये, गऊ के समान सब अत्याचार सहन कर लेते हैं। उनके चरित्र के सभी गुण उनके निजी आभूषण बनकर ही रह जाते हैं, उनकी सामाजिक उपादेयता अधिक नहीं होती। हम महादेवीजी की लेखनी से ऐसे व्यक्तियों के संस्मरण विशेष रूप से चाहते हैं, जिनके व्यक्तित्व में करुणा और ममत्व और स्नेह और सौहार्द को क्रान्तिकारी दिशा मिली हो और जो अत्याचार की नींव पर निर्मित इस सामाजिक हवेली को नष्ट करने के संकल्प से अनुप्राणित हों। जो मनुष्यता से अत्यन्त प्रेम करता हो, उसे बर्बरता, निरंकुशता, अत्याचार से उत्कट घृणा होनी ही चाहिए। जिस प्रकार प्रेम एक रचनात्मक शक्ति है, उसी प्रकार घृणा भी एक रचनात्मक शक्ति है—वह घृणा नहीं जो व्यक्ति के टुच्चेपन, उसके अहंकार, उसकी स्वार्थांधता की चेरी है, बल्कि वह पवित्र, सतोगुणी घृणा जो व्यक्ति को आदर्श के लिए बलिदान होने का साहस देती है। हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन में—या किसी भी स्वाधीनता-आन्दोलन या क्रांति में—जनता असीम वीरता का परिचय इसीलिए नहीं देती कि उसे अपने निराकार आदर्श स्वाधीनता से इतना प्रेम है; बल्कि इसलिए भी और मुख्यतः इसीलिए कि उसे उन शृङ्खलाओं से, जो उसको और उसके परिवार और उसके पड़ोसी और उसके मित्रों को बुरी तरह जकड़े हुए हैं, इतनी तीव्र घृणा है कि वह उन शृंखलाओं को तोड़ने के लिए आगे बढ़ता ही है। वह घृणा एक पवित्र वस्तु है। वह उसे अपनी तीक्ष्णता से अस्थिर और उद्विग्न बना देती है—और व्यक्ति संघर्षशील, संघर्षरत हो जाता है। किसी व्यक्ति में प्रेम करने की कितनी क्षमता है, इसका प्रमाण यह भी है कि उसमें घृणा करने की कितनी क्षमता है। इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि महादेवीजी के संस्मरणों की अगली पुस्तक में हमें इस पुनीत घृणा से दीप्त

क्रांतिकारी कर्म्मियों के चित्र भी मिलेंगे। चीनी कपड़ा बेचनेवाला ऐसा ही एक व्यक्ति है। वह शान्त प्रकृति का आदमी है, लेकिन अपने देश से उसे कितना अनुराग और उस पर आक्रमण करनेवाले जापानी फ़ासिस्तों से कितनी घृणा होगी जो वह अपने तमाम कपड़े और कपड़ा नापने का गज़ वगैरह सब छोड़-छाड़कर अपने देश की रक्षा के लिए भागा। चीनी कपड़ा बेचनेवाले के चरित्र की व्याख्या लेखिका ने नहीं की है, लेकिन यदि की जाय तो बहुत कुछ यही होगी। लेकिन तो भी समस्त पुस्तक में चीनी कपड़ा बेचनेवाला और बिबिया दो ही तो पात्र हैं जिनमें विद्रोह बीजरूप में वर्तमान है। जिस तरह के संस्मरण अब तक महादेवीजी ने हिन्दी-साहित्य को दिये हैं, सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से उनका महत्त्व नकारात्मक है। पुस्तक को पढ़कर कोई यही कहेगा—

'कितने अच्छे-अच्छे लोग हैं जो जीवन में आगे बढ़ने का अवसर नहीं पाते और योंही मर जाते हैं।'

'कितनी सौंदर्य-श्री मिटती चली जाती है।'

'ये सब जो समाज के आवश्यक नागरिक बनते, खत्म होते चले जाते हैं।' लेकिन सजग पाठक के मन में यह प्रश्न भी अवश्य उठेगा—

'क्या कोई नहीं है जो इस सौंदर्य-श्री को नष्ट होने से बचाता, उन तामसी शक्तियों का अंत करता जो इन निरीह मानव-प्राणियों का अन्त किये दे रही हैं?'

इसी प्रश्न के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि महादेवीजी ऐसे व्यक्तियों के चित्र दें जो प्रेम के साथ-साथ उत्कट घृणा भी करना जानते हैं; जो निरीह नहीं हैं, जागरूक हैं; अपराधी के प्रति क्षमाशील नहीं हैं, निर्मम हैं।

पर इस समालोचना से इन पंक्तियों के लेखक का यह प्रयोजन नहीं है कि ऐसे पात्रों के संस्मरण की कामना करते हुए वह गुँगिया के अगाध वात्सल्य, धरती के प्रति ठकुरी बाबा के असीम लगाव और मुन्नू की माई के आश्चर्यजनक धैर्य की सौंदर्यच्छटा की अनुभूति से वंचित है। सिर्फ इतना है कि इतने से उसका संतोष नहीं होता। वह सौंदर्य को मिटते ही नहीं देखना चाहता; वह उसकी रक्षा करते हुए लोगों को देखना चाहता है, वह उसको आत्मरक्षा करते हुए देखना चाहता है।

पुस्तक की भाषा के विषय में विचार करते समय दिमाग में दो बातें आती हैं। पहली बात तो यह कि विषयवस्तु के अनुरूप महादेवीजी ने एक ऐसी सुपुष्ट गद्य-शैली की रचना की है जो बहुत विशिष्ट है। उसके अनुकरण करनेवाले यदि कम हैं तो इसलिए कि ऐसी प्रांजल, संस्कृत-गर्भित किन्तु सुबोध, मार्मिक एवं प्रगल्भ शैली का अनुकरण बहुत श्रमसाध्य है।

दूसरी बात यह कि 'स्मृति की रेखाएँ' की भाषा में इतनी अधिक साहित्यिकता आ गयी है कि शैली उससे बोझिल हो गयी है। 'अतीत के चलचित्र' की भाषा में जो स्वाभाविकता, जो प्रयासहीनता, जो नर्मी, जो ताज़गी और भाव-प्रवणता थी, 'स्मृति की रेखाएँ' में उसका एक प्रकार से लोप-सा हो गया है। साहित्यिकता के बोझ ने भाषा के स्वाभाविक प्रवाह को जैसे रोक दिया हो। बहता हुआ पानी जैसे साहित्यिकता की पहाड़ी से अवरुद्ध होकर तलैया का बँधा हुआ पानी हो गया हो। साहित्यिकता के हिम-शीतल स्पर्श ने मानों उस भाषारूपी जल को भी हिम बना दिया हो, जिसमें हिम का रूपकाठिन्य तो है, पर जल की तरलता नहीं। यह बात बार-बार कहने की है, क्योंकि पुस्तक के अधिकतर पाठकों ने इस बात को तीव्रता से अनुभव किया है। महादेवी वर्मा को कृति में यदि पाठकों को तनिक भी प्रयत्न झलकने लगे, तब तो यह सचमुच पुस्तक की बहुत कड़ी आलोचना है। इतने उच्च शिखरासीन साहित्यकार में इस दोष का होना वस्तुतः अक्षम्य है। प्रत्येक पंक्ति को सँवारकर उसे मुक्ता का रूप देने का जो प्रयत्न किया गया है, वह यदि काफ़ी स्थलों पर सफल है तो काफ़ी स्थलों पर अप्रिय भी है। इतना ही नहीं, यह भी विचारणीय है कि 'स्मृति की रेखाएँ' के ढंग की पुस्तक के लिए भाषा का आदर्श मुक्ता का अपरूप सौन्दर्य और कल्पनातीत ऐश्वर्य नहीं, जल की तरलता और वनकुसुम की सुगन्धिमयता होनी चाहिए। बात को कहने का घुमावदार ढंग जो 'अतीत के चलचित्र' की भाषा का एक स्वाभाविक गुण है, 'स्मृति की रेखाएँ' में आकर एक मुद्रादोष (Mannerism) हो गया है।

मई, १६४४]

दीपशिखा

श्रीमती महादेवी वर्म्मा की कविता का मुख्य गुण संभवतः उसकी कोमलता, उसका गीलापन ही है। भीगी, नमित पलकों या ओस से गीली और झिलमिल पखुड़ियों का आकर्षण उसमें है। पढ़ते वक्त बार-बार ऐसा लगता है कि अगर कहीं ये गीत छुये जा सकते तो वे निश्चय ही छूते ही बिखर जाते, झर पड़ते—हरसिंगार के फूलों की तरह। इन गीतों में कुछ है जो काँपता है, जिसमें थरथरी है—मींड़ की गूँज की तरह। इनमें रुओं की एक भुरभुराहट है जो 'जिगर' की कविता में है। गीतों की पहली और अन्तिम पक्तियाँ तो अपने संकेतों से एक इतिहास कह देती हैं। इन गीतों का कलापक्ष भी उतना ही प्रबल है। गीत के छंद और लय पर इतना सहज अधिकार अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। उनमें कहीं भी प्रयास नहीं दीख पड़ता। समूचा गीत साँचे में ढला हुआ-सा निकलता है। गेयता उनमें इतनी है कि पढ़ते वक्त व्यक्ति बरबस उन्हें गुनगुनाने लगता है।

इतने सरल शब्दों में ऐसी प्रौढ़ अभिव्यञ्जना दुष्प्राप्य ही है। महादेवीजी की अभिव्यञ्जना-शैली में सीधी अभिव्यक्ति कम और संकेत अधिक हैं। अनुभूति के रंगों की गहराई और फीकेपन को, उनकी गहराई की परतों को तूलिका की हलकी और गहरी चोटों से आँकना सरल नहीं। रंगों के ताने-बाने में बीते क्षणों को उन्होंने बुना है। उनका शब्द-चयन अनुभूति की गतिमयता का आभास दे देता है। इस दृष्टि से एक दो पंक्तियाँ देखें—

मैं पुलकाकुल,
पल पल जाती रस-गागर ढुल
प्रस्तर के जाते बन्धन खुल।

और यह पंक्ति देखिए—

प्यास ही से भर लिये अभिसार रीते
ओस से ढुल कल्प बीते

प्यास ही से अभिसार भर लेने की कल्पना हमारे साहित्य में बिलकुल अनूठी है।

पर इतना कहना ही सब नहीं।

कवि स्रष्टा होता है। वह एक सामाजिक प्राणी है जो अभिव्यक्ति के एक सामाजिक माध्यम द्वारा समाज के व्यक्तियों के बौद्धिक और मानसिक विकास पर अधिकार रखता है। इसलिए समाज के प्रति उसका सहज दायित्व है। मैं समझता हूँ कि यह कविता उस दायित्व को नहीं निभाती और उतने अंशों में उसका महत्व अवश्य कम है। वह दायित्व यह कविता इस तरह नहीं निभाती कि यह उन प्रतिगामी शक्तियों से लोहा नहीं लेती जो मानवसमाज को जंजीरों में जकड़े हुए हैं; जो मानव समाज को दुःखी और अभिशप्त बनाये हुए हैं; जो मनुष्य की स्वतन्त्र वृत्तियों का मार्ग अवरुद्ध करते हैं। साहित्य-रचना दूसरी क्रियाओं ही की तरह एक सामाजिक क्रिया है और किसी सामाजिक क्रिया का कोई मतलब नहीं हो सकता जब तक वह मानवसमाज को सुखी नहीं बनाती और पुराने का ध्वंस करके नये के निर्माण में योग नहीं देती। मैंने समझ-बूझकर पुराने का ध्वंस कहा है: यह एक यथार्थ है कि पुरानी आस्थाएँ नयी सामाजिक परिस्थितियों का समीचीन उत्तर नहीं दे सकतीं। इस सम्बन्ध में आगे चलकर और कुछ कहूँगा। मगर अभी तो यही पिष्टपेषित बात कहना चाहता हूँ कि कवि स्रष्टा होता है: वह एक नये समाज की, एक नये सामाजिक और आर्थिक आधार की सृष्टि करता है। एक नयी ज़िन्दगी की कोपलें फूटती देखना—एक ऐसी नयी ज़िन्दगी जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति में संघर्ष नहीं है बल्कि उसके विपरीत सारा मानवसमाज एकप्राण हो अमित्र प्रकृति की शक्तियों को अपने अदम्य उत्साह से अपने वश में कर रहा हो—ही उसका सबसे बड़ा पारितोषिक है।

इस पुस्तक की किसी एक पंक्ति में 'एकाकिनी बरसात' आया है। मैं समझता हूँ कि इससे अच्छा परिचय महादेवीजी की कविता का और विशेषकर 'दीपशिखा' का नहीं हो सकता। यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। इस प्रसंग में पहले इन दो-तीन पंक्तियों को देखिए—

> अब न लौटाने कहो अभिशाप की वह पीर!
> बन चुकी स्पन्दन हृदय में औ' नयन में नीर!

और—

> क्यों अश्रु न हों श्रृंगार मुझे?

और फिर वे एक प्रश्न अपने से करती हैं:

> मैं क्यों पूछूँ यह विरहनिशा कितनी बीती क्या शेष रही?

और इसी प्रश्न का रूपान्तर यह प्रश्न है जो वे दीप से करती हैं:

> पूछता क्यों शेष कितनी रात?

इसका यह प्रयोजन है कि 'सवाल-जवाब करने का अधिकार या अवकाश तुझको-

मुझको नहीं। तेरा काम जलते जाना है, तू जले जा। मेरा काम हँसकर व्यथाभार उठाये चलना है, मैं उसे उठाये चलूँ। तेरा परिचय जलना है, मेरा परिचय व्यथा।' महादेवी वर्म्मा की कविता की पंक्ति-पंक्ति आँसुओं से गीली है, यहाँ तक कि उनका एक 'आँसुओं का देश' ही है, सबसे अलग। उनकी सारी कविताओं को एक में पिरोने-वाली लड़ी आँसुओं की लड़ी ही हो सकती है। उन्हें आँसुओं से मोह है और उनसे वे अपना सिंगार करती हैं क्योंकि उन्हें अपनी व्यथा से मोह है। व्यथा से आँसू आते हैं। व्यथा से उन्हें मोह है और उसके पंथ में वे इति-अथ इसलिए नहीं मानतीं कि उन्हें अपने 'प्रिय' से मोह है। 'प्रिय' से व्यथा आती है। इसी में उस व्यथा और विरह का मूल्य है पर हर कवि का 'प्रिय' से ज्यादा 'व्यथा' से साहचर्य होता है, इसलिए क्रम-विपर्यय हो जाता है। 'व्यथा' देवी हो जाती है और 'प्रिय' का मूल्य अपने तईं कुछ न होकर सिर्फ इस बात में होता है कि वह विरहव्यथा का स्रोत है। व्यथा, 'प्रिय' का ही प्रक्षेपण है। इसीलिए कवियित्री का 'प्रिय' के 'व्यथा' नामक गुण से संपूर्ण लगाव हो जाना स्वाभाविक ही है। वेदना, इस प्रकार, एक तरह की 'धरोहर' हो जाती है, 'चिरव्यथा का भार' उल्लास का विषय हो जाता है; सारी चीज़ें 'व्यथा-भीनी' हो जाती हैं, व्यथा 'भू की थाती' हो जाती है, 'निधि' हो जाती है। वेदना एक स्वतः संपूर्ण इकाई बन जाती है। मनोविज्ञान के शब्दों में, एक fetish।

इस तरह पुस्तक की एक टेक है एकाकीपन और दूसरी एक ज़िच। किसी भी साहित्यिक रचना के दो पक्ष होते हैं—एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक और इसी नाते प्रकारान्तर से सामाजिक। इस एकाकीपन के भी ये दो ही पक्ष हैं; वैयक्तिक और सामाजिक। पहले पक्ष के विवेचन के लिए फ्रायडीय प्रणाली का उपयोग आलोचना के क्षेत्र में होता है। इस कविता के एक सुसम्बद्ध फ्रायडीय विवेचन के लिए पुस्तक में अकूत सामग्री मिलेगी।

> इस संबंध में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:
> दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत्-सी तरल बन!

और

> प्यास ही से भर लिये अभिसार रीते!

और

> आँखें मोतियों का देश साँसें बिजलियों का चूर!

और

> किस लिए हर साँस तम में
> सजल दीपक राग गाती?

अग्निपथ के पार चन्दन-चाँदनी का देश है क्या ?
एक इंगित के लिए शत-बार प्राण मचल चुका है !
मोम-सा तन घुल चुका, अब दीप-सा मन जल चुका है !

आदि ।

अब हम इस एकाकीपन के सामाजिक पक्ष पर विचार करेंगे ।

पूँजीवाद व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के सहज मानवोचित रिश्ते को हटाकर उसके स्थान पर एक ऐसे सम्बन्ध की प्रतिष्ठा करता है जिसमें मनुष्य एक पण्य वस्तु के सिवा और कुछ नहीं रह जाता । और इस प्रकार मानव और मानव के बीच का संबंध एक नये बिन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ मानवसम्बन्धों में फिर किसी प्रकार का रस नहीं रह जाता । इस तरह एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति पैदा होती है जिससे सहृदय व्यक्तियों के मन को ठेस लगना स्वाभाविक है । यह ठेस ही उन्हें मानसिक इच्छापूर्ति (wish fulfilment) का मार्ग ढूँढ़ने पर विवश करती है । श्रीमती महादेवी वर्म्मा का वेदनामूलक रहस्यवाद भी ऐसी ही मानसिक इच्छापूर्ति है । योरोपीय साहित्य में ऐसे अनेक आधुनिक साहित्यकार मिलते हैं जिन्होंने पूँजीवाद द्वारा प्रतिष्ठित इन पण्य-संबंधों (commodity relations) के खिलाफ़ विद्रोह किया है । उनके विद्रोह का रूप अलग-अलग हो सकता है, लेकिन उसके मूल में बात वही है । जहाँ डी. एच. लॉरेन्स संसार को आदिमयुग में ढकेल ले जाने की बात सोचने लगता है वहाँ जर्मन कवि रिल्के, टी. एस. एलियट, टेरेन्स टिलर, डब्लू. एच. ऑडेन और दूसरे कवि एक नव्य बौद्ध मत का पन्थ पकड़ते हैं । यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि महादेवीजी की विचारधारा पर भी बौद्ध दर्शन का गहन प्रभाव है । उनका काव्य अतीन्द्रिय वस्तुओं और स्थितियों की कल्पना भले ही कर ले किन्तु उसका आधार तो भौतिक ही रहेगा । पदार्थ-जगत् से उसका सम्बन्ध तो टूट नहीं सकता और इसी नाते उनकी कविता के निर्माण में उसका हाथ रहता है । इसलिये उनकी कविता को रहस्यवादी बटखरों से तौलना अनर्गल है । उसे कविता मानकर हमें चलना चाहिए और देखना चाहिए कि उसके सृजन में किन शक्तियों ने योग दिया है ; और तब हम उस ज़िच का कारण भी जान सकेंगे जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है । बजाय इस चीज़ से उलझने के कि उनके रहस्यवाद का आधार कितने अंशों में बौद्ध-साहित्य, कितने में वेदान्त और कितने में सन्त-साहित्य है, हम इस बुनियादी प्रश्न पर विचार करें कि यह व्यथामूलक रहस्यवाद ही क्यों ?

जैसा हमने अभी ऊपर देखा कि पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली में हर व्यक्ति दूसरे

को मनुष्य नहीं बल्कि एक वस्तु समझता है जिसका वह क्रय-विक्रय कर सकता है क्योंकि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली में हर व्यक्ति को यह बुनियादी आजादी होती है कि वह अपनी उत्पादक शक्ति को मोल पर चढ़ाये। इस तरह सामाजिक बन्धन रोज-ब-रोज ढीले होते जाते हैं क्योंकि वे अब व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध नहीं हैं, और उनका आधार भी सहयोग न होकर होड़ है। होड़ पर टिकनेवाले सम्बन्ध स्थायी नहीं होसकते। इसी आत्मीयता की कमी के कारण कल्पनाविलासी व्यक्ति को स्वनिर्मित आत्मीयों का पल्ला पकड़ना पड़ता है। महादेवीजी ने व्यथा में ऐसा आत्मीय पाया है। पारस्परिक सम्बन्धों की दृढ़ता को गहरी ठेस लगती है और समाज एक ऐसी दशा को पहुँचता है जहाँ जनसंपर्क-विच्छिन्न व्यक्ति को साथी नहीं मिलता और वह घबराकर अपने हवामहल का निर्माण करने लगता है और उस जगह के अपने साथियों से मनबहलाव करने लगता है। श्रीमती महादेवी वर्मा के पास भी एक 'आँसुओं का देश' है, 'चन्दन-चाँदनी' का एक देश भी है। वहाँ बाहर के आघात-प्रतिघात का, संघर्ष-विघर्ष का कोई असर नहीं होता; कहें तो वह एक रेफ्रीजरेटर है जिस पर बाहरी तापमान कोई असर नहीं डाल सकता! वही 'आँसुओं का देश' है; वहाँ सब कुछ अतीन्द्रिय है, वहाँ भौतिक वस्तुओं की गुंजाइश नहीं; वहाँ का जीवन-व्यापार दूसरे ही सिक्कों से चलता है; वहाँ के मानदण्ड उस जगह के अपने हैं, जीवन के सारे सामाजिक यथार्थ वहाँ से निर्वासित हैं। उनके और कवि-आत्मा के बीच आँसुओं की टट्टियाँ खड़ी हैं। सामाजिक यथार्थ उनको तोड़कर घुस आना चाहते हैं, पर आँसुओं के नये-नये प्राचीर आकर खड़े हो जाते हैं।

और इस प्रकार सामाजिक यथार्थ जितना ही दबाता है, व्यक्तिवाद की उतनी ही ज्यादा जरूरत होती है; व्यक्तिवाद एक अमित्र समाज में समाजचेतनाशून्य व्यक्ति का कवच है। इसीलिए पूँजीवाद जैसे-जैसे अपनी समाप्ति की ओर बढ़ता है और जैसे-जैसे उसकी संक्रान्तियाँ तीव्र से तीव्रतर होती जाती हैं वैसे-वैसे व्यक्तिवाद भी जोर पकड़ता है। और आज जब पूँजीवाद अपने अन्तिम चरण में है, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि व्यक्तिवाद का रंग भी आज बहुत गहरा हो गया है।

मगर इस व्यक्तिवाद में स्वयं एक अंतर्विरोध है। व्यक्तिवाद ऐकांतिक होते होते एक ऐसी सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ वह पागल व्यक्ति के प्रलाप से अधिक कुछ नहीं रह जाता। गहराई से देखें तो पता चलेगा कि उसमें एक असंगति निहित है, जिसका परिणाम होता है एक प्रकार का मार्गरोध और तभी कवि गा उठता है :

न पथ रूँधतीं ये गहनतम शिलाएँ।

कवि को इन्कार करना पड़ रहा है कि गहनतम शिलाएँ भी उसका पथ नहीं रोक सकतीं। इससे स्पष्ट है कि कवि का पथ रुक रहा है और उसे एक पग भी आगे बढ़ने

के लिए अपनी बिखरी हुई शक्ति को एकत्र करना होता है। और इसी दृष्टिकोण से हमें उन बहुतेरे आश्वासनों को (जो वास्तव में अपना साहस और आत्मविश्वास बनाये रखने के लिए उपस्थित किये गये हैं) समझना पड़ेगा जिनमें कहा गया है कि 'चाहे जो हो, मैं चलती चली जाऊँगी। चाहे जैसी उन्मत्त हवा बहे, दीपशिखा ज़रा न काँपेगी।' इस सबसे कटु सामाजिक यथार्थों के घने और न सँभालने योग्य दबाव का ऐसा परिचय मिलता है जो सन्देह से परे है। पर उनका जो उत्तर महादेवीजी देती हैं वह उत्तर नहीं, प्रश्न से बचने की चेष्टा है, प्रश्न से कातर हो उठने की बात है; क्योंकि व्यक्तिवाद ही इस कविता का परिचय, इसका उत्स और इसकी घातक कमजोरी है। व्यक्तिवाद और पूँजीवाद एक ही सिक्के के चित-पट हैं। आज का समाज जो पथहारा-सा दीखता है और व्यक्ति जो अपनी छाती पर अनेक पहाड़ों का-सा दबाव अनुभव कर रहा है, इस सबका उत्तरदायित्व पूँजीवादी समाजव्यवस्था पर है। और पूँजीवाद से ही निःसृत व्यक्तिवाद उसका उत्तर नहीं दे सकता; क्योंकि व्यक्तिवाद का प्राथमिक आधार ही यह है कि वह समाजव्यवस्था पर कोई आघात न करे। वह वृत्तियों को अपने अन्दर समेट लेनेवाली प्रवृत्ति का नाम है; और इसीलिए जीवन का व्यापक संघर्ष, परिस्थितियों का दबाव जैसे-जैसे घना होता जाता है, व्यक्तिवाद और भी अंतर्मुखी होता हुआ परी-कहानियों या ऐसी दूसरी प्रवृत्तियों में अपनी परिणति को पहुँच जाता है, ऐकान्तिक व्यक्तिवाद की वह परिणति जिसका परिचय हमें 'सुररियलिज्म' में मिलता है—ज्वायस के उपन्यास, कमिंग्स की कविता, मातिस के चित्र, हेनरीमूर की मूर्तिकला। चूँकि एकदम ऐकान्तिक व्यक्तिवाद स्वयं एक असंगति है, इसलिए इन सारी कलाकृतियों में जिनका उल्लेख अभी हुआ, अभिव्यक्ति के जिस माध्यम का उपयोग हुआ है, वह स्वयं सामाजिक नहीं रह गया है और इसीलिए दूसरे किसी व्यक्ति के लिए उनका कोई व्यापक या स्थायी मूल्य होने की तो बात ही अलग है, दूसरे आदमी के लिए उनका समझना ही दुश्वार होता है। वह माध्यम ही असामाजिक है, इससे समाज का व्यक्ति उनको समझ तक नहीं सकता; उनसे व्यक्ति का अकेला कौतूहल ही शान्त हो सकता है। यह निर्विवाद है कि व्यक्तिवाद आज के सामाजिक, सांस्कृतिक वैषम्य का उपचार नहीं बता सकता। यह कार्य समाजवादी यथार्थवाद ही कर सकता है; क्योंकि उसी के पास ऐतिहासिक दृष्टिकोण है, वह वर्ग-शक्तियों के परस्पर संघर्ष की भूमिका को पहचानता है, उसी के पास रोग का निदान है।

और चूँकि चरम व्यक्तिवाद के पास आज की विषमताओं का कोई वैज्ञानिक उपचार नहीं है, इसीलिए वह मार्गरोध जिसका ऊपर उल्लेख हुआ। वही चीज़ जिसे मैंने ज़िच कहा। इस प्रसंग में इन पंक्तियों पर विचार करें:

सब बुझे दीपक जला लूँ
घिर रहा तम आज दीपकरागिनी अपनी जगा लूँ

....

भीत तारक मूँदते दृग
भ्रान्त मारुत पथ न पाता
छोड़ उल्का अंक नभ में
ध्वंस आता हरहराता
उँगलियों की ओट में सुकुमार सब सपने बचा लूँ

....

झुलसी देख दिशाएं निष्प्रभ

....

अब असीम में पंख रुक चले
अब सीमा में चरण थक चले,
तू विश्वास भेज इनके हित
दिन का अन्तिम हास मँगा ले !

आदि—

ऐसी अनेक पंक्तियाँ मिलेंगी। जगह-जगह 'आज' और 'अब' की बहुतायत है जो और कालों से अलग 'आज' को खड़ा करती है और इस बात को स्वीकार करती है कि पहले बहुत-सी चीज़ें थीं जो 'आज' और 'अब' नहीं हैं और जो उल्कापात और प्रलय 'आज' देखने में आता है, पहले न था। इसका स्पष्ट कारण एक ही है कि पूँजीवादी संस्कृति आजसे पहले ऐसी संक्रान्ति से न गुज़री थी जो संभवतः उसकी अंतिम संक्रान्ति भी है। इस महान् सामाजिक यथार्थ का अलक्ष्य प्रभाव तो 'दीपशिखा' पर पड़ना ही चाहिए था। और वह पड़ा भी है। सहृदय पाठक को एक-एक पंक्ति में आज की विषमताओं से उत्पन्न रुकावट, मार्गरोध का चित्र मिलेगा। टी० एस० एलियट की पंक्ति Roofs are falling या घरनें गिर रही हैं पुस्तक के मुखपृष्ठ पर कवि की हस्तलिपि में लिखा होना चाहिए था। कवि को सारे सौरमण्डल में पतन और विनाश के ही चित्र मिल रहे हैं। वानीरवन के निःश्वास भी सो गये हैं, खद्योत झर गये हैं, तिमिर वात्याचक्र में अनमोल तारे पिस गये हैं, फूल कुम्हला गये हैं, झंझा के झोंके आ रहे हैं, निठुर धूल रास्ता रोकती है, कठिन शूल पग थाम लेते हैं। मृत्यु की ओर कवि का दृष्टिकोण भी इसी मार्गरोध की ओर संकेत करता है :

गाढ़े विषाद ने अंग कर दिये पंकिल
बिंध गये पगों में शूल व्यथा के दुर्मिल,
पाथेयहीन जब छोड़ गये सब सपने,
आख्यान-शेष रह गये अंक ही अपने,
तब उस अंचल ने दे संकेत बुलाया।

मृत्यु का आँचल आकर सारी अपूर्णता और सारी विषमता को ढँक लेता है और बस, वही जिच। जीवन की अपूर्णता का उत्तर मृत्यु नहीं, चाहे हम उसके आँचल को कितना ही स्नेहसिक्त क्यों न समझें। जीवन की अपूर्णता का जवाब उसको पूर्ण बनाना है। पर व्यक्तिवाद ऐसा कर सकने में असमर्थ है। इसीलिए यह जिच, यह मार्गरोध। जिस प्रकार आर्थिक मार्गरोध का उत्तर पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली नहीं दे सकती, उसी प्रकार इस सांस्कृतिक मार्गरोध का उत्तर व्यक्तिवाद के पास नहीं है। पूँजीवाद और व्यक्तिवाद दोनों में अब जीवन के तत्त्व अवशिष्ट नहीं। मरणोन्मुख पूँजीवाद ने फ़ाशिज्म की शकल ले ली है और व्यक्तिवाद जो पूँजीवाद का ही प्रक्षेपण है, सुररियलिज्म और भोंड़ी परी-कहानियों में (जिनका बाहुल्य नात्सी जर्मनी में है) अपनी परिणति को पहुँच गया है। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली खत्म होगी, समाजवादी उत्पादन-प्रणाली स्थापित होगी। निरर्थक, निष्प्राण व्यक्तिवाद—जिसमें सामाजिक जीवन की हरकत, उसका स्पन्दन नहीं है—खत्म होगा; समाजवादी यथार्थवाद उसकी जगह लेगा। पुरानी ज़िन्दगी को दफ़नाकर नयी ज़िन्दगी का अभिषेक होगा।

एक पंक्ति है :

मैं अपने आँसू में बुझ-धुल, देती आलोक विशेष रही।

इसके पीछे वही भावना है जो आस्कर वाइल्ड की कहानी 'बुलबुल और गुलाब' की नायिका बुलबुल में है। एक लड़की ने अपने प्रणयी से रक्तवर्ण गुलाब की मांग की; पर नगर में रक्तवर्ण गुलाब उपलब्ध न था। प्रणयी सिर धुन रहा था। उसको ऐसा करते एक बुलबुल ने देख लिया। उसने प्रण किया कि उस नवयुवक को वह रक्तवर्ण गुलाब देगी। फिर उसने एक श्वेत गुलाब लिया और उसके काँटों को अपने हृदय में चुभो दिया। क्रमशः श्वेत गुलाब रक्तवर्ण हो चला और बुलबुल मर चली। श्वेत गुलाब जब तक पूरी तरह रक्तवर्ण हुआ, तब तक बुलबुल निष्प्राण, स्पन्दनहीन हो चुकी थी!

उसी तरह जीवन की रगड़ को चिकना करने और उसकी कटुता का उदात्तीकरण करने के लिए कवि की साधना का अपव्यय व्यर्थ जान पड़ता है। व्यक्तिवाद का आधार यदि अवैज्ञानिक है तो जीवन की कठोरता पर मुलम्मा चढ़ाने से कुछ न होगा।

'दीपशिखा' पुरानी स्थापनाओं, पुरानी आस्थाओं, पुरानी मान्यताओं का प्रतीक है। वे वही 'मोम-सी साधें' हैं जिन्हें 'अंगार-पथ' में बिछा दिया गया था। सामाजिक यथार्थ ही अंगार-पथ है जो उनको जलाकर क्षार कर देता है। पर मोम कभी क्षार नहीं होता; वह गल-गलकर भी मोम ही बना रहता है। कुछ-कुछ यही भाव इस पुस्तक में भी है। जैसा मैंने अभी कहा, दीपशिखा पुरानी मान्यताओं का प्रतीक है। इसीलिए पहली ही पंक्ति में है: 'दीप मेरे, जल अकंपित'; अर्थात् दीपशिखा को कंपित करनेवाले तत्त्व वायुमंडल में हैं, और वे दीप को आदेश देती हैं या उससे याचना करती हैं कि वह उन तत्वों की अवहेलना करके अकंपित रूप से जले। 'यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो', यह याचना संभवतः आँधी से है। पर आँधी के नज़दीक एक दीप और दूसरे दीप में कोई अंतर नहीं होता। सामाजिक यथार्थ निर्मम होते हैं। वे पुरानी मान्यताओं का शीशमहल ढहा देंगे। दीपशिखा बुझ जायेगी।

पर एक ओर जहाँ कातरता है वहाँ दूसरी ओर सामाजिक यथार्थों की उपेक्षा करने का झूठा हौसला भी है: 'घिरती रहे रात।' पर इससे मुकाबला करने का वैसा अंदाज़ नहीं मिलता जैसा सामाजिक यथार्थों के निर्मम दबाव का। पुस्तक की एक-एक पंक्ति में पुरानी मान्यताओं के ढहते हुए ठूंठ की चरमराहट है।

अन्त में हम अपनी ओर से इतना ही कहना चाहते हैं कि जब ध्वंस हरहराता हुआ आता हो तब उँगलियों की ओट में सुकुमार सपनों को नहीं बचाया जा सकता।

हंस : सितंबर १९४२]

छोटी आलोचनाएँ

समाज का अक्स

संग्रह* में सोलह कहानियाँ हैं। कहानियों के विषय-चयन में बहुत विविधता है और उससे पता चलता है कि कहानीकार अपनी कला में निपुण है, उसमें एक सच्चे कहानीकार की सूझ है जो राह चलते कहानियों की रचना करती चलती है। संवेदनशील कहानीकार को अपने चारों ओर कहानी की सामग्री बिखरी मिलती है; सच्चे कहानीकार की योग्यता इस बात में होती है कि उस सामग्री को वह अपने मानसिक जगत् के अनुरूप ढाल सके और अपने सजीव इतिहास-ज्ञान की छाप उस पर छोड़ सके। 'सुहेल' ऐसा करने में काफ़ी सफल हुए हैं और कहानी-कला तथा कथा-वस्तु दोनों की दृष्टि से ये कहानियाँ सफल हुई हैं। कहानियों में अनावश्यक विस्तार नहीं आने पाया है और उन्हें सरस तथा मार्मिक बनाने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे सभी संग्रह की अधिकांश कहानियों में पाये जाते हैं। प्रायः सभी कहानियों का आदि और अन्त मर्म पर चोट करनेवाला है, और मुख्यतः अन्त।

टूटा तारा, बेचारा, जवानी, भूख, अँधेरे और उजाले में—इन कहानियों में प्रेम की समस्या को एक नये दृष्टिकोण से पेश किया गया है। ऐसा लगता है कि 'टूटा तारा' और 'जवानी' में लेखक उन तरुण-तरुणियों पर विद्रूप-बाण छोड़ता है जो प्रणयी को वचन देने में आवश्यकता से अधिक उदार होते हैं और उसे निभाने में आवश्यकता से अधिक कृपण। ऐसे भीरु प्राणियों के लिए लेखक के मन में विशेष सहानुभूति नहीं है, थोड़ी-सी दया चाहे हो। ऐसे व्यक्तियों को प्रेम का सौदा न करना चाहिए, प्रेम की सौदागरी उनके लिये नहीं हो सकती। 'टूटा तारा' में स्त्री ने पुरुष को धोखा दिया है और 'जवानी' में पुरुष ने स्त्री को। दोनों कहानियों का कलेवर थोड़ी-सी कठोर मुस्कान का पुट लिये हुए है, लेकिन उससे कहानी का समीक्षा-तत्त्व और प्रखर हो गया है। दोनों कहानियाँ एक ही तसवीर के दो पहलुओं-सी जान पड़ती हैं। अब तक अजर-अमर प्रेम के बहुत राग अलापे गये है और आज भी अलापे जाते हैं, शायद आगे भी अलापे जायँ; लेकिन इन कहानियों में जरा-मरण से पीड़ित जिस

---

* अलाव (उर्दू कहानी संग्रह)—लेखक, 'सुहेल' अज़ीमाबादी। प्रकाशक मकतबा उर्दू, लाहौर मू० १॥)

यथार्थ-प्रेम का चित्रण किया गया है, उसकी रूपरेखा इन प्रेम के तरानों के बावजूद धूमिल नहीं पड़ती। इन कहानियों की वास्तविकता प्रेम को अमरता के सिंहासन से ढकेल देती है, और अधिकांश पाठक इससे सहमत भी हों तो आश्चर्य नहीं। प्रेम की इन सभी कहानियों में मज़ाक का थोड़ा-बहुत पुट है, गोकि इस मज़ाक में कठोरता (Cynicism) भी कम नहीं है। 'टूटा तारा' में एक प्रेमी इसलिए सिर धुनता दिखाई पड़ता है कि उसकी प्रेमिका ने दूसरे से विवाह कर लिया और भेंट होने पर आहें भरना और अपने पुराने प्रेमी का हालचाल' पूछना तो दूर, वह मुग्गी की तरह अपने पति का ही गुण-गान करती रही। बेचारा प्रेमी! 'जवानी' में नायक महोदय एक लड़की से प्रेम करते हैं। लेकिन दिल्लगी तो यह है कि बावजूद उनके प्रेम और वादों के उनका विवाह एक दूसरी लड़की से हो जाता है। यह हुई पहली हार। फिर नायक महोदय इस बदली हुई परिस्थिति में सकल्प करते हैं कि वे अपनी पत्नी से प्रेम न करेंगे और इतना ही नहीं, उसे बतला भी देंगे कि वे उससे प्रेम नहीं करते, किसी और से प्रेम करते हैं। लेकिन पत्नी से भेंट-मुलाकात होने पर वे कुछ का कुछ कह जाते हैं—तुम मेरी हो, मैं तुम्हारा हूँ, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, वग़ैरह-वग़ैरह इसी धुन की बहुत-सी बातें!

'बेचारा' में हमारा नायक एक मजदूर है जो कलकत्ता कमाने आया है। नल पर पानी भरते किसी औरत को देखकर उसका दिल मचल उठता है, उसे पत्नी की याद सताने लगती है। लेकिन वह गुलाम है, मजदूरी करता है, कोई हँसी-ठट्ठा तो है नहीं कि जब मन आया, चल दिये। जा नहीं पाता और उसी नल पर पानी भरनेवाली सुन्दरी को दिल में बसा लेता है और उस पर काबू पाने के लिए गंडे-तावीज़ की जुगत करने लगता है। इस कहानी का ही एक नायक है जिससे थोड़ी हमदर्दी होती है, क्योंकि उसकी मजबूरी सच्ची मजबूरी है, क्योंकि वह सचमुच बेबस है, क्योंकि वह एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधि है जो आज तक बेबस रहा है, एकदम बेबस और साधन-हीन, जिसका सोना-जागना, उठना-बैठना, हँसना-बोलना, प्रेम करना कुछ अपने बस का नहीं। इसीलिए इस कहानी में एक छोटी-मोटी ट्रैजेडी का जो गुण है, वह संग्रह की संभवतः किसी कहानी में इतना उभरकर नहीं आया है। कहानी में एक कमी अखरती है, और वह एक बहुत बड़ी कमी है। यह एक 'बेचारे' की कहानी है, ठीक। पर लेखक जब आज दिन लिखने बैठा है तो उसे बतलाना ही चाहिये था कि वह मज़-दूर अब इतना बेबस और 'बेचारा' न रहने का संकल्प कर चुका है और न वह सिर्फ सुंदरियों को हृदय में बसाता फिरता है बल्कि अपनी रोज़ी-रोटी के लिए लड़ता भी है। अब वह अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए किस तरह आगे बढ़ रहा है, उसका भी कुछ संकेत पाठक को मिलना चाहिये था।

'भूख' का घटनाचक्र सचमुच हास्यरसात्मक है। एक भूख से परीशान आदमी एक हलवाई की दूकान में चोरी करने जाता है। वहाँ उसे मिठाई के थालों के साथ-साथ यौनबुभुक्षा से प्रपीड़ित हलवाई-पत्नी मिलती है, जो उसे अपना प्रणयी समझ बैठती है और उसे बार-बार मिठाई के थालों से हटाने की कोशिश करती है। लेकिन हमारे इस पट्ठे को उस नारी से कुछ नहीं लेना-देना: वह तो मिठाई के थालों पर हाथ साफ़ किये जा रहा है और अच्छी तरह खा चुकने पर दुकान से निकलकर भाग जाता है। उसकी भूख तो मिट जाती है लेकिन बेचारी हलवाई-पत्नी भूखी की भूखी रह जाती है। अपनी भूख के मारे हमारे नायक को अवकाश नहीं है कि वह दूसरे की भूख से उलझे-सुलझे!

ज्वार भाटा, शराबी, चार आने—अच्छी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं। 'शराबी' का मनोविश्लेषण, अपनी लत के प्रति उसकी बेबसी का चित्रण बहुत अच्छा है।

'पेट की आग' और 'वह रात' में बेकारों की फौज के दो सिपाहियों का चित्रण है। इनमें से एक, क्योंकि वह निम्न स्तर का है, राहज़नी का पेशा अख्तियार करता है और दूसरा चूँकि वह मध्यवर्ग का है, पढ़ा-लिखा है, अपनी पुरानी हालत में पड़ा-पड़ा सुलगा करता है। बड़े-बड़े शहरों में कितने शिक्षित बेकार युवक ऐसे मिलेंगे जो सड़कों और पार्क की बेंचों पर रातें गुज़ारते हैं, क्योंकि कमरे का किराया देने के लिए उनके पास पैसा नहीं और बगैर दिये साहूकार का ताला कमरे पर से हट नहीं सकता।

'अलाव' में किसान-ज़मींदार संघर्ष का अच्छा चित्रण है। 'सुहेल' इसके लिए विशेष योग्य भी हैं, क्योंकि वे ऐसे प्रान्त (बिहार) के लेखक हैं जहाँ किसानों ने सबसे ज्यादा खूनी लड़ाइयाँ ज़मींदारों के खिलाफ लड़ी हैं।

पूँजीवादी समाज में बड़े और छोटे के बीच कैसा अमाप अन्तर होता है, इसका परिचय हमें 'बखैर तमाम' कहानी से मिलता है:—अखबार में छपता है कि वायसराय महोदय 'सकुशल' पहुँच गये। उसमें कहीं उस बुड्ढे का ज़िक्र तक नहीं होता जो उनकी गाड़ी के नीचे आ गया था। आज की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में आदमी आदमी नहीं, कीड़ा-मकोड़ा हो जाता है। ग़रीब आदमी का अस्तित्व कीड़े-मकोड़े के अस्तित्व से ज्यादा महत्त्व नहीं रखता। यही हमारे समाज का आधारभूत नियम है। अपने विश्व-साम्राज्य की महत्त्वाकांक्षा के नीचे करोड़ों अबोध नर-नारियों को पीसनेवाले पूँजीपति इसी नियम की अभिव्यक्ति हैं।

कोका पंडित के वंशधर !

कवि ने अपनी कविताओं*को 'प्रगतिशील', विशेषण से विभूषित किया है। पर 'कपोत' शीर्षक कविता को छोड़कर जिसमें काफी अच्छी संवेदनशीलता का परिचय मिलता है, सभी कविताएँ पाठक की सुरुचि पर आघात करती हैं और साहित्य के किसी भी मानदंड से उन्हें पतनशील ही कहा जा सकता है। हिन्दी में ऐसी कविताएँ प्रकाशित होते देखकर माथा शर्म से झुक जाता है। इस गंदगी को अगर कवि ने अपने तक ही सीमित रखा होता तो हिन्दी के पाठक उनका कितना उपकार मानते—

—कि जिसकी छातियाँ हैं अभी उठती उभरती वह कच्ची नासपातियाँ है !

और

पाते ही पाते उभार
जिनकी छातियाँ—
बन गई वैशाख की जुआई ढली ककड़ियाँ
कठोरता तो दूर
दबाने पर सट जाती हैं—एकदम पोर दोनों उँगलियों की !

ऐसी कुत्सित कविता का बहिष्कार होना चाहिये जिसमें हिन्दी साहित्य में फैलनेवाली इस 'प्रगतिशील' प्रवृत्ति का निर्मम प्रतिकार किया जा सके। जन जीवन को अवरुद्ध करनेवाली समस्याओं और उनसे लड़नेवाली जनता का चित्रण करना ही सच्चे प्रगतिशील साहित्य का मूल सिद्धान्त हो सकता है।

इस संग्रह में जैसी कविताएँ आई हैं, वे किसी भी साहित्य के लिए कलंक ही हो सकती हैं।

---

* मास्को (कविता-संग्रह)—लेखक, श्री रमण, प्रकाशक ईभायण, नयाटोला, मुजफ्फरपुर, बिहार; मूल्य १)

मरणोन्मुख संस्कृति के उपकरण : निराशा और अवसाद

'विपथगा' के बाद यह 'अज्ञेय'जी का दूसरा कहानी-संग्रह है।* इसमें उनकी चार बरस पहले तक की लगभग सभी कहानियाँ संगृहीत हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से ये बाईस कहानियाँ स्वभावतः दो श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं। एक तो वे कहानियाँ हैं, जिनमें एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के दृष्टिकोण से पूँजीवाद के अभिशाप का चित्रण किया गया है। 'अलिखित कहानी', 'पहाड़ी जीवन', 'शान्ति हँसी थी', 'सूक्ति और भाष्य', 'नयी कहानी का प्लॉट', 'प्रतिध्वनियाँ', 'नंबर दस', 'सभ्यता का एक दिन', 'सेब और देव', 'चिड़ियाघर', और 'परंपरा : एक कहानी' इस कोटि की कहानियाँ हैं। इनके अलावा जो कहानियाँ हैं उनका आधार अतृप्त वासना है। यथा—'मंसो', 'ताज की छाया में', 'अछूते फूल', 'सिगनेलर', 'कविता और जीवन', 'पुलिस की सीटी' 'बन्दों का खुदा' और 'जीवनीशक्ति'।

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज और व्यक्ति दोनों की क्या दशा हो जाती है, यह इन कहानियों में दिखायी पड़ता है। चारों ओर भूख है। आदमी इधर से उधर ठोकरें खाता फिर रहा है। बेबस है। आदमियों में अब आपस की हमदर्दी भी बाक़ी नहीं रही है—कोई दूसरे की तकलीफ़ सुनने या उसमें हाथ बँटाने के लिए तैयार नहीं है। जीवन की सभी मान्यताएँ ढह रही हैं। भविष्य अन्धकार-पूर्ण है।

अर्थात् पुस्तक में सर्वत्र घोर नैराश्य का ही चित्रण है। उसका कारण है। लेखक का जनता से कोई संपर्क नहीं है। नये संसार का निर्माण करने के लिए जो क्रांतिकारी जनता संघर्ष कर रही है, विषम परिस्थितियों में पड़ी होते हुए भी जो जनता भविष्य में, अपने में, मानवता में अपना विश्वास बनाये हुए है और उसी विश्वास के संबल को लेकर नये का निर्माण करने के लिए आगे बढ़ रही है, उससे बिल्कुल पृथक् होने के कारण लेखक को जीवन का बड़ा निराशा-पूर्ण चित्र ही हाथ लगा है। सभी कहानियों का वातावरण बहुत दम घोंटनेवाला है क्योंकि उनमें एक म्रियमाण समाज व्यवस्था का ही चित्रण है, नये विश्व का प्रकाश उनमें नहीं है। जीवन के कोलाहल से अलग हटकर उसकी विकृतियों को समझने का जो प्रयत्न किया गया है, उसी का परिणाम ये कहानियाँ हैं

* परंपरा—लेखक, श्री अज्ञेय ; प्रकाशक, सरस्वती प्रेस, बनारस ; मूल्य ३)

जो प्रथमतः अपनी दुरूह कहानी-कला के कारण समझ में नहीं आतीं, कहानी जान ही नहीं पड़तीं और दूसरे अपनी विषयवस्तु में इतने घोर नैराश्य में डूबी हुई हैं कि उनसे अरुचि हो जाती है। इन कहानियों के रूप और विषयवस्तु दोनों पर लेखक की जन-विरोधी प्रवृत्ति की छाप है।

नवंबर १९४४]

जनता ही क्रान्ति का स्रोत है

आजकल प्रकाशित होनेवाले अधिकांश उपन्यासों में राजनीतिक विचारधाराओं का अपना एक स्थान रहने लगा है। यह हमारी बढ़ती हुई राजनीतिक जागृति का परिचय देता है।

श्रीगुरुदत्त एम० एस्-सी के 'स्वाधीनता के पथ पर' में भी यही बात है। इस पर राजनीति की छाप ज़्यादा गहरी है। अधिकांश उपन्यासों में राजनीति बस वाद-विवाद का विषय होकर रह जाती है, जैसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमन्त्रण' में। 'स्वाधीनता के पथ पर' में ऐसी बात नहीं है। इसमें राजनीति पात्रों को आचरण की दिशा बतलाती है।

उपन्यास की मूल समस्या है, आतङ्कवाद और गांधीवाद में से कौन पथ उचित है? आतङ्कवाद और गांधीवाद में से कौनसा पथ स्वाधीनता का है? इसी समस्या को हल करने के लिए शायद एक बहुत चित्र-विचित्र, कौतूहलपूर्ण, कुछ-कुछ जासूसी और तिलिस्मी उपन्यास के से कथानक की सृष्टि की गई है जिसमें गुप्त सभाएँ, पिस्तौलें, बम के धड़ाके, हत्याकांड, पुलिस की भाग-दौड़ सभी बहुतायत से मिलते हैं। इन 'ऐक्शनों' का राजनीतिक मूल्य चाहे न-कुछ ही हो, लेकिन इतना ज़रूर है कि उनसे उपन्यास बहुत रोचक हो गया है और इस रोचकता ने औपन्यासिक की भाषा और कला की व्यापक कमज़ोरियों को काफ़ी हद तक ढँक लिया है।

यदि हम कथानक पर एक उड़ती हुई नज़र डालें तो पायेंगे कि नायक-नायिका का जीवन उपन्यास की मूल समस्या को काफ़ी अच्छी तरह रेखांकित कर देता है।

पूर्णिमा आतङ्कवादी है और मधुसूदन गांधीवादी, लेकिन इसके बावजूद उनका परस्पर आकर्षण बढ़ते-बढ़ते प्रेम का रूप ले लेता है। लेकिन यह प्रेम अपने स्वाभाविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता। उसका कारण है उनके जीवन-दर्शन की विपरीतता। प्रारम्भ में तो पूर्णिमा हिंसा की पुजारिणी है, उसकी उपादेयता को स्वीकार करती है और मधुसूदन अहिंसा का पुजारी है। लेकिन होते-होते, समय के प्रवाह में पड़कर मधुसूदन जब हिंसा की उपादेयता को मानने लगता है तो पूर्णिमा अहिंसा का व्रत ले चुकी होती है। मधुसूदन जेल से भागकर आया है और नाम बदलकर कलकत्ता में रह

रहा है। पूर्णिमा के साथ उसके विवाह की सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं, लेकिन पूर्णिमा, जो कि अब मानसिक, वाचिक, कायिक अहिंसा का व्रत ले चुकी है, जेल से फ़रार व्यक्ति से विवाह करने से इनकार कर देती है। पूर्णिमा और मधुसूदन के जीवन की यही ट्रैजेडी पूर्णिमा के ऊपर सबसे गहरा व्यङ्ग भी है। पूर्णिमा के इस निष्ठुर निश्चय के ही कारण दो जीवन बरबाद होते हैं और अहिंसा की पुजारिणी पूर्णिमा ही वस्तुतः अपनी मृत्यु (जिसे आत्म-हत्या कहना ज्यादा ठीक होगा) और मधुसूदन के पागलपन की उत्तरदायी हो जाती है।

दो जीवन-दर्शनों के संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली इस ट्रैजेडी पर उपन्यास को समाप्त कर लेखक ने स्वीकार किया है कि उपन्यास की दार्शनिक समस्या उसके लिए नायक-नायिका की प्रेम-कहानी से ज्यादा महत्त्व रखती है।

अब प्रश्न उठता है कि उपन्यास में इस समस्या का हल क्यों नहीं है? उसका निष्कर्ष नकारात्मक क्यों है? लेखक अपनी कोई मान्यता स्थिर क्यों नहीं करता, पाठक को क्यों बीच अधर में त्रिशंकु की तरह लटकता हुआ छोड़ देता है? नायिका को अनन्त निद्रा में सुलाकर, नायक को पागल बनाकर क्यों क़ैसर-बाग़ में घुमाया गया है? लेखक क्यों नहीं बतलाता कि दोनों में से अमुक पथ स्वाधीनता का है और अमुक नहीं?

इसके कारण ढूँढ़ने ज्यादा दूर न जाना होगा। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि लेखक को स्वयं नहीं मालूम कि दोनों में से कौन-सा पथ ठीक है। उसकी श्रद्धा भी शायद दोनों पर से उठ गई है और ठीक ही, क्योंकि (और यही पुस्तक के नकारात्मक निष्कर्ष का दूसरा कारण है) स्वाधीनता का पथ न आतंकवाद है और न गांधीवाद।

धीरेन्द्र, पूर्णिमा, हारान, नरोत्तम, द्विवेदी की एक-निष्ठा, उनके आचरण की दृढ़ता, दहकते अंगारे-सा उनका देश-प्रेम, बलिदान और आत्मोत्सर्ग की उनकी भावना स्वाधीनता के अजेय सैनिकों के गुण हैं, लेकिन उनका पथ स्वाधीनता का पथ नहीं है, क्योंकि वे यही नहीं जानते कि उनकी स्वाधीनता कैसी होगी और किसके लिए होगी, क्योंकि जनता की क्रान्तिकारी शक्ति में उनका विश्वास नहीं है। गांधीवाद भी स्वाधीनता का पथ इसी लिए नहीं है कि वह भी जनता की शक्ति में विश्वास नहीं रखता। स्वाधीनता के पथ की पहचान करते समय हिंसा-अहिंसा का प्रश्न नहीं उठता। तात्त्विक प्रश्न जनता की शक्ति को स्वीकार करने या न करने का है। स्वाधीनता का पथ वही है जो जनता की अजस्र शक्ति के स्रोत को मानता है, उसे पहचानकर सजग और सङ्गठित करता है। उसी में स्वाधीनता प्राप्त करने और समाज को बदलने की

शक्ति होती है। इस उपन्यास में स्वाधीनता का पथ जो झाड़ी में खो गया है वह इसी॰ लिए कि पुस्तक में सुझाये हुए दोनों पथ व्यक्तिवादी हैं, व्यक्ति की आशा-आकांक्षा, शक्ति और विश्वास की परिधि के बाहर वे नहीं जाते, जनता की शक्ति को पहचानने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। समाज को गति देनेवाली इस शक्ति, जनता, की अवहेलना करने का स्वाभाविक फल था कि लेखक स्वाधीनता के पथ को न पाये।

सितम्बर, ९४३]

मार्क्सवाद गतिशील दर्शन है

कवि 'अंचल' की यह प्रथम आलोचना-पुस्तक है।* लेखक कहता है कि ने वैज्ञानिक समाजवाद को अपने जीवन-दर्शन के रूप में अपनाया है, क्योंकि वही दर्शन है जो विश्व को बदलने की बात कहता है। आधुनिक समाज अन्याय और असत्य की भित्ति पर खड़ा है इसे तो बहुत-से दार्शनिकों ने देखा, पर इसे आमूल बदलना है और किस प्रकार बदलना है, केवल मार्क्स ने इसका निरूपण किया है। लेखक मार्क्स के बतलाये हुए विश्वबोध को मानता है और उसी के बतलाये मार्ग पर चलकर साहित्य को विश्व में आमूल परिवर्तन लाने का अस्त्र बनाना चाहता है। अपनी इस पुस्तक में लेखक ने साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति अपनाने का प्रयत्न किया है। उसका यह प्रयत्न बहुत स्तुत्य है, क्योंकि अन्य किसी भी आलोचना-पद्धति में साहित्य की सच्ची आत्मा को इस प्रकार पकड़ने की क्षमता नहीं है कि वह उसे एक नया ही रूप-रंग दे सके। पर लेखक से एक बहुत बड़ी तात्त्विक भूल हो गयी है, जिसने उसकी समीक्षा का मूल्य ही नहीं कम कर दिया है बल्कि उसे अवैज्ञानिक बना दिया है और एकदम विपरीत दिशा में मोड़ दिया है। ऐसा लगता है कि लेखक ने मार्क्सवाद को एक स्थिर, अपरिवर्तनीय, जड़ उपदेश-वाक्य समझ लिया है। यह दृष्टिभंगी मार्क्सवाद के मूल पर ही आघात करती है और उसे केवल विकलांग ही नहीं बनाती, वरन् एक प्रकार से उसकी आत्मा की ही हत्या कर देती है। मार्क्सवाद विश्व को बदलने का दर्शन है। गतिशीलता ही उसका प्राण है। वह क्रांतिपथ का प्रदर्शक है। वह सतत परिवर्तनशील है। इसी परिवर्तनशीलता के कारण वह अन्य दर्शनों के समान मृत ज्ञानकोष न रहकर क्रांतिकारी ज्ञान-कोष बन जाता है जो क्रांतिकारियों को राह दिखलाता है और उन्हें क्रान्ति के टेढ़े-मेढ़े रास्ते को सफलता-पूर्वक पार करने की दीक्षा देता है।

मार्क्सवाद के इसी आधारभूत सत्य को लेखक ने दुर्भाग्यवश विस्मृत कर दिया है। यही कारण है कि अपने विषयों के विवेचन में—नई हिन्दी कविता की सामाजिक पृष्ठ-भूमि, प्रगतिवादी साहित्य और कला, साहित्य और क्रान्ति की परंपरा, प्रेमचंद, प्रेम-

---

* समाज और साहित्य—लेखक, श्री 'अंचल', प्रकाशक, मातृभाषा-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग ; मूल्य २)

चंद के बाद हिन्दी कथा-साहित्य आदि—आलोचक ने आलोचित साहित्य को उसके युग की भूमिका में रखकर नहीं देखा है। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली का आधार ही यही है कि आलोचित विषय को उसके युग की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की भूमिका में रखकर उस पर विचार किया जाय। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसा नहीं किया गया है। लेखक ने साहित्यिकों और साहित्यिक धाराओं को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखकर नहीं, तथाकथित 'मार्क्सवाद' की कसौटी पर उन्हें कसकर उनका मूल्यांकन किया है। पिछले साहित्यिकों या प्रवृत्तियों को उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियों से पृथक् करके उन्हें अपनी आज की कसौटी पर कसना मूलतः ग़लत है, अवैज्ञानिक है, अनैतिहासिक है। यह भूल अनेक स्थलों पर हुई है। केवल प्रेमचंदवाला लेख इस दृष्टि से न्यूनाधिक संयत और संतुलित है। पर तो भी उसमें भी इस प्रकार की टिप्पणी है :

"किसानों का चित्रण और उनकी समस्याओं का जितना निरूपण उन्होंने किया है, उतना मजदूरों की स्थितियों का नहीं, यद्यपि मज़दूरों का वर्ग किसान के वर्ग से ज्यादा क्रान्तिकारी है......"

जिस वर्ग को प्रेमचन्द जानते थे उसका चित्रण उन्होंने किया। किसानों और मध्यवर्ग के लोगों को वे जानते थे, उनका चित्रण उन्होंने किया। मज़दूरों के वर्ग को वे जानते न थे, उसका चित्रण भला वे कैसे करते? मज़दूर-वर्ग एक प्रबल संगठित शक्ति के रूप में कुछ बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों तक ही सीमित था और उससे उनका परिचय न था। इसलिए स्वाभाविक ही था कि वे उसका चित्रण न करके उस वर्ग का चित्रण करते, जिसके बीच वे बचपन से पले थे और जिसे वे बहुत अच्छी तरह जानते थे। अतः प्रेमचन्द के बारे में कहने की बात यह नहीं है कि उन्होंने मजदूरों का चित्रण क्यों नहीं किया; बल्कि यह कि किसानों का उनका चित्रण किस प्रकार का है। 'अंचल' जी के उद्धृत कथन से तो यह ध्वनित होता है कि क्रान्तिकारी लेखक की उन्होंने जो एक कसौटी बना ली है, उसमें मजदूरों का चित्रण एक आवश्यक बात है और उन्हें प्रेमचन्द से यह आपत्ति है कि उन्होंने मजदूरों का चित्रण क्यों नहीं किया? समस्या पर विचार करने का यह ढंग ग़लत है। कोई लेखक अच्छा है या बुरा, प्रगतिशील है या नहीं, उसकी शर्त अंचल जी के अनुसार यह नहीं है कि उसने अपने समाज का, अपने युग का चित्रण ईमानदारी से किया या नहीं, उसने जो निष्कर्ष निकाले वे उस युग तक की सामाजिक ज्ञानराशि की भूमिका में ठीक हैं या नहीं; बल्कि यह कि वह उन तमाम बातों को स्वीकार करता है या नहीं, जो आज एक मार्क्सवादी को स्वीकार करनी चाहिए। यह कोई कसौटी नहीं है; प्रत्युत यही कारण है कि उसके दृष्टिकोण में संकीर्णता आ गयी है।

यही कारण है कि उसने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमें अर्द्ध-सत्य ही अधिक है और अर्द्ध-सत्य का सम्बन्ध असत्य से अधिक होता है, सत्य से कम। यही अंचलजी की पुस्तक की मौलिक भूल है। इसीके कारण आलोचक भिन्न-भिन्न साहित्यिकों एवं प्रवृत्तियों की अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं कर पाया है और बाहर-बाहर जन-जीवन, जन-संघर्ष और शोषण का नारा बुलन्द करके ही रह गया है। ये नारे उसके दिल से नहीं सिर्फ गले से निकलते हैं, यही कारण है कि वह एक ही बैठक में 'क्रान्तिकारी' और कामुकतापूर्ण कविताएँ रचता है, एक ओर मार्क्सवाद, क्रान्ति और शोषण का राग अलापता है और दूसरी ओर मिनिस्टरों के तलवे सहलाता है।

लेखक को अपने दृष्टिकोण के निर्माण में स्वभावतः अंग्रेज़ी आलोचना के ग्रन्थों से सहायता मिली है। लेखक के चिन्तन पर उनका प्रभाव पड़ना भी सर्वथा स्वाभाविक है, पर आधुनिक अंग्रेज़ी आलोचना ने जिस प्रकार समस्त पुस्तक को छा लिया है, वह अनुचित है। कहीं-कहीं तो अंग्रेज़ी नामों और अंग्रेज़ी उद्धरणों की ऐसी भरमार है कि पुस्तक मौलिक न जान पड़कर किसी अंग्रेज़ी पुस्तक का संक्षेप या उल्था जान पड़ती है। आलोचना-प्रणाली चाहे जिस भाषा से ली गयी हो, ठीक है; पर अपनी आलोचना को हिन्दी के पाठकों के सम्मुख रखने के लिए उसे हिन्दी का कलेवर पहनाना उचित था। लेखक के लिए समीचीन था कि वे उस आलोचना-पद्धति को पूर्ण रूप से हृदयंगम करके हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के आधार पर अपनी स्थापनाएँ करते, अपने निष्कर्ष निकालते। ऐसा करने से उनकी बात लोगों की समझ में जल्दी और अधिक आसानी से आ जाती। तब वे लोग भी उनकी बात को समझ लेते, जिनकी अंग्रेज़ी से भेंट भी नहीं है पर जो हिन्दी और संस्कृत-साहित्य के मननशील विद्यार्थी हैं। अभी स्थिति यह है कि पाठकों का यह वर्ग 'अंचल'जी की पुस्तक से लाभ उठा न सकेगा; क्योंकि उसकी तर्कभूमि अंग्रेज़ी से भाराक्रान्त है। केवल तर्कभूमि ही नहीं, उनकी वाक्य-योजना पर भी अंग्रेज़ी का प्रभाव है। कहीं कहीं तो पृष्ठ के पृष्ठ फिलिप हेंडर्सन की पुस्तक के अनुवाद-से लगते हैं। नवीन अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव यदि वे और अधिक संयत रूप में स्वीकार करते तो बहुत उत्तम बात होती। अंग्रेज़ी आलोचना को ज्यों का त्यों उठाकर भारतीय परिस्थितियों पर घटित करने के प्रयत्न से कुछ बड़ी सैद्धान्तिक भूलें भी हो गयी हैं। एक औपनिवेशिक पराधीन देश में प्रगति के मान निश्चय ही उन देशों के मानों से भिन्न होंगे, जहाँ पूँजीवादी गणतंत्र स्थापित है। भारत में प्रगति की व्याख्या वही नहीं हो सकती, जो ब्रिटेन में होती है। स्वस्थ राष्ट्रीयता तो किसी भी देश में प्रगति को ही शक्ति मानी जायगी, पर यदि यह थोड़ी देर को मान भी लें कि पश्चिम के देशों में 'राष्ट्रीयता' के नारे ने बड़े-बड़े पूँजीपतियों के लिए धोखे की टट्टी का काम किया है और इस

टट्टी की ओट में उन्होंने ग़रीब किसानों-मजदूरों का शिकार किया है, तो भी इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हमारे देश में राष्ट्रीयता एक प्रगतिशील शक्ति नहीं है और हिन्दी की राष्ट्रीय कविता ने देश को स्वाधीनता की ओर नहीं बढ़ाया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके देशी पिट्ठुओं के विरुद्ध हमारा स्वाधीनता-संग्राम ही तो हमारी जनक्रान्ति भी है। पर 'अंचल' जी ऐसा नहीं समझते। जनक्रान्ति को वे देश के स्वाधीनता-संग्राम से भिन्न वस्तु समझते हैं, इसीलिए राष्ट्रीय कविता का उसका उचित महत्त्व नहीं दे पाते। राष्ट्रीय कविता को वे भारतीय जन-क्रान्ति की कविता न मानकर पूँजीवाद को शक्तिशाली बनानेवाला समझते हैं। वे राष्ट्रीयता को एक प्रतिगामी शक्ति मानते हैं। अंग्रेज़ों के राज का देश की धरती से उखाड़ फेंकने को वे क्रान्ति ही नहीं समझते। एक कल्पनावादी व्यक्ति के समान सर्वत्र लाल क्रान्ति का ही आह्वान करते रहते हैं। देश के स्वाधीनता-आन्दोलन की ओर उनका रुख उदासीनता का है—उनको तो लाल क्रान्ति की कल्पना से ही संतोष मिलता है। स्वाधीनता-आन्दोलन की ओर उदासीनता का रुख होने ही के कारण लेखक ने हिन्दी लेखकों के साम्राज्य-विरोध की बात आनुषंगिक रूप में ही रखी है, जब कि साम्राज्य-विरोधी होना ही आज हिन्दी साहित्यिक की प्रगति-शीलता की सर्वप्रमुख कसौटी है। साम्राज्य-विरोध ही वह आधारभूत तत्त्व है, जिस पर क्रान्ति का, देश की स्वाधीनता का, फाशिज्म के विरोध का प्राचीर खड़ा हो सकता है। प्रमुख वस्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सक्रिय घृणा करना ही है। क्रान्तिकारी तत्त्व वही है—क्रान्ति का बीज वही है। इस रूप में उसकी स्थापना 'अंचल'जी ने नहीं की है। 'अंचल'जी ने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त भी भारतीय परिस्थितियों पर क्रान्तिकारी रूप में नहीं, रायवादी ढग पर घटित किया है। आज हमारे देश की राजनीति में प्रधान संघर्ष पूँजीपतियों और मज़दूरों का नहीं, बल्कि समस्त भारतीय जनता (जिसमें पूँजीपति भी शामिल हैं) और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का है—जो कि हमारा प्रधान शत्रु है। उसी प्रकार 'अंचल'जी ने फाशिज्म से लड़ने के लिए भारतीय जनता और हिन्दी साहित्यिकों का कई स्थलों पर आह्वान किया है। पर उनके आह्वान के सुने जाने की आशा कम ही है; क्योंकि उन्होंने फाशिज्म के विरुद्ध संघर्ष को हमारे प्रतिपल चलनेवाले स्वाधीनता-संग्राम की पृष्ठभूमि में, उससे संबद्ध नहीं पृथक् करके देखा है। कोई भारतीय देशभक्त इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। वह यदि फाशिज्म से लड़ेगा तो इसी विश्वास से कि उसकी आज की बेड़ियाँ भी कटेंगी। लेखक ने कहीं यह बताने का प्रयत्न नहीं किया है कि किस प्रकार फ़ाशिज्म से लड़ना देश की स्वाधीनता को पास लाता है। उन्होंने तो फ़ाशिज्म का हौआ खड़ा करके हमसे कहा है कि उससे लड़ो। उनके कहने का अभिप्राय कदाचित् यह है कि वे और भी खराब हैं, पहले उनसे लड़ लो, देश को पीछे

स्वाधीन करा लेना। फ़ाशिज्म के विरुद्ध संघर्ष को जनता के ब्रिटिश साम्राज्य-विरोधी स्वाधीनता-संग्राम से पृथक् करके देखने के प्रयत्न का अनिवार्य निष्कर्ष यही है। राजनीति के क्षेत्र में यही मत एम-एन राय का है जो कि घोषित रूप में सरकारी दलाल है। कदाचित् यही कारण है कि पुस्तक में फ़ाशिज्म को दी गई गालियाँ सुनते-सुनते कान तो पक जाते हैं, पर कहीं भी उससे लड़ने का उत्साह नहीं जागता। क्योंकि अगर हमारा देश स्वाधीन न हुआ तो हमारा फ़ाशिज्म से लड़ना किस काम का?

समाजवाद को गत्यात्मक रूप में ग्रहण न करने के कारण लेखक ने जोश में आकर और भी कुछ स्थापनाएँ की हैं, जिन पर एक प्रगतिवादी को आपत्ति हो सकती है। जैसे—

'यदि प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा कहा जाय, तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई असंगति नहीं दीखती।'

नहीं, प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा नहीं है, प्रगतिवाद उन सभी साहित्यिकों का मोर्चा है जो देश को ब्रिटिश पराधीनता से पूर्णतया मुक्त करना चाहते हैं और किसी भी विदेशी दासता को स्वीकार न करने के कारण साहित्य का प्रयोग स्वतन्त्रताप्राप्ति के अस्त्र के रूप में करने के इच्छुक हैं, समर्थक हैं।

इसके अलावा—

'प्रगतिवादी के सामने सबसे पहली समस्या है उस समाज को बदलने की—सुधार के द्वारा नहीं, साम्यवादी क्रान्ति के माध्यम से......'

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शोषण-जाल से देश को मुक्त कराने की समस्या ही सबसे पहली है। इस समस्या के समाधान में ही अन्य सभी समस्याओं का समाधान निहित है। आज भारतीय प्रगतिवादी साम्यवादी क्रान्ति का नगाड़ा नहीं बजाता। वह देश की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय और जनवादी परम्परा के अनुरूप साहित्य-रचना करने के लिए सबका आह्वान करता है।

जुलाई, १९४४]

के मन का संघर्ष प्रारंभ होता है जिसका चित्रण लेखिका ने बड़ी कला के साथ किया अक़ीला का पति अक़ीला को क्षमा तो कर देता है, परंतु उसके जारज पुत्र को स्नेह नहीं दे पाता। यही उसकी मानव-सुलभ कमजोरी है। वह अक़ीला के बच्चे को अन्य स्थान पर रखने का आग्रह करता है और बच्चा किसी परिचिता के यहाँ रख दिया जाता है, और यह व्यवस्था होती है कि एक साल पूरा होने पर उसे यतीमखाने में भेज दिया जायेगा। अक़ीला का अंतर्द्वन्द्व भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समाज की दृष्टि में उसने निश्चय ही पाप किया है, यद्यपि उसका मन इस बात को स्वीकार नहीं करता। परन्तु समाज की मान्यता इस प्रकार की है, इसलिए वह भी उससे अछूती नहीं रह सकती। उसके पति ने उसको क्षमा अवश्य कर दिया है, पर उसकी इस क्षमा ने ही अकीला को और भी मानसिक वेदनाओं के शिकंजे में कस दिया है। वह अपने पति से इसी कारण से भक्ति करती है, पति के लिए उसका अनुराग तथा उसकी कृतज्ञता सीमा को पहुँची हुई है। और इस सीमा तक कि वह अपने पति के अन्तर्द्वन्द्व को अच्छी तरह समझती है और मन ही मन उसकी पीड़ा को बाँट लेना चाहती है। इसीलिए एक ओर जहाँ उसका मातृत्व बच्चे की पुकार करता है, वहाँ दूसरी ओर पति की मानसिक पीड़ा (जिसे वह भलीभाँति समझती है) उसके मुँह पर ताला डाल देती है और वह कभी यह नहीं कह पाती कि बच्चे को घर ले आओ, और इसी अन्तर्द्वन्द्व में, अपने पाप को न समझते और स्वीकार करते हुए भी वह एक दिन अपने अभिशप्त जीवन से छुटकारा ले लेती है और कहानी समाप्त हो जाती है।

इस कहानी में लेखिका ने पति-पत्नी का सफल मनोवैज्ञानिक चित्रण करने के साथ साथ इस महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य को भी काफ़ी सफलतापूर्वक उभारकर प्रस्तुत किया है कि वह समाज जो मातृत्व को केवल इसलिए मान्यता तथा आदर नहीं देता कि उस पर एक धार्मिक संस्कार की मुहर नहीं है, निश्चय ही ग़लत भित्ति पर स्थापित है। इस कहानी में लेखिका ने उसी समस्या को तनिक भिन्न ढङ्ग से उठाया है जिसको प्रेमचन्द ने इन्हीं सामाजिक निष्कर्षों के साथ किन्तु तनिक भिन्न ढङ्ग से अपनी 'बालक' कहानी में उठाया है।

'चाय में नीबू' एक सफल व्यंग-प्रधान कहानी है। कहानी के नायक महोदय का विवाह एक गाजर की तरह लाल, खूब हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ ग्राम-बालिका से होता है। लेकिन वह उन्हें पसन्द नहीं आती क्योंकि उन्होंने अपने लिए एक बहुत नाजुक लता-सी, दुबली-पतली, छुई-मुई-सी पत्नी की कल्पना की थी। फलतः वह अपनी पत्नी को चाय में नीबू डालकर पीने की सलाह देते हैं। बेचारी ग्राम-बालिका अनिच्छापूर्वक वह भी करती है। एक दिन जब वह और उसकी नाजुक, शहर में पली ननद घूमने गई हुई हैं

तो कुछ लफंगे उनके साथ छेड़-छाड़ करते हैं। उस समय इस ग्राम बालिका की बलिष्ठ देह ही उनकी रक्षा करती है। उस दिन से वह चाय में नींबू डालकर पीना छोड़ देती है और फिर कोई उससे वैसा करने का आग्रह भी नहीं करता।

'रुपया' में रुपया सृष्टि की एक आद्या शक्ति के रूप में हमारे सामने आता है!

हरिशंकर शुक्ल ने अपने भतीजे मणिशंकर की शादी गोपाल शर्मा की पुत्री कल्याणी से की। शादी हो जाने पर मालूम हुआ कि कल्याणी नाइन की लड़की है। उसके इस दोष को हरिशंकर सहन नहीं कर सके और उन्होंने अपने भतीजे पर जोर डालना शुरू किया कि वह उसे उसके घर भेज दे और फिर कोई सम्बन्ध न रक्खे। मणिशंकर ने पहले तो अपने ताऊजी का विरोध किया और कहा कि पिता का दोष अबोध पुत्री पर नहीं थोपा जा सकता। लेकिन जब ताऊजी ने बहुत ऊँचनीच सुझाई तो वह उनका कहना मान गया। कल्याणी के पिताजी आये और उसे लिवा ले गये। दिन आने और जाने लगे। ताऊजी ने मणिशंकर की सगाई दूसरी जगह पक्की करनी आरम्भ कर दी। मणिशंकर ने पहले तो दबी ज़बान से विरोध किया लेकिन फिर अपनी प्रकृति के अनुसार फिसल गया। कल्याणी की याद, उसका अबोध, पवित्र, उदास मुखमण्डल उसे मनो-व्यथा पहुँचाता। पर तो भी उसकी सगाई पक्की हो जाती है। तभी एक दुर्घटना होती है जो कहानी की दिशा को एकदम मोड़ देती है। कल्याणी के मौसा, रायबहादुर श्रीराम का देहान्त हो जाता है और मरने के पूर्व वे अपनी सारी जायदाद, जो हरिशंकर जी के मतानुसार पचास हज़ार से ऊपर की होगी, कल्याणी के नाम लिख जाते हैं। बस, हरिशंकर का मत बदल जाता है और वह बड़ी अकाट्य दलीलों से अपने मत का समर्थन करते हुए मणिशंकर को अपनी बहू को पुनः लिवा लाने के लिए कहते हैं!

'जीजी' में कुशल, स्नेहशीला गृहिणी जीजी की तुलना में एक अंग्रेज़ी फैशन में पली नववधू पर व्यंग्योक्ति है।

'मर्द' में एक सच्चे मर्द की कहानी है जो अपने सगे-संबंधियों तथा 'अभिभावकों' की 'नेक सलाहों' की परवाह न करते हुए अपनी पत्नी को, जो मेले में भटक जाने और कुछ बदमाशों के चंगुल में पड़ जाने के कारण कई दिन बाद घर लौटती है, अंगीकार कर लेता है।

'कमीनों की ज़िन्दगी में' मध्यवर्ग की एक स्त्री अपने जीवन की तुलना निम्न-वर्ग के जीवन से करती है और अपने जीवन के ढोंग और पाखंड की अपेक्षा उनकी निस्संग स्पष्टता और गाली-गलौज तक को अच्छा समझती है।

'बेज़ुबाँ' कहानी में एक महरी की कहानी है जो अपनी मालकिन की सेवाटहल

में इतनी व्यस्त रहती है कि अपने बच्चे को मरने से भी नहीं बचा सकती—और कोई उससे सहानुभूति दरसानेवाला तक नहीं है!

'दो रोटियाँ' नारी के प्रति निर्मम उस हिन्दू समाज पर घन की चोट है जो नारी के जीवन को 'दो रोटियों' की लौह शृंखलाओं के अंदर जकड़कर उसका सारा सत्त्व, सारा माधुर्य, सारा रस खींच लेता है। स्त्री 'दो रोटियाँ' सेंककर खिलाने से अधिक कुछ नहीं करती लेकिन तब भी वे कैसी विलक्षण 'दो रोटियाँ' हैं जो नारी के जीवन को इतना नीरस, निस्तेज और महत्त्वहीन बना देती हैं, यह प्रश्न निश्चय ही बड़े महत्त्व का है!

'आदमखोर' में एक बोझा ढोनेवाले की विवशताओं का कारुणिक और प्रतिहिंसा जगानेवाला चित्रण है। उच्च वर्ग किस प्रकार अपनी कठोरता, अपनी हृदयहीनता से निचले वर्ग के लोगों का भक्षण करता है, इसका अच्छा चित्रण कहानी में हुआ है।

'परंपरा' कहानी में एक पिता अपने पुत्र को बीड़ी पीने के लिए मारता है और नसीहत करता है कि उसे उसी पैसे से और कुछ खरीदकर खाना चाहिए था। यही पिटनेवाला पुत्र जब बढ़कर पिता होता है तो अपने पुत्र को उसी अपराध के लिए पीटता है जिसके लिए उसने स्वयं मार खाई थी और वही नसीहत करता है जो उसके पिता ने उसे की थी, मगर जिसका पालन दुःखी और अभिशप्त जीवन की विवशताओं, कटुताओं ने उसे न करने दिया!

इन कहानियों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखिका को निम्न मध्यवर्ग तथा निम्न वर्ग दोनों का अच्छा परिचय है। उसने सच्चे कलाकार की सहानुभूतिपूर्ण तीक्ष्ण आँखों से उस जीवन को देखा है और समझा है। साथ ही उसके सहज गांभीर्य ने उसकी भावनाओं को आकुलता तथा कोरे भावावेश के ज्वार में बह जाने से बचाया है।

यथार्थ के ज्ञान के साथ-साथ उसके चित्रण का कौशल भी चंद्रकिरणजी की इन कहानियों में खूब निखर कर आया है। टेकनिक की दृष्टि से भी ये कहानियाँ बहुत सफल हैं। अनावश्यक विस्तार कहीं नहीं आने पाया है। कहानी का आरंभ तथा अंत दोनों ही बड़े मार्मिक तथा हृदयग्राही बन पड़े हैं। कथोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक है—इतना कि लगता है, लेखिका ने निश्चय ही अपने पात्र-पात्रियों को बोलते सुना है। चरित्र-चित्रण से अधिक लेखिका ने परिस्थितयों का चित्रण किया है, लेकिन यत्र तत्र जो चरित्र-चित्रण हुआ है, उसमें भी उन्हें सफलता मिली है। परिस्थितियों के चित्रण में उन्होंने अपने वस्तु ज्ञान और अपनी मार्मिक अभिव्यञ्जना-शैली से चित्रण को सजीव, बोलता हुआ-सा बना दिया है। उलझी हुई परिस्थितियों में भी

उन्होंने सामाजिक यथार्थों के तारतम्य को जिस प्रकार पकड़ा और प्रस्तुत किया है, उससे उनके समाज-ज्ञान का परिचय मिलता है।

भारतीय समाज में नारी एक अत्यंत तिरस्कृत, उपेक्षित प्राणी है। उसे जीवन में कोई अधिकार नहीं प्राप्त है। उसका जीवन ऊब, थकान, एकरसता का है। नये धरातल पर उसके जीवन की पुनर्रचना होनी आवश्यक है। उसे अपने अधिकारों के लिए आप संघर्ष करना पड़ेगा, अपने प्रति किये गये अन्यायों के प्रति स्वयं ही विद्रोह का झंडा खड़ा करना पड़ेगा।

अप्रैल १९४५]

संघर्षों के बीच

'विराग' के बाद मिश्रजी का यह दूसरा सामाजिक उपन्यास है।* इसमें उन्होंने पतनोन्मुख निम्न मध्यवर्ग के एक परिवार की कहानी कही है। उसकी कथावस्तु उन्होंने जीवन की कठोर वास्तविकता से ली है। बाबूजी, भाभी, त्रिलोकी, राजू कल्पना-लोक के नहीं, इसी दुनिया के प्राणी हैं। लेखक इस परिवार को जानता है। इसी लिए चित्रण में बहुत सचाई है। लेखक के शब्दों में इस उपन्यास में कल्पना का वही स्थान है, जो तरकारी में मिर्च-मसाले का होता है। अपने परिचित जीवन की पृष्ठभूमि से अपने कथानक और पात्रों को उठाकर लेखक ने यथार्थवादी उपन्यास की सबसे बड़ी आवश्यकता पूरी की है। जिस प्रकार कथावस्तु के चयन में, उसी प्रकार चरित्र-चित्रण और कथोपकथन में भी लेखक ने यथार्थवादी प्रणाली का अनुसरण किया है। जहाँ तक सम्भव हुआ है, लेखक अपने निजी अनुभव की सीमा से बाहर नहीं गया है। यही कारण है कि जीवन के प्रति उसकी सचाई में कहीं भी फ़र्क नहीं आया है। लेनिन ने एक स्थान पर यथार्थवादी उपन्यासकारों को अपने अनुभव से बाहर उड़ने का निषेध किया है।

अपनी कला में और जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण मे मिश्रजी प्रेमचन्द से प्रभावित हैं। पर इस प्रभाव ने उनकी मौलिकता का दमन नहीं, प्रस्फुटन किया है। उन्हें प्रेमचन्द-स्कूल का उपन्यासकार कहना ठीक होगा।

प्रेमचन्द ने अपने निजी संपर्क और अपनी कला से जिन कहानीकारों और उपन्यासकारों को पैदा किया है, उनकी सख्या बहुत है और उनमें मिश्रजी का भी स्थान है। प्रेमचन्द का प्रभाव मिश्रजी की चलता मुहावरेदार सादी भाषा में, चरित्र-चित्रण और कहानी कहने के ढंग में भी उसी प्रकार स्वस्थ रक्त की तरह प्रवहमान है, जिस प्रकार जीवन के प्रति उनके यथार्थवादी और आशावादी दृष्टिकोण में।

अपने त्रिलोकी के रूप में लेखक ने हमारे उपन्यास-साहित्य को एक अच्छा पात्र दिया है। त्रिलोकी हमारे युग की असफलता का प्रतीक है। उसे प्रतीक बनाने

*संघर्षों के बीच—लेखक, श्री गंगाप्रसाद मिश्र एम॰ ए॰; प्रकाशक, हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद ; मूल्य डेढ़ रुपया।

के उद्देश्य से लेखक ने उसकी रचना की हो, यह बात नहीं है। त्रिलोकी एक व्यवसाय के बाद दूसरे में हाथ डालता है और सबमें असफल रहता है। इसी कारण वह हमारे आधुनिक तरुण जीवन की असफलता, निराशा और क्षोभ का प्रतीक भी बन जाता है। अपनी प्रेयसी-पत्नी के रहते हुए त्रिलोकी का अपने पिता के आगे हार स्वीकार कर दूसरा ब्याह करना उसके चरित्र के गुरुत्व को कम भले ही करता हो, लेकिन जीवन की सच्ची वास्तविकता उसी में अधिक है। पग-पग पर पराजित होनेवाला त्रिलोकी यदि अपने व्यक्तित्व की दृढ़ता को इतना बनाये रहता कि अपने पिता का विरोध करता और दूसरी शादी से इन्कार कर देता, तो यह एक आदर्शवादी, कर्तव्यनिष्ठ युवक का कार्य होता। हमें अपने साहित्य में ऐसे ही चरित्रों की आवश्यकता है। लेकिन उस परिस्थिति में उसका चरित्र जीवन की प्रकृत वास्तविकता से मेल न खाता, क्योंकि हमें आये दिन ऐसी घटनाएँ देखने को मिलती हैं, जिनमें युवक अपनी नैतिक निर्बलता के कारण अपनी वाग्दत्ता और कभी-कभी गर्भवती प्रेयसी को छोड़कर अपने घरवालों द्वारा तय की हुई शादी कर लेता है और अपनी प्रेयसी को जन्म-जन्म तक रोने और सिर धुनने के लिए छोड़ देता है।

त्रिलोकी भी ऐसा ही एक युवक है। अच्छी बात को अच्छा समझना और अच्छा समझकर उससे विचलित न होना दो बातें हैं। अपने बद्धमूल संस्कारों को छोड़ना कठिन होता है। त्रिलोकी उन्हें नहीं छोड़ पाया है। यही उसकी सबसे बड़ी पराजय का कारण है, ऐसी पराजय जिसमें वह दो निरीह व्यक्तियों को अपने साथ लपेट लेता है। त्रिलोकी की इस कमज़ोरी पर किसी तरह का मुलम्मा न चढ़ाकर लेखक ने अपनी खरी सचाई का परिचय दिया है। पर साथ ही, त्रिलोकी के असन्तोष को क्रान्तिकारी रूप देने और उसे फ़ासिज़्म से लड़ने के लिए मोर्चे पर भेजने में लेखक ने जल्दबाज़ी से काम लिया जो अस्वाभाविक जान पड़ता है।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि 'संघर्षों के बीच' की गिनती हमारे अच्छे उपन्यासों में होगी। उनके इस उपन्यास से साफ है कि निम्नवर्गीय जीवन की व्यर्थता और क्षोभ, उसकी वासनाओं और पतन का चित्र आँकने के लिए नग्नता में रस लेनेवाली 'यथार्थवादिता' अपेक्षित नहीं। कलाकार की शक्ति के अलावा यदि लेखक में दो बातें हों, जीवन से गहरा परिचय और उसके प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण तो वह निम्न मध्यवर्गीय जीवन के चतुर्मुख पतन और कटुता का अच्छा यथार्थवादी चित्रण कर सकता है। उसके चित्र की पूर्णता के लिए वासना के नंगे चित्रण की कोई आवश्यकता नहीं। यथार्थवादी उपन्यास की सफलता इस बात में नहीं है कि वह सामाजिक जीवन के किसी एक पहलू (अतृप्त वासना) पर अनैतिहासिक, वैयक्तिक ढंग से मन का गुबार

निकालकर संतोष कर ले और आगे के लिए पथ का निर्देश न करे। यथार्थवादी उपन्यास की सफलता इस बात में है कि वह अपने यथार्थ चित्रण द्वारा वर्ग-समाज का सर्व्वांग-संपूर्ण चित्र दे और उसकी विषमताओं के मूल ऐतिहासिक-सामाजिक कारणों को बताये और साथ ही यह भी बताये कि विकास के अगले चरण किस दिशा में पड़ें। मिश्रजी के उपन्यास ने बहुत अंशों में इसी प्रणाली को अपनाया है।

सन् ४४]

गँवई-गाँव

'टीला'* श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' की ग्रामजीवन-सम्बन्धी कहानियों का संग्रह है। संग्रह में कुल तीन कहानियाँ हैं, 'रावण', 'मुंशीजी' और 'केले के तीन पेड़'। तीनों ही कहानियों में ग्रामीण संस्कृति का ही कोई न कोई रूप व्यक्त हुआ है। अपने ग्राम से अत्यन्त प्रेम, उसे अपना घर मानना, उसके सुख-दुःख को, उसके मान-अपमान को अपना सुख-दुःख, अपना मान-अपमान मानना, यह ग्रामीण संस्कृति का प्रधान तत्त्व है। आज तो व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रिक हो गया है कि अपने से बाहर जाने को वह मूर्खता समझता है, और सतत अपनी ही हितसाधना में लगा रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'आधुनिक संस्कृति' में पले हुए बहुत-से लोग ऐसी प्रबल व्यवसाय-बुद्धि के शिकार होते हैं कि वे सभी आदर्शों का तिलांजलि दे बैठते हैं। वे स्वार्थ के आगे देखना जानते ही नहीं, परार्थ को कोई बात उनकी अक्ल में धँसती ही नहीं। ये लोग ग्रामीण संस्कृति की बड़ी खिल्ली भी उड़ाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रामीण संस्कृति में विकास के अवरोधक तत्त्व ही अधिक हैं। अशिक्षा है, रूढ़ियाँ हैं, जड़ संस्कार हैं। लेकिन यदि कोई आलोचक उनकी आलोचना करते समय ग्रामीण संस्कृति में निहित अच्छी भावनाओं को भी भूल बैठे या उन्हें भी तिरस्कार की दृष्टि से देखे, तो यह उसकी मूर्खता ही होगी। आज मानव-समाज आत्मकेन्द्रिकता के घातक पाश को तोड़कर समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझने की ओर बढ़ रहा है, स्वार्थ के दम घोंटनेवाले वातावरण से निकलकर देश-भाइयों और उससे भी आगे संसार-भाइयों के व्यापक हितों की शुद्ध वायु में आज़ादी के साथ साँस लेना चाहता है। ग्रामीण संस्कृति एक ऐसे सामंती ज़माने की संस्कृति है जिसकी दृष्टिआज के चेतन मानव की दृष्टि से कहीं अधिक संकुचित थी। तब गाँव अपने को ही पूर्ण इकाई मानता था। आज रेल और जहाज़ और हवाई जहाज़, रेडियो और बेतार के तार से सारा संसार भौतिक एकता की डोर में बँध गया है। यही एकसूत्रता संसार की भावी संस्कृति की एकसूत्रता का आधार बनेगी। किन्तु आज हमारी दृष्टिपरिधि विस्तीर्ण हो, इसलिए

---

* टीला—लेखक, श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र, 'निर्गुण'। प्रकाशक, विद्याभास्कर बुकडिपो, बनारस ; मूल्य १)

हम ग्रामीण संस्कृति को आद्यन्त बुरा कह चलें, यह बात कुछ समझ में नहीं आती। अपने ग्राम से प्रेम अगर दूसरे गाँव से घृणा करने की ओर हमें ले जाय, यदि अपने गाँव के घेरे में ही व्यक्ति को बाँध दे, जैसा कि अकसर होता है, तो वह निश्चय ही कदर्य है; किन्तु यदि ऐसी बात नहीं है तो अपने गाँव के मान-अपमान को अपने मान-अपमान के रूप में ग्रहण करने की भावना अच्छी ही कही जायगी।

'निर्गुण' जी ने अपनी इन तीन कहानियों में ग्रामीण संस्कृति की इसी प्राचीन सम्पदा की ओर आज के आत्म-केन्द्रित मानव का ध्यान आकर्षित करने का उद्योग किया है। 'रावण' कहानी का नायक जुम्मन एक प्रतिभाशाली कलाकार है जो 'रावण' का पुतला बनाने में अपना सानी नहीं रखता और हर साल रामलीला के अवसर पर बड़े परिश्रम से यह बोलता हुआ पुतला तैयार करके वह अपने और आसपास के गाँवों की जनता का मनोरञ्जन करता है। जुम्मन के 'रावण' की प्रसिद्धि दूर दूर तक है। एक साल वह बीमार पड़ता है और खटिया पकड़ लेता है। रुग्णावस्था में ही गाँव के लोग आकर उससे अनुनय-विनय करते हैं कि वह 'रावण' तैयार करे क्योंकि उसके 'रावण' की ख्याति से आकर्षित होकर ही कोई उच्च पदाधिकारी गाँव की रामलीला देखने आ रहे हैं और यदि 'रावण' तैयार नहीं होगा तो आगन्तुक को बड़ी निराशा होगी और गाँव की नाक कटेगी। यह बात जब इस रूप में जुम्मन के सामने रखी जाती है तब जुम्मन अपने दीर्घस्थायी रोग को जैसे भूल-सा जाता है और 'रावण' तैयार करने के कार्य में पूरे मनोयोग के साथ डट जाता है और यह कार्य करते-करते ही वह अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। 'रावण' कलाकार जुम्मन के उत्सर्ग की कहानी है। गाँव की नाक न कटे, इसलिए जुम्मन अपनी बीमारी और कमज़ोरी में भी काम करता है, अपनी जान की परवाह नहीं करता।

'मुन्शीजी' कहानी में मुन्शीजी अपने मृत दोस्त की पत्नी के प्रति अपना दायित्व चुकाते हैं। मुन्शीजी और रामगुलाम बहुत अभिन्न-हृदय मित्र हैं। एक अवसर पर मुन्शीजी की स्वार्थपरता रामगुलाम और उनके सम्बन्ध को सदा के लिए खत्म कर देती है—दोनों प्रयत्न करके भी एक दूसरे के पास नहीं आ पाते। रामगुलाम के मर जाने पर मुन्शीजी, रामगुलाम की पत्नी के लिए जो कुछ त्याग करते हैं उससे सभी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। कुछ शंकालुहृदय लोग अनुमान करते हैं कि मुन्शीजी का त्याग सर्वथा निःस्वार्थ नहीं है। पर सभी अवसरों पर देखा जाता है कि इन शंकालुहृदय लोगों की शंका के मूल में उनके मन का कल्मष ही है। एक रात मदिरा के प्रभाव में, सुधबुध खोकर मुन्शीजी रामगुलाम की पत्नी के घर में बुरी भावना से प्रवेश करते हैं। रामगुलाम की पत्नी अपना सतीत्व विपद में पड़ा

देखकर मुन्शीजी पर किसी चीज़ से प्रहार करती है और उन्हें अचेत छोड़कर अपने बच्चे हरिहर को लेकर भाग जाती है। मुन्शीजी को जब होश आता है तब उन्हें अपने कृत्य पर बहुत लाज आती है और वे भी सदा के लिए अपना गाँव छोड़कर चले जाते हैं। कहाँ? कोई नहीं जानता। पर वे तो चले जाते हैं, लेकिन अपने पीछे निन्दकों की एक महती सेना छोड़ जाते हैं जिसे अब निन्दा का बहुत मनोरंजक विषय मिल गया है।

'केले के तीन पेड़' में तीन पेड़ों के इर्द गिर्द कहानी कही गयी है। पहले इन पेड़ों को लगानेवाले बूढ़े जयदेव सुनार के रहस्यमय बलिदान की कहानी है जिसने इन पेड़ों की रक्षा एक प्रमत्त साँड़ से करते हुए अपनी जान दी। आगे चलकर ये पेड़, क्षत्रियत्व की मर्यादा के रक्षार्थ (!) दो हत्याओं का दृश्य देखते हैं और तीसरी हत्या का कारण बनते हैं। जोरावरसिंह को अपने क्षत्रिय होने का घमण्ड है। इसी घमण्ड में वह ज़मींदार हरेकृष्ण और उनके नौकर कुन्दन की हत्या करता है और फाँसी पाता है। जोरावरसिंह का चित्रण स्वाभाविक है, उसके चरित्र में जिस क्षत्रियत्व के मद की स्थिति कहानीकार ने की है वह एक वास्तविकता है। गाँव के ठाकुरों की संस्कृति का वह एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

संग्रह की सभी कहानियों से इस बात का पता चलता है कि ग्राम-जीवन से लेखक का निकट का परिचय है। और कोरी सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उसने न तो अपने कथानक की सृष्टि की है और न चरित्रों की। चित्रण सर्वथा स्वाभाविक हुआ है। इन कहानियों की कला के सम्बन्ध में केवल यह कहना है कि कथानक को इतना फैलाने के स्थान पर घटनाओं का इस प्रकार चयन और विनियोग किया जाता कि चरित्रों की रेखाएँ अच्छी तरह उभारकर चित्रित की जातीं तो बहुत अच्छा होता। अभी पात्रों का चरित्र-चित्रण घटनाओं की संकुलता में खो गया है, इसीलिए पाठक के मन पर चरित्रों का प्रभाव संगठित रूप में नहीं, बिखरा-बिखरा-सा पड़ता है। तीनों ही कहानियाँ, प्रधानतया 'रावण' और 'मुंशीजी' चरित्र प्रधान कहानियाँ हैं, इसलिए चरित्रों को उभारने के लिए कथावस्तु का विनियोग होना चाहिए था, न कि कथावस्तु को पूर्णता देने की दृष्टि से चरित्रों का बिखरा-बिखरा-सा अंकन। अभी चरित्र-चित्रण गौण हो गया है और कथावस्तु प्रधान। दूसरी बात कहानियों के विस्तार से सम्बन्ध रखती है। हो सकता है कि कहानीकार ने कहानी लिखने की शैली के स्थान पर चौपालों में चलनेवाली कहानी कहने की शैली स्वेच्छा से ग्रहण की हो। इस शैली में घटनाएँ उसी प्रकार घटती चली जाती हैं जिस प्रकार जीवन में। उनमें कोई क्रम या व्यतिक्रम नहीं होता। अपनी स्वाभाविक धीर मंथर गति से कहानी चलती चली जाती है, घटनाएँ जुड़ती चली जाती हैं, नये-नये पात्र-पात्रियाँ आते चले जाते हैं। इस शैली का एक बड़ा आकर्षण यह है कि जीवन

अपनी सम्पूर्णता के साथ चित्रित करने में, अपनी लक्ष्यहीनता के साथ चित्रित करने में कहानीकार को सुविधा होती है। लेकिन एक बड़ा दुर्गुण इस शैली में यह है कि जीवन की घटनाओं की लक्ष्यहीनता स्वयं कहानी की लक्ष्यहीनता बन जाती है। कोई सुनिश्चित लक्ष्य न होने से पाठक किसी विशेष घटना पर या घटना के विशेष अंग पर या चरित्र के किसी विशेष पक्ष पर मन नहीं जमा पाता और कहानी का एकाग्र प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। यह बात 'निर्गुण' जी की सभी कहानियों के बारे में कही जा सकती है।

मनुष्यता की लाश पर

श्री भगवतशरण उपाध्याय पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में काफी ख्यात हो चुके हैं। इस संग्रह* में उनकी दस कहानियाँ हैं। सभी कहानियाँ जीवन के यथार्थ पर आधारित हैं। इन कहानियों में स्वप्नमूलक आदर्शवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए वास्तविक जीवन की कटुता भी संग्रह की कई कहानियों में उतर आई है। 'लाश पर' और 'अकाल' में यह कटुता बड़ी हृदयविदारक है। 'लाश पर' जो शायद आत्मकथात्मक कहानी है, में नायक को अपनी स्त्री की मृत्यु के अवसर पर रोने का या दुःख मनाने का अवकाश भी नहीं मिलता, उसे तुरत अपने लेखन-कार्य्य में जुट जाना पड़ता है, जिसमें उसके बच्चों आदि के लिए खाना जुटाया जा सके। लेखक की विपन्न आर्थिक स्थिति का अत्यन्त आर्त्त चित्रण उपाध्यायजी ने 'लाश पर' में किया है। 'अकाल' में कथावस्तु बंगाल के अकाल से ली गयी है। इस कहानी में लेखक ने भूखे मनुष्य की मनुष्यहीनता का, बर्बरता का नग्न चित्रण किया है। भूख में मनुष्य हिंस्र पशुवत् हो जाता है—कदाचित् यही प्रमाणित करना लेखक का उद्देश्य है। विषाद के जिन गहरे रंगों में लेखक यह चित्र आँकता है, उनसे उसे अपने उद्देश्य में तो अवश्य सफलता मिल जाती है किन्तु मनुष्य के आत्यन्तिक पतन की यह घोर नैराश्यपूर्ण कहानी मर्म पर कुटिल आघात करती है और मनुष्य की मनुष्यता में अनास्था उत्पन्न करती है। छोटे-से बच्चे की लाश को कौन खाये, इसके लिए उस बच्चे के बाप और दादा में संघर्ष होता है और इस संघर्ष में दोनों ही एक दूसरे का अन्त कर देते हैं। जो संघर्ष होता है उसका चित्रण करने में लेखक ने इस बात का विशेष ध्यान रखा कि दोनों ही मनुष्य सौ फी सदी हिंस्रपशुओं के समान एक दूसरे से लड़ते हुए चित्रित किये जायँ और पाठक के मन पर इस बात की छाप अच्छी तरह बैठ जाय कि भूखे आदमी और जंगली जानवर में कोई भी अंतर नहीं होता। अपने चित्रण के कौशल से कहानीकार यह दरसाने में तो अवश्य सफल हुआ है किन्तु उसकी यही सफलता ही उसकी चरम विफलता है। मनुष्य को अत्यन्त पशु के रूप में चित्रित करना यथातथ्यवादी (naturalist) कला का उद्देश्य भले ही हो, यथार्थवादी कला का उद्देश्य नहीं है। यथार्थवादी कला का महत् उद्देश्य मनुष्य

* लाश पर—लेखक : श्री भगवतशरण उपाध्याय।

की हीन भावनाओं का उदात्तीकरण है, मनुष्य को ऊपर उठाना है, उसकी हीन वृत्तियों का सहारा देकर उसे और नीचे ढकेलना नहीं। मनुष्य की मानवता को पराभूत करनेवाली मनुष्यविरोधी, समाजविरोधी शक्तियों का प्रतिकारमूलक चित्रण अवश्य होना चाहिये क्योंकि इस चित्रण के बिना उन शक्तियों का उच्छेद संभव नहीं ; परन्तु चित्रण करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि नैराश्य और पतन की उस कालिमा में मनुष्य की सहज मनुष्यता का, जो विपत्तियों में ही अपना सच्चा परिचय देती है, तेज डूब न जाय और अपराजेय जीवन के स्वर के स्थान पर अरण्य का शृगाल-रोदन ही वायुमण्डल को बोझीला न बना दे। बंगाल की उस भीषण विभीषिका में भी मनुष्य की मनुष्यता मरी नहीं। मनुष्य ने मनुष्य की सहायता की। एक अकालपीड़ित ने दूसरे अकालपीड़ित की सहायता की। सबने मिलकर विपत्ति का सामना किया। यदि बंगाल की मानवता ने अपनी सहायता स्वयं न की होती, जीवन में अपनी आस्था अक्षुण्ण रूप में बनाये न रखी होती, तो आज बंगाल और भी विशाल मरघट बन गया होता। बंगाल की उस संघर्षशील, जीवन के प्रति आस्थावान् मानवता का कोई परिचय उपाध्यायजी की 'अकाल' कहानी से नहीं मिलता, इसीलिए उस कहानी का प्रभाव कल्याणप्रद न होकर मृत्यु के एक ऐसे वीभत्स चित्र का प्रभाव है जो हमारे मन में गुस्सा उत्पन्न करने में तो समर्थ है लेकिन नवीन जीवन के निर्म्माण की ओर हमें प्रेरित करने में सर्वथा असमर्थ। उस चित्र की ही भाँति उपाध्यायजी के इस चित्र का भी महत्त्व उसकी ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता, वास्तविक चित्रात्मकता में है। पर यह महत्त्व व्यापक नहीं है। बिना किसी स्वस्थ नैतिकता को अपना उपजीव्य बनाये हुए जो भी नग्न यथार्थ का चित्रण करेगा वह समाज को कल्याणोन्मुख करने में समर्थ हो सकेगा, इसकी आशा कम है ! यदि ऐसा न होता तो शरीर की दूसरी बड़ी भूख, वासना, का चित्रण करनेवाला साहित्य भी व्यक्ति और समाज को पतन के पथ से हटाकर कल्याणमुखी बना सकता। पर जीवन में हम देखते हैं कि वह और भी नैतिक पतन की ओर ले जाता है। वही बात थोड़े-से अन्तर के साथ इस कहानी के बारे में भी कही जायगी। नैतिक पतन का चित्रण अपने तई कोई स्वस्थ लक्ष्य नहीं है, इसलिए नैतिक पतन की पराकाष्ठा दिखाकर ही समाज के व्रणों को दूर नहीं किया जा सकता, उसका कल्याण नहीं किया जा सकता। समाज का कल्याण तो तभी किया जा सकता है जब मनुष्य की प्रकृत मनुष्यता, अपने को कीचड़ में सानने वाली शक्तियों के विरुद्ध लड़ती हुई, उनसे अपनी रक्षा करती हुई दिखायी जाय। इस दृष्टि से विचार करने पर हम जहाँ 'अकाल' को एक असफल कहानी पाते हैं, वहीं 'जीवन' को बहुत सफल। 'जीवन' का बंगाली नायक युवा मेजर वसू अकाल के बहुत पहले फ़ौज में भर्ती होकर ईरान, इटली वगैरह के मोर्चे पर चला जाता है। उसकी

पत्नी बंगाल के एक गाँव में रही आती है। नायक के जाने के काफ़ी बाद अकाल आता है, भारतीय इतिहास का भीषणतम अकाल और नायक की पत्नी अमिता को जीवित रहने के लिए अपने ससुर के घर से, जहाँ सब अकाल में मर चुके हैं, हटकर मिदनापुर जिले में ही अन्यत्र आकर अपना शरीर बेंचना पड़ता है। अकाल की भीषणता का इससे बड़ा परिचय दूसरा क्या हो सकता है कि उस भारत में, जिसमें सतीत्व सदा से ऐसा अनमोल रत्न समझा जाता रहा है कि युद्ध में मृत वीरों की पत्नियों ने उसकी रक्षा के निमित्त स्वेच्छा से, हँसते-हँसते अपने को अग्नि की लपटों में डालकर भस्म कर दिया है; हज़ारों लाखों स्त्रियाँ पण्यस्त्रियाँ बनीं।

मोर्चे से जब नायक मेजर वसू घायल होने पर अस्पताल में कुछ दिन रहने के बाद छुट्टी लेकर आता है तो उसे पता चलता है :

> कलकत्ते के महानगर से क्षुधासिन्धु जो टकराया,
> क्षुब्ध तरंगों पर उतराता भिखमंगों का दल आया।
>
> —नरेन्द्र

उसने देखा कि इन्हीं कंकालों में से एक जीवित कंकाल उसकी पत्नी अमिता भी है। अमिता ने स्वयं उससे अपने पतन की कहानी कही और उससे अनुरोध किया कि वह उसकी हत्या करके उसे पश्चात्ताप के वृश्चिक-दंशन से सदा के लिए मुक्त कर दे। पर मेजर वसू मनुष्य है। इसलिए वह पिस्तौल की गोली से नहीं प्रत्युत स्नेह से गीले इन शब्दों में उत्तर देता है :

'भावनाओं का बन्दी मैं भी हूँ, मेरी रानी! भोजन मैं भी जूठा नहीं खाता, नहीं खाना चाहता। पर अगर उसी जूठे पर ही जीवन निर्भर हो तो मैं जूठा भी खाऊँगा, अमिते! क्षण क्षण के संकट से बचकर मैंने यह खूब जान लिया है, प्राण, कि जीवन कितना अमूल्य है, कितना अतुल, कितना माहक।' ('जीवन' पृ० ४२)

अब यदि इस कहानी की नैतिक भूमि की तुलना 'अकाल' की नैतिक भूमि से की जाय तो हमें पता चलेगा कि 'अकाल' में लेखक का उद्देश्य मानव-चरित्र का अपकर्ष दिखाना है और 'जीवन' में उसका उत्कर्ष। यदि ऐसी बात न होती तो अफ़सर वसू के छुट्टी लेकर घर आने पर 'जीवन' की कहानी कुछ और ही ढंग से चलती। वसू अमिता की इतनी खोज न करता। यह जान लेने पर कि वह ससुर का घर छोड़कर अन्यत्र चली गयी है, वह अन्य स्त्रियों को शरीर के व्यवसाय में लग्न देखकर अमिता के सबंध में भी वैसा ही कुछ अनुमान कर लेता और उसके बारे में अधिक दिमाग़ न खपाकर यह सोचकर संतोष कर लेता कि मेरे लेखे तो वह मर चुकी। कहानीकार ने यदि परिस्थिति का चित्रण इस प्रकार किया होता तो वह भी 'यथार्थ' से बहुत दूर न

होता ; इससे वसू के चरित्र की निर्ममता भले ही व्यक्त होती, उसकी 'स्वाभाविकता' में कोई कसर न पड़ती। इसके अलावा दूसरी परिस्थिति यह हो सकती थी कि वसू अमिता के मुँह से उसके पतन की कहानी सुनने पर आपे से बाहर हो जाता और उसे गला घोंटकर मार डालता (जैसा कि ओथेलो ने किया) या पिस्तौल से उड़ा देता (जैसा कि इसी प्रकार की विषम स्थितियों में आजकल के 'यथार्थवादी' करते हैं !) यदि घटनाओं का ऐसा चित्रण होता तो उससे नायक वसू का जो चित्र उभरकर सामने आता, वह एक हृदयहीन व्यक्ति का अवश्य होता, लेकिन तब भी उसमें वह भयानक हृदयहीनता न होती जिससे लेखक ने 'अकाल' कहानी में हमारा सामना करा दिया है। अपनी प्रियतमा का सतीत्व बिक्री के लिए हाट में लगा देखकर किसी का क्रोध से अन्धा हो जाना और हत्या जैसा कोई अनर्थ कर बैठना मृत शिशु का भोज लगाने के लिए उस शिशु के पिता और पितामह के परस्पर लड़ने से यदि कम हृदयहीन नहीं तो अधिक स्वाभाविक तो अवश्य है। लेकिन तब भी लेखक ने वैसा चित्रण नहीं किया है क्योंकि इस कहानी में लेखक की दृष्टि मनुष्य की उदात्त वृत्तियों पर है, उसकी मनुष्यता पर है। करुणा और क्षमा उसकी प्रकृत वृत्तियाँ हैं। अशान्त मनःस्थिति में भी उनकी पुकार को अनसुना करना मनुष्य के ऊँचे पद से गिरना होगा ; मन जब उद्भ्रान्त होता है तभी मनुष्यता की परीक्षा भी होती है। इस परीक्षा में असफल व्यक्ति के प्रति करुणा हमारे अंदर जाग सकती है किन्तु उनसे कोई शिक्षा या आदर्श हम नहीं ग्रहण कर सकते। वसू को इस परीक्षा में सफल देखकर और अमिता को अपने करुणा-विगलित स्नेह से अपनाते देखकर हमें मनुष्य के देवत्व का भान होता है और हमारी भावनाओं का उदात्तीकरण होता है और बरबस हमारा ध्यान उस अभागे देश की अगणित अभागी नारियों की ओर चला जाता है और हमारे मन के भीतर यह संकल्प जड़ जमाता है कि उन असहाय, जीवन्मृत स्त्रियों के प्रति उपेक्षा, निरादर, भर्त्सना अथवा घृणा का भाव रखना पशुता होगी ; समाज को भी उन्हें उसी मनुष्यत्व की गरिमा से पुनः अपनाना चाहिए जिसका परिचय वसू ने दिया और यदि समाज ऐसा नहीं करता तो वह स्वयं हेय है, घृणास्पद है। सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम पाते हैं कि जीवन में आस्था उपजानेवाली 'जीवन' कहानी ही संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है और बंगाल के अकाल से अनुप्रेरित कहानियों में ऊँचा स्थान रखती है।

संग्रह की अन्य कहानियाँ भी काफ़ी ऊँचे स्तर की हैं और हमारा विश्वास है कि उनका उचित समादर होगा। 'उलट-फेर' घटना-प्रधान कहानी है और इस दृष्टि से संग्रह की सबसे कमज़ोर कहानी है। कोरे घटना-वैचित्र्य को लेकर चलनेवाली कहानी का आज की कहानीकला अधिक मूल्य नहीं आँकती। 'आत्मरक्षा' अच्छी मनोवैज्ञानिक कहानी है। 'होली' व्यभिचारी नृशंस ताल्लुकेदार से हृतसर्वस्व पति और पिता के प्रति-

शोध की कहानी है। ताल्लुकेदार साहब का नौकर बन्नू एक बारिन ब्याहकर लाता है। बारिन लम्पट ताल्लुकेदार साहब को भा जाती है और वह उस पर 'छापा मारकर बन्नू से उसे छीन लेते हैं। बन्नू खून का घूँट पीकर रह जाता है लेकिन इस काण्ड से अधिक मनोव्यथा उसे नहीं होती क्योंकि बारिन स्वयं उससे विश्वासघात करती है—

'बारिन ने भी उजले चमकते हाथों को अपनी ठुड्डी पकड़ते देखा। वह भी मँगते को भूल गई। दूध-सी सफेद चादर पर उसने मेंहदी-रँगे पाँव धरे।'

बन्नू बारिन को भूलकर ब्याह लाया कनक को। ताल्लुकेदार साहब की जहरीली आँखें कनक पर भी पड़ीं पर कनक पर उनका जादू न चला, जैसा कि बारिन पर चला था। कनक ने घृणा से उनका उत्तर दिया। ताल्लुकेदार साहब के लिए यह असह्य था और उन्होंने कनक को अपने गुण्डों से उड़वा मँगवाया। पतिव्रता कनक ने उनकी उपभोग की सामग्री बनने से इनकार किया और एक दिन अवसर पाकर अपने कमरे से लगे हुए घर के तालाब में कूदकर जान दे दी। थाने की रिपोर्ट में लिखा कुछ और गया। बन्नू का दिल इस बार टूट गया क्योंकि कनक ने उसे सच्चे प्रेम का प्रतिदान दिया था। उसका जीवन दूभर हो गया। पर अब भी ताल्लुकेदार साहब से प्रतिशोध लेने की बात उसके मन में नहीं आती क्योंकि ताल्लुकेदार साहब की अपरिसीम शक्ति के संम्मुख वह अपने को असहाय अनुभव करता है। वह बिसूरता रहता है। पर प्रतिशोध के पथ पर ला खड़ा करती है ताल्लुकेदार साहब के हाथों उसके और उसकी प्रियतमा कनक के पुत्र रामू की हत्या। यह आग से भरी हुई घटना उसकी सारी निर्बलताओं को जलाकर राख कर देती है और वह ताल्लुकेदार साहब से प्रतिशोध लेने का सङ्कल्प करता है। एक दिन होली के अवसर पर मौका पाकर वह ताल्लुकेदार साहब और उनके साथी दोस्त-मुसाहब, हवाली-मवाली को महल के भीतर बन्द कर देता है और महल में आग लगा देता है। अन्तिम दृश्य बड़े उत्साह के साथ चित्रित किया गया है। देखिए—

'सहसा दिन की भाँति उजाला हो गया। कस्बा चमक उठा। लोग बाहर निकले। देखा महल धाँय-धाँय जल रहा है। लपटें आसमान चूम रही हैं। राजा साहब और उनके दोस्त चीख-चिल्ला रहे हैं। नीचे जाने की उन्होंने कोशिश की पर जीने का दरवाजा बन्द मिला। एक बार छज्जे पर आकर कूदने की सोची, हिम्मत न पड़ी। भीतर लौट गये, चीखते-चिल्लाते।

लोगों की भीड़ जमा थी। सब तमाशा देख रहे थे। पिछले दिन की होली ठंढी हो रही थी, इस रात की गरम। एक कोने में लाठी पर बगल का भार डाले बन्नू अंग-अंग से प्रसन्न खड़ा था और देखता था वह उन लपटों के पीछे अपनी कनक की गोद में उचकते प्यारे बच्चे को।'

नवपरिणीता बारिन और प्रियतमा कनक के हर्त्ता से प्रतिशोध लेने के लिए तो वह अपने में साहस न जुटा सका, किन्तु अपने पुत्र और कनक की स्मृति तथा धरोहर रामू के हत्यारे के विनाश का संकल्प करने में उसे अधिक समय न लगा। 'होली' अच्छी कहानी है, इसमें केवल एक बात अस्वाभाविक-सी जान पड़ती है—रामू की हत्या। बन्नू से चा की ट्रे गिर गयी है और चा के बर्तन टूट गये हैं, इसके दण्डस्वरूप ताल्लुकेदार साहब का रामू को चा के बर्तन की ही भाँति 'तोड़' डालना अस्वाभाविक जान पड़ता है। ताल्लुकेदार साहब ने अगर नशे की हालत में यह बात की होती तो इसमें कोई अस्वाभाविकता न होती, लेकिन होश रहते हुए कदाचित् नृशंस से नृशंस व्यक्ति इतने तुच्छ अपराध के लिए इतना भयानक दण्ड नहीं दे सकता। इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता। लेकिन जवाब में अच्छी तरह कहा जा सकता है कि आज की दुनिया में ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं जिन पर सहसा विश्वास नहीं होता।

'सदाचार का वज़न' व्यंग्यात्मक कहानी है जिसमें परिस्थितियों के भँवर में पड़े हुए एक पण्डितजी के पतन की, जो अपने सदाचार की डींग हाँका करते थे, कहानी रस ले-लेकर सुनाई गई है। उनका सर्वदिक् चारित्रिक पतन हममें करुणा के स्थान पर जुगुप्सा और परिहास का संचार करता है।

'मौत की खोज' कहानी न होकर एक स्केच-सा हो गया है जिसमें यह नहीं पता चलता कि कहानीकार मार्क्सवाद के किताबी आचार्य पर फबती कसना चाहता है या 'मौत की खोज में' चलनेवाले मुसाफिर की दरिद्रता का करुण चित्र प्रस्तुत करना चाहता है। यह कहानी की बड़ी कमजोरी है।

'पेंच' एक समस्या-कहानी है। समस्या है 'मातृत्व का अधिकांश आदतों और परिस्थितियों से बना है। बच्चे पर स्नेह माँ का कुछ तो अपने खून के असर से होता है, पर अधिक उसके साथ रहने से, शिशु की लाचारी हालत से और उसके बड़े होकर बुढ़ापे में माँ की परवरिश करने की उम्मीद से। हिन्दुओं में अधिकतर पिता इस कारण भी बेटे को प्यार करता है कि वह बहिश्त पहुँचायेगा, उसके सात पुश्त को तारेगा। माँ का स्वाभाविक प्यार कुछ जोर नहीं रखता।' इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विनियोग किया गया है जिससे सिद्धान्त भले ही प्रतिपादित हो जाय, कहानी की मनोवैज्ञानिक मार्मिकता अवश्य नष्ट हो जाती है।

कहानीकार के पास कथावस्तु का, भावनाओं का, बहुत ऐश्वर्य है पर उसके अनुरूप कलागत सौष्ठव का किंचित् अभाव है जिसका परिणाम यह होता है कि उपाध्यायजी की भाव-सम्पदा कई स्थलों पर कहानी के साँचे को तोड़ देती है।

सितम्बर '४५]

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'गिरती दीवारें'

भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' ने इधर लोगों का ध्यान अपनी ओर काफ़ी खींचा है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की कहानी का मूलसूत्र बहुत सरल और स्पष्ट है। बानापुर (अवध) के ताल्लुक़ेदार रामनाथ तिवारी के तीन लड़के हैं—दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ। पण्डित रामनाथ तिवारी पुरानी वज़ा-क़ता के आदमी हैं और समाज के बारे में, सामाजिक सम्बन्धों के बारे में, पिता-पुत्र के सम्बन्ध के बारे में, ज़मींदार और उसकी प्रजा के सम्बन्ध के बारे में, अंग्रेज़ और उनकी हिन्दुस्तानी रिआया के सम्बन्ध के बारे में, बलवान् और निर्बल के सम्बन्ध के बारे में, ग़रीब और अमीर के सम्बन्ध के बारे में उनके विचार पुराने, सामंतशाही ढंग के हैं। जीवन के हर क्षेत्र में वह अधिकार भावना के पुजारी हैं। उनकी बात न मानने के ही कारण वे अपने बड़े लड़के दयानाथ को घर से निकाल देते हैं। इतना ही नहीं, रामनाथ के नीतिशास्त्र में यह भी लिखा है कि ज़मींदार को इस बात का हक़ है कि वह अपने लठैतों के ज़ोर से गाँववालों पर राज करे।

पण्डित रामनाथ एक सबल व्यक्तित्व के आदमी हैं। उनके विचार सही हों, ग़लत हों, इससे बहस नहीं, महत्त्व की बात केवल यह है कि वे विचार उनके रग और रेशे का हिस्सा बन गये हैं और उन्हें मज़बूती से पकड़े हुए वे अपनी जगह पर अडिग हैं। मगर मुश्किल की बात तो यह है कि दुनिया आगे बढ़ गई है, केवल पण्डित रामनाथ अपनी जगह पर खड़े हुए हैं। उनका बड़ा लड़का कांग्रेस में शरीक हो जाता है। उनका मँझला लड़का भगवती बाबू की व्याख्या के अनुसार 'कम्युनिस्ट' हो जाता है (वह असलियत में क्या है, इसके बारे में हम आखिर में कुछ कहेंगे) और छोटा लड़का प्रभानाथ आतंकवादी हो जाता है। ग़रज तीनों ही उन्हें वहीं छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। उनके जीवन की दलील उनका दर्प-स्फीत अहं है, निरा अहं। उसे छोड़कर उनके चरित्र में जो कुछ है, वह अतिसामान्य है। असामान्य अगर कुछ है तो अहम्मन्यता। शेक्सपियर का एक नायक है कोरियोलेनस। पण्डित रामनाथ कोरियोलेनस का बौना रूप हैं, उसकी अत्यंत क्षीण प्रतिकृति। उतना साहस और दर्प भी उनमें नहीं है; पर तो भी वे निष्ठावान् पुरुष हैं, अपनी नैतिक मान्यताओं के प्रति उनकी एकांत निष्ठा है। निष्ठा ही शायद मुख्य चीज़ है। किसके प्रति निष्ठा, यह प्रश्न बाद में आता है और उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। आमूल दोषपूर्ण, सर्वथा भ्रान्त नैतिक आदर्शों में विश्वास

रखने के बावजूद उनको पाठक की दृष्टि में गौरव का पद मिलता है, इससे निष्कर्ष निकलता है कि चरित्रबल ही मुख्य है, चाहे वह चरित्रबल अनयमूलक ही क्यों न हो। मगर हम समझते हैं कि इस निष्ठा के मूल में असत् है, इसीलिए पण्डित रामनाथ के प्रति मन में न तो आदर-भाव जागता है और न उनके विपत्तिकाल में उनके प्रति गहरी सहानुभूति ही। भयमिश्रित आदर का संचार वह चरित्र अवश्य करता है। पर जो भी हो, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का सबसे सबल चरित्र, उसका नायक वही है और उपन्यास में अगर जान है तो पण्डित रामनाथ तिवारी के कारण।

उपन्यास में अगर किसी राजनैतिक विचारधारा का ज़ोर है तो वह है आतंकवाद : व्यक्तिवादी विद्रोह की चरम निष्पत्ति। भगवती बाबू ने दयानाथ, मार्कण्डेय मिश्र और उनके पिता झगड़ू मिश्र के चरित्रों द्वारा और मार्कण्डेय मिश्र के गांधीवादी उपगुत जैसे प्रवचनों द्वारा गाँधीवादी जीवन-दर्शन को सिंहासनारूढ़ कराने की, उसे मान दिलाने की बहुत कोशिश की, मगर वह विचारधारा एक ऐसे दलदल में फँसकर रह जाती है कि भगवती बाबू का अथक परिश्रम भी उसे वहाँ से नहीं हिला पाता। मार्कण्डेय बात करने की मशीन है, आदर्श बूकने की। दयानाथ अंत तक अपनी आनुवंशिक हिंसा को जीत नहीं पाता है। और झगड़ू मिश्र जो कदाचित् अहिंसा के आदर्श के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं, उन तक के बारे में कहना कठिन है कि उनकी अहिंसा वीर की अहिंसा थी या कायरता।

मनमोहन, प्रभानाथ और वीणा के रूप में आतंकवाद की अच्छी अवतारणा की गयी है। श्रीकान्त के इन्द्रनाथ की तरह इस उपन्यास में मनमोहन थोड़ी ही देर के लिए आता है पर इतनी देर में वह सर्वत्र अपने जीवन की सुरभि बिखेर जाता है। वह वीर की जिन्दगी जिया और वीर की मौत मरा। मनमोहन के रूप में भगवती बाबू ने हरिप्रसन्न और दादा कामरेड जैसे आतंकवादी दादाओं की गैलरी में एक इज़ाफ़ा कर दिया। उपन्यास-भर में सबसे अधिक आकर्षक चरित्र कदाचित् मनमोहन का ही है। ध्यान देने की बात है कि आतंकवादियों का यह नेता मरने के पहले अपने साथी प्रभानाथ से कहता है :—तुम इस क्रांतिकारी दल को छोड़ दो। यह बड़ा ग़लत रास्ता है, यह रास्ता उन लोगों के लिए है जो निराश हो चुके हैं। × × × × × मैं मर रहा हूँ प्रभा, और मैं कहता हूँ—अपने सारे अनुभवों को लेकर कहता हूँ कि यह ग़लत मार्ग है।

मार्ग चाहे कितना ही ग़लत हो, ये कुर्बानियाँ, यह जाँबाज़ी यकता है जिसने आजादी की लड़ाई को आगे बढ़ाया है।

पर इसी जगह पर भगवती बाबू ने इतिहास को ठेलकर उसके स्थान पर अपने

अन्धे द्वेष को प्रतिष्ठित कर दिया है। भारतीय आतंकवाद का इतिहास बतलाता है कि आतंकवादियों के बहुत बड़े भाग ने उस मार्ग की विफलता का बोध हो जाने पर साम्य-वाद और सामाजिक जनक्रान्ति का मार्ग अपनाया। यह एक इतिहास द्वारा समर्थित तथ्य है और कोई भी आसानी से इसका झूठ-सच पता लगा सकता है।

जिस जीवन और समाज-दर्शन में इन वीर हुतात्माओं को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता है, भगवती बाबू ने उसकी खिल्ली उड़ाने का प्रयत्न करके स्वयं अपने आपको उपहासास्पद बना लिया है। उन्होंने उमानाथ, मारिसन आदि को रूढ़िवादी उपन्यासों के खल नायक के रूप में चित्रित किया है और इस चित्र को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए एक-से-एक अस्वाभाविक और भित्तिहीन प्रसंगों की उद्भावना की है। लेखक ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि कहीं कोई बात छूट न जाय। मारिसन का बिल्ली-वाला प्रकरण, वह अनोखा ब्लैकमेल, उमानाथ का महालक्ष्मी के रहते हिल्डा से विवाह, विवाह की नैतिकता के बारे में उसके विचार, महालक्ष्मी जैसी नारी का उसका तिरस्कार, उमानाथ का महालक्ष्मी को मारिसन के सामने दिखलाने के लिए ले जाना, उमानाथ और ब्रह्मदत्त का शराब पीने का दृश्य, उमानाथ का पकड़ जाने के डर से खुफिया को घूस देना, भागना, मारिसन की वेदचर्चा, ब्रह्मदत्त का बीमारी का बहाना आदि अनेक बातें हैं, जिनसे यह पता चलता है कि लेखक इस बात के लिए पूरा यत्न कर रहा है कि इन तथाकथित कम्युनिस्ट पात्रों के बारे में पाठक की अधिक-से-अधिक घृणा जगाई जाय। अपने इस यत्न की धुन में उसे संभाव्यता-असंभाव्यता, झूठ-सच किसी बात की चिन्ता नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारा तो यह कहना है कि अगर पण्डित रामनाथ तिवारी के तीन लड़के न होकर दो ही लड़के होते और उमानाथ अपने जन्म देनेवाले की कोख में ही मर जाता तो इससे उपन्यास की कला में वृद्धि ही होती। चूँकि मूल कहानी के विकास में उमानाथ और उसके साथियों का कुछ खास स्थान नहीं है, इस-लिए लेखक कथा के प्रवाह में स्वभावतः इन लोगों को भूल जाता है और कई परिच्छेद तक भूला रहता है, (बीच में) फिर उसे यकायक ध्यान आता है कि उमानाथ को तो मैं भूल ही गया, और तब वह फिर किसी नई कुत्सा की सृष्टि करके उसे याद कर लेता है। अन्त में पहुँचते-पहुँचते तो लेखक उमानाथ का इस्तेमाल प्रभानाथ का चरित्र उभारने के लिए करने लगता है—उमानाथ के हीन चरित्र (उसकी आत्यंतिक कायरता आदि) के काले पर्दे पर प्रभानाथ का जाज्वल्यमान चरित्र अपनी समस्त वीरता के साथ और भी दीप्त हो उठता है। इस तोड़-मरोड़ ने उपन्यास को चौपट कर दिया है।

दूसरा उपन्यास जिसकी चर्चा हम इस वक्त करना चाहते हैं, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' है।

आइए, पहले हम उसकी कहानी को ही लें। सच पूछिए तो छः सौ पन्नों के इस उपन्यास में कहानी बहुत थोड़ी-सी है। मुख्य कहानी को हम तर्कशास्त्र की दो स्थापनाओं syllogism के रूप में यों कह सकते हैं :—

चेतन (चेतन उपन्यास का नायक है) का अपने पिता के कारण विवश होकर एक ऐसी लड़की (चन्दा) से शादी करनी पड़ती है जिसे कि वह बिलकुल नहीं चाहता, जिसके रंग-रूप से प्रथम दर्शन में ही उसे वितृष्णा हो गई थी।

चेतन उस लड़की (नीला) से विवाह नहीं कर पाता जिसने कि प्रथम दर्शन में ही उसका मन मोह लिया था।

निष्कर्ष : आकांक्षाओं का हनन, जीवन का सर्वनाश। नीला, प्रकाशो, मन्नी के प्रकरण चेतन की यौन अतृप्ति दरसाने के लिए ही लाये गये हैं।

मुख्य कहानी इतने से ही समाप्त हो जाती है। यह कहानी विकास भी नहीं करती। घटनाएँ कहानी को आगे बढ़ाने के लिए नहीं आतीं, स्थापना के समर्थन लिए आती हैं, एक तरह से उसे illustrate करने के लिए। पाठक को मालूम होता है कि चेतन कभी चन्दा को प्यार नहीं कर पाया, स्त्री पुरुष का उनका सम्बन्ध भी पशुओं जैसा ही रहा। यह पहली स्थापना का समर्थन है। दूसरी स्थापना का समर्थन यह है कि जब एक बार वह अपनी ससुराल जाने पर बीमार पड़ जाता है तो अपनी सेवा-शुश्रूषा के लिए तैनात अपनी साली और मानसप्रेयसी नीला के प्रति उसकी दमित इच्छाएँ अवसर पाकर उभर आती हैं—शेक्सपीरियन ट्रैजेडी की भाषा में यही नायक चेतन के चरित्र का वह tragic flaw है, जो कहानी के अन्त को पहले से ही निश्चित कर देता है। यह एक भोला-भोला-सा प्रेम कहानी है, बहुत कुछ बचकाना-सी, जैसी शायद सभी की ज़िन्दगी में कभी-न-कभी किसी-न-किसी रूप में आता है। मगर उसके मूल में गहरी अतृप्त वासना बैठी हुई है। चेतन जीवन-भर उसको पाने की साध या न पाने की व्यथा मन में लिये रहता है। उचित ही, कहानी का अन्त नीला की एक अयोग्य वर के संग शादी से होता है, जो चेतन के अस्फुट प्रणय-प्रसंग को एक क्रूर आघात देकर खतम कर देती है। चेतन लौटता है अपनी पत्नी के पास—अपना शरीर लेकर।

इस तरह कहानी की मुख्य समस्या वैवाहिक जीवन की विषमता है। इसके प्रमाण-स्वरूप लेखक तीन चित्र देता है। पहला अपने क्रूर शराबी बाप और गऊ जैसी माँ का विवाह। दूसरा अपना और चन्दा का विवाह। तीसरा रति जैसी नीला और बर्मा के विधुर, गंजे, ४५ वर्षीय मिलिटरी अकाउन्टेंट का विवाह।

इस मूल कथा-भाग में कहीं कोई गति नहीं है।

कहानी में जान लाने के लिए लेखक ने कुछ अप्रधान (गौण नहीं) कथानकों का

समावेश किया है। उसके कारण उपन्यास टेकनीक की दृष्टि से साफ दो टुकड़ों में बँट जाता है। एक तो चेतन, चंदा, नीलावाली मुख्य कहानी, जिसमें कथासूत्र की एकता और संघटनात्मकता है। दूसरे चेतन के दुनियाबी अनुभव, कविराज रामदास के संग शिमला-प्रवास, गाने और कविता और थियेटर के क्षेत्र में उसके कारनामे। इस कथानक का विस्तार, विन्यास आदि Picaresque उपन्यास जैसा है। इस हिस्से को अगर हम ऐडवेंचर्स आफ चेतन कहें तो ज्यादा ठीक होगा। इस खण्ड का प्रधान चरित्र रामदास है, जो पक्का धूर्त है, मगर जिसकी ज़बान में मिस्री घुली हुई है, जो दूसरों से किताब लिखवा-लिखवाकर अपने नाम से छापता है। कविराज रामदास की शकल में चेतन ज़िन्दगी में पहली बार संसार की क्रूर वास्तविकताओं से आँखें चार करता है, इसलिए मुख्य कथानक के लिए महत्त्व न होते हुए भी उपन्यास के लिए उसका महत्त्व है। मगर बैतबाजी और थियेटर के बारे में जो बहुत-से पन्ने लिखे गये हैं, वे स्वतन्त्र रूप में बड़ी बाँकी, नायाब चीजें हैं, अंग्रेज़ी में जिसे delicious reading कहेंगे, मगर उपन्यास के अन्दर उनका कोई महत्त्व नहीं है। थियेटरवाला हिस्सा तो एक बिलकुल दूसरी ही चीज़ है, उपन्यास में खपती नहीं, उसको बनावट (Composition) की एकता को आघात पहुँचाती है और उपन्यास के प्रभाव की सघनता को कम कर देती है। कैमरे का फ़ोकस बिगड़ जाने पर तस्वीर जैसे धुँधली-धुँधली हो जाती है उसी तरह यह अनावश्यक (उपन्यास के लिए, यों अलग से वह अच्छी चीज़ है) प्रकरण आ जाने से उपन्यास का प्रभाव कुछ अजब बिखरा-बिखरा, फीका-फीका, धुँधला-धुँधला, उखड़ा-उखड़ा-सा पड़ता है, नतीजा यह होता है कि आखिर में बस नीला ही नीला रह जाती है और लेखक की व्यापक सामाजिक तस्वीर नहीं उतर पाती। इसी तरह के और भी कुछ छोटे-मोटे अनावश्यक प्रकरण आ गये हैं जो अगर न होते तो उपन्यास और गठ जाता।

अब ज़रा हम 'गिरती दीवारें' की कुछ खास खूबियों पर नज़र डालें।

सबसे बड़ी खूबी यह है कि लेखक ने कहीं भावुकता को नहीं आने दिया है—जो चीज़ जैसी हल्की या गहरी जैसी अनुभव की, बिलकुल वैसी ही, उन्हीं हल्के और गहरे रंगों में चित्रित कर दी। अक्सर लेखक अपने उपन्यास या कहानी को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अपनी अनुभूतियों का तिल का ताड़ बनाते हैं, ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाते हैं और इसी में उपन्यास नास हो जाता है। अश्क ने लगातार अपने को इस चीज़ से बचाया है; इसीलिए 'गिरती दीवारें' में एक ऐसी ताज़गी, एक ऐसी सचाई, एक ऐसा खरापन है जो कम देखने को मिलता है। आजकल जो अनेक उपन्यास निकल रहे हैं उनमें इसी चीज़ की अक्सर कमी रहती है। जहाँ पाठक को मालूम हुआ कि लेखक अपनी सच्ची अनुभूति की बात नहीं कर रहा है, उसकी बात में कुछ बनावट

है; कुछ मिलावट है, वहीं उसका जी करता है कि किताब को घुमाकर दूर कहीं फेंक दे। 'गिरती दीवारें' में यह चीज़ एक जगह भी नहीं है ; इसीलिए उसमें बड़ी ताज़गी है। मेरी नज़र में इस उपन्यास की यही सबसे बड़ी ख़ूबी है।

उपन्यास की दूसरी बड़ी ख़ूबी यह है कि इसमें जीवन और समाज के मसले पर लंबी-लंबी तक़रीरें नहीं हैं। आजकल कुछ सालों से, हिन्दी में यह रिवाज चल पड़ा है कि लेखक अपने किसी खास चहेते पात्र के मुँह में राजनीति, समाजनीति और दर्शन की गंभीर-गंभीर बातें रख देता है और यह हज़रत बोलनेवाली मशीन की तरह आठ-आठ और दस-दस पन्नें तक मामूली बातचीत के दौरान में बोलते चले जाते हैं और लेखक महोदय को इसमें कहीं कुछ अस्वाभाविक नहीं लगता। 'गिरती दीवारें' इस भयानक रोग से भी बिलकुल मुक्त है। इसमें जो बातचीत है वह बिलकुल स्वाभाविक है और लेखक ने जीवन और समाज के बारे में जो निष्कर्ष निकाले हैं, जिन तथ्यों की ओर पाठक के मन को फेरने की कोशिश की है, वे घटनाओं के माध्यम से सामने आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लेखक ने आर्यसमाजी व्याख्यान-दाता की शैली न अपनाकर (जैसा कि आजकल आमतौर पर हो रहा है) चित्रकार की शैली अपनाई है। एक उदाहरण से सारी बात साफ हो जायगी। लेखक को यह दिखलाना अभीष्ट है कि अमीर और गरीब की सामाजिक स्थिति में जो विषमता आज के समाज में है उसकी जड़ें बहुत अन्दर तक चली गयी हैं और उसे निकाल फेंकना आसान काम न होगा। इस बात को वह 'समाजवादी' नारों से लदी हुई दस पन्नों की एक तक़रीर में न बताकर एक सरल-सी घटना के ज़रिये बतला देता है। शिमला में चेतन एक रोज़ कविराज रामदास के नौकर यादराम को अपने होटल में खाना खिलाने के लिए ले जाता है। अब वह छ हाथ का लंबा-तगड़ा आदमी, ज़ाहिर है कि उसकी ख़ूराक ज़नाने-से चेतन जैसी न होगी। वह भरपेट खाना खाता है, होटल का सारा खाना खत्म हो जाता है और तब भी उसकी भूख नहीं मिटती। इस पर होटल-मालिक जिन शब्दों में यादराम की सामाजिक स्थिति की ओर लक्ष्य करके उसका उपहास करता है, उसे अपमानित करता है, उससे पूँजीवादी समाज में आर्थिक विषमता की जो पहेली है, उसका पूरा क्रूर, दर्दनाक चित्र आँखों के सामने आ जाता है।

उपन्यास की तीसरी ख़ूबी उसका शिष्ट स्मित हास्य है—शब्दों का हास्य या व्यंग्य नहीं, परिस्थिति-मूलक हास्य, जैसे धुरंधर बैतबाज़ों के बीच में चेतन साहब, ग्यारह बजे रात को भरी सभा में चेतन साहब का अपने एक परमसंगीत-विशारद मित्र के संग भैरवी का डुएट, 'अनारकली' नाटक में कनीज़ ज़ाफ़रान की भूमिका में चेतन साहब का चश्मा लगाये हुए स्टेज पर आना और बेख़बरी के साथ अपना पूरा पार्ट अदा करना,

स्टेज पर आकर डाइरेक्टर का उनकी आँख पर से चश्मा उतारना। सुथरे हास्य के ऐसे कई स्थल मिल जायँगे।

उपन्यास की चौथी और बहुत बड़ी खूबी उसकी प्रवाहमयी, मुहावरेदार, साफ़-सुथरी भाषा है, जिसमें भावों का रंग बखूबी उतार देने की क्षमता है।

इतनी बात कह देने के बाद ग़ालिबन यह कहने की ज़रूरत नहीं रह जाती कि इधर जो उपन्यास निकले हैं, उनमें 'गिरती दीवारें' एक बहुत खास कृति है और इसी रूप में उसका स्वागत होगा, यह भी निश्चित है।

मगर यह कहना ज़रूरी है कि किसी वजह से यह उपन्यास उस ऊँचाई को नहीं पहुँचता जहाँ यह कहा जा सके कि साहब, यह बहुत बुलंद पाये की तसनीफ़ है। इसकी वजह मेरी समझ में उपन्यास में एक खास तरह की कमजोरी है जिसका कारण शायद स्वयं कथावस्तु की कमज़ोरी है। रोज़ की ज़िंदगी की घटनाओं तक ही उसने अपने आपको सीमित कर लिया—उसके काफ़ी अन्दर पैठने, उसकी गहराइयों में उतरने की उसने शायद ज़रूरत नहीं समझी। अपनी सीधी (सीधी शब्द पर ज़ोर है) अनुभूति का ही सहारा लेने की जो शर्त उसने अपने सामने रखी मालूम होती है, उसी ने उसको बंदी बना लिया।

सन् ४७]

माटी की मूरतें

'भद्रलोक' काफी दिनों से माटी की मूरतों की उपेक्षा करते आ रहे हैं, बावजूद इसके कि बेनीपुरी जी के शब्दों में 'इन कुरूप, बदशकल मूरतों में भी एक चीज़ है XXX वह है ज़िन्दगी।' आज तक वह उनकी ओर से आँख मूँदे रहने में ही अपनी शान समझते रहे हैं। मगर ज़माने की रफ्तार के साथ-साथ सारहीन आभिजात्य का उनका यह नशा उतरने लगा है। यही कारण है कि कोई (कुछ कुंभकर्णों को छोड़कर) अब इन माटी की मूरतों पर नाक-भौं नहीं सिकोड़ सकता। गँवई-गाँव के इन अनपढ़ लोगों, डोम-दुसाधों तक में इतनी जीवनी-शक्ति हो सकती है कि उनके बारे में भद्रसमाज को कुछ बोलने की आवश्यकता पड़े, यह बात साहित्य के पुराने पारखियों की अक्ल में नहीं धँसती। इसीलिए जहाँ बड़े-बड़े नेताओं और 'बड़े बड़े लोगों' के अनेक संस्मरण और रेखा-चित्र हमें अपने साहित्य में मिल जायँगे, वहाँ इन सामान्य लोगों की कोई पूछ नहीं है। पर 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि ने साहित्य के इस अभाव की पूर्ति की। 'माटी की मूरतें'* भी उसी अंग को पुष्ट करता है।

बेनीपुरीजी ने हिन्दी साहित्य-देवी के चौरे पर ग्यारह माटी की मूरतें स्थापित की हैं। उनका थोड़ा-सा परिचय आवश्यक है।

सबसे पहले हमारा परिचय बुधिया से होता है। उसकी तीन झाँकियाँ हमें मिलती हैं—नन्हीं-सी छोकरी बुधिया, सलोनी-सी, रूपगर्विता, युवती बुधिया और अन्त में अधेड़ बुधिया जो कई बच्चों की माँ बन चुकी है, इसी क्रिया में जिसकी 'देह बरबाद' हो गयी है। बुधिया के चित्र से अनायास उसकी बहन गुनिया (शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'गुनिया'-शीर्षक कविता देखिए) का चित्र आँखों के सामने आ जाता है। मगर एक थोड़े-से अन्तर के साथ जो कि एक बहुत बड़ा अन्तर भी है। गुनिया का कवि गुनिया का रूप और यौवन ढल जाने पर दुखी है, इस बात पर दुखी कि दुष्ट काल ने रूप और यौवन की इस अनुपम राशि को धूल कर दिया। मगर बुधिया का लेखक बुधिया के रूप-परिवर्तन पर खिन्न नहीं है। उसका खयाल है कि अपना रूप और यौवन देकर

---

* माटी की मूरतें : लेखक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। प्रकाशक पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय, मूल्य तीन रुपये।

भी उसने सौदा ठीक ही किया है। उसकी देह बरबाद हुई तो हुई, मगर उसे मातृत्व तो मिला—'बंदनीय, अर्चनीय !'

बलदेव सिंह सामंतशाही युग के अवशेष हैं, दर्प की मात्रा उनमें कम नहीं, मगर अपनी आन पर वे मर मिटने को सदा तैयार रहते हैं, बात के धनी। गरीब और असहाय का पक्ष लेकर लड़नेवाले। ठकुरैती शान के निर्वाह के लिए सभी कुछ कर सकते हैं। मगर निर्बल व्यक्ति की सहायता करने के पीछे यह भाव कम है कि यद्यपि वह निर्बल है तथापि नैतिक रूप से उसका पक्ष प्रबल है, इसलिए उसकी ओर से लड़कर मैं सत्य के लिए लड़ रहा हूँ या अपने कर्तव्य की पूर्तिमात्र कर रहा हूँ। असल में उसके पीछे यह भाव अधिक है कि वह मेरा शरणागत है, अब उस पर जो हाथ उठाता है वह मुझको चुनौती देता है, मेरे पौरुष को ! मगर जो भी हो, चरित्र की यह एक ऐसी सम्पदा है जो उस युग की स्मृति को मरने नहीं देती। बलदेव सिंह प्रसादजी के 'गुण्डा' के वंशज हैं। एक गरीब विधवा को बहन पुकारकर उन्होंने अपनी शरण में लिया और फिर उसी के न्यायपूर्ण अधिकार की प्रतिष्ठा के लिए लड़ते हुए, दुश्मनों द्वारा धोखे से मार डाले गये।

मंगर भी एक व्यक्ति नहीं, 'टाइप' है। बहुत कुछ गोदान के होरी के समान।

सरजू भैया का परिचय देते हुए स्वयं उनके बारे में कुछ कहना जरूरी नहीं। इतना कहना काफी है कि दुनिया बहुत खराब है।

'भौजी' में गाँव की गृहस्थी का चित्र है। पूरी समाज-व्यवस्था (जिसमें पारिवारिक व्यवस्था भी है) इतनी सड़ गयी है कि उसमें फँसकर मनुष्य अपना मनुष्यत्व खोता ही है, अनिवार्यतः सामाजिक परिवेश का ऐसा प्रभाव है। अच्छे-भले स्वभाव की भौजी कलहप्रिया हो जाती है।

देव देशभक्ति, आत्मोत्सर्ग और वीरता की मूर्ति है। जहाँ तक वीरता और साहस का सम्बन्ध है, बलदेव और देव सहोदर हैं। मगर दोनों में अन्तर यह है कि जो चीज बलदेव में सामन्ती दर्प है, अपनी दुर्जय शक्ति का अभिमान, वही देव में आकर आत्मोत्सर्ग हो गयी है—देश और स्वाधीनता के लिए अपना उत्सर्ग। देव जैसे ही लोगों की तपस्या का यह फल है कि कांग्रेस की आज इतनी शक्ति और प्रतिष्ठा है : मगर कौन नहीं जानता कि वे ही लोग सबसे अधिक उपेक्षित भी रहते हैं—नेताओं की दृष्टि में निरे बलि के बकरे !

बालगोबिन भगत 'स्मृति की रेखाएँ' के ठकुरी बाबा के भाई जान पड़ते हैं।

परमेसर आवारा है। संसार के दुःखों और चिंताओं का सामना वह अपनी हँसमुख, मस्तमौला आवारागर्दी की ढाल से करता है।

रूपा की आजी लोगों के अन्धविश्वासों, उनके अज्ञान, उनके शक्कीपन और उनकी हृदयहीनता का शिकार बनती है।

बैजू मामा की ज़िन्दगी के इतने साल जेल में बीते हैं और उन्हें वहाँ रहने में इतनी सहूलियत मालूम होती है कि अब उन्हें बाहर रहना अच्छा ही नहीं लगता, जेल की प्राचीरों से उन्हें मोह हो गया है। शायद इसलिए कि वहाँ पर पहुँचकर व्यक्ति हर प्रकार के दायित्व से मुक्त हो जाता है।

सुभान दादा की तसवीर मन को बहुत भरोसा देनेवाली है—आज के गृह-युद्ध की विभीषिका में। सुलझी हुई बुद्धि के सबल व्यक्ति हैं सुभान दादा, दंगा उकसानेवालों के खिलाफ प्राणपण से सचेष्ट।

सभी चित्र बहुत स्वाभाविक हैं। बनावट नहीं है। इस पुस्तक में बेनीपुरीजी की शैली में भी अधिक गाम्भीर्य मिलता है। भावनाओं को उभाड़ने के लिए भारी भरकम, अत्यधिक चटकीली-मटकीली-भड़कीली शब्दावली और ढेरों उद्गार-चिह्नों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है जिसके फलस्वरूप पुस्तक में हलकापन नहीं आने पाया।

मई '४७]

सांप्रदायिक गुण्डागिरी बनाम जनता का संयुक्त मोर्चा

श्री तेजबहादुर चौधरी की ख्याति बहुत नहीं है। मगर उनकी कहानियाँ जिन लोगों ने पढ़ी हैं वे उनकी प्रतिभा की गंभीर मौलिकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। 'दिलों में जगह चाहिए', 'लाले' आदि उनकी कई कहानियों से हंस के पाठक तो परिचित हैं ही। अन्य पत्रों में इस प्रतिभाशाली लेखक ने कम ही लिखा है। उसका कोई कहानी-संग्रह भी हमारे सामने नहीं है।

इस समय तो हमारे सामने लेखक का एक लघु उपन्यास 'कौम के नाम पर'* है। पुस्तक में साम्प्रदायिक वैमनस्य की कहानी है। इस उपन्यास में भी लेखक की कहानियों का सामान्य गुण विद्यमान है—पात्रों का जीता-जागता चित्रण और वातावरण खड़ा कर देना। इस कार्य को सफलतापूर्वक करना कितना कठिन है, इसका परिचय पाना हो तो आये-दिन निकलनेवाले अधिकांश उपन्यास और कहानियाँ पढ़ देखिए, बल्कि मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आपको ख्यातिप्राप्त कई लेखकों की ऐसी कई रचनाएँ मिल जायेंगी जिनके पात्रों में बिलकुल जान नहीं है, बिलकुल ठस, बिलकुल निर्जीव। श्री तेजबहादुर के पात्रों का जीता-जागता रूप बहुत कुछ हमारी आँखों के आगे आ जाता है, इससे पता चलता है कि लेखक में अनूठी प्रतिभा है। उसके साथ ही साथ उसकी सूक्ष्म वर्णनशैली, अन्तर्दर्शी चरित्रचित्रण, वास्तविक जीवन-जैसा कथोपकथन, देशी बोलचाल पर उसके अधिकार (जिसका सहायता से ही वह मुख्यतया अपनी कहानी का वातावरण तैयार करता है) आदि से पता चलता है कि लेखक में प्रतिभा के साथ अध्यवसाय का भी योग है। अर्थात् वह निरी अपनी कल्पनाशक्ति के ही बिरते पर नहीं लिखता, बल्कि कथावस्तु के संग्रह और चरित्रों के अध्ययन के लिए परिश्रम भी करता है, जिस जीवन से संबद्ध उसकी कहानी होती है उसे अच्छी तरह जानने और समझने के लिए वह अपना समय और शक्ति व्यय करता है। हमारे कुछ अहम्मन्य लेखकों की भाँति वह अपने आपको विधाता नहीं समझता, जिसके लिए कोई बात नई नहीं है,

* 'कौम के नाम पर', लघु उपन्यास, लेखक : श्री तेजबहादुर चौधरी, प्रकाशक : हिन्दी-ज्ञानमंदिर, चर्चगेट स्ट्रीट, फोर्ट, बंबई ; एक सौ बारह पृष्ठों की किताब का पौने दो रुपया मूल्य जरा ज्यादा है। गेट-अप सामान्य।

जो पहले से ही सब कुछ जानता है, जिसे नया कुछ जानना है ही नहीं। ऐसे लोगों ने बड़ी मुसीबत ढा रखी है।

प्रस्तुत उपन्यास में वे सभी गुण हैं जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है। उन्हीं के कारण उपन्यास में हृदयग्राहिता मिलती है। मगर उपन्यास में एक बहुत बड़ी कमजोरी हमको मिलती है जिसके कारण रसपरिपाक और सामाजिक उपादेयता दोनों ही दृष्टियों से उपन्यास का मूल्य कम हो गया है।

पूरे उपन्यास में हिन्दू भेड़ के रूप में चित्रित हैं, मुसलमान भेड़िये द्वारा खा लिये जाने की आशका से सन्त्रस्त। उनमें साहस का या आत्म-विश्वास का सर्वथा अभाव है। उन्हें केवल अपने जीवन की भिक्षा माँगना आता है। मुसलमान नूरुद्दीन और नियाजी की तरह अच्छे भी हैं और शब्बीरा व अबदुस्समद की तरह क्रूर और पैशाचिक भी; इस बात में एक स्वाभाविकता है। पर इसके विपरीत गाँव के हिन्दुओं का कहीं अपने जीवन और सम्मान की रक्षा के लिए कुछ न करना और बिल्ली के डर से दड़बे में घुसकर बैठनेवाले कबूतर की तरह नूरुद्दीन और नियाजी के यहाँ जा छुपना एक बिलकुल अस्वाभाविक बात है। इस बात की अस्वाभाविकता को बढ़ानेवाली कुछ बातें स्वयं कथानक में सन्निहित हैं।

नंबर एक, गाँव में हिन्दुओं की संख्या बहुत कम नहीं है।

नम्बर दो, गाँव के मुसलमान हिन्दुओं पर आक्रमण करनेवाले नहीं हैं। इस बात के तीन प्रमाण हैं। लेखक बतलाता है कि नियाजअली गाँव के अकेले लीगी थे। हिन्दुओं को मारो-काटो, मुसलमान बनाओ, उनकी बहू-बेटियों की अस्मत लूटो का नारा उनकी ओर से या गाँव के अन्य किसी व्यक्ति अथवा राजनीतिक दल की ओर से उठता है इसका हमें कोई पता नहीं।

लिहाजा हम यह मानने के लिए विवश हैं—और आगे चलकर कथानक हमारे अनुमान को सत्य प्रमाणित करता है—कि स्वयं गाँव में वह जहरीली हवा नहीं फैली थी। नसीरपुर गाँव के जमींदार अबदुस्समद अलबत्ता इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थे कि जो चीज उन्होंने अपने गाँव में कराई वही यहाँ पर भी हो। मगर उनकी विचारधारा को इस गाँव में किसी की ओर से समर्थन नहीं मिलता, यहाँ तक कि स्वयं नियाजअली जिसको वह छूरे और भाले आदि और उसके साथ में हिन्दुओं की मार-काट शुरू करने का सँदेसा भेजते हैं, उनसे प्रभावित नहीं होता, मार-काट की ओर से उसका मन बुरी तरह विरक्त है और वह अन्त तक उन हथियारों को बाँटता नहीं, जैसा कि उसे आदेश मिला था।

इसके अलावा गाँव के अन्य मुसलमानों के मनोभावों का भी जो परिचय लेखक

देता है उससे यह बात साफ हो जाती है कि उस गाँव के मुसलमान न केवल अपने पड़ोसी हिन्दुओं को मारने-काटने की ओर से बिलकुल विरक्त हैं, बल्कि वे इस बात के लिए भी तैयार हैं कि बाहरवाले अगर इस नापाक इरादे से गाँव में आयें तो गाँव के हिन्दू और मुसलमान मिलकर उन्हें मार भगायें। रहमत दर्जी कहता है :

सा'ब, खुदा की कसम खाकर कहता हूँ मैं तो अगर ऐसे ही दस-पाँच दिन और रहना पड़े तो हमारा तो जी गाँव में न लगे। और जैसे कि अब मालूम हुआ है, मौलाना ने बताया कि आज आदमी आवेंगे, उनको गाँव से बाहर ही बाहर रोककर बिदा कर दिया जावे। अगर वे न मानें तो उनकी भी खबर ली जावे। मैं सच कह रहा हूँ, ये भी कोई इन्साफ की बात है कि हम अपने बेकसूर पड़ोसी को मारें ? उनकी बहू-बेटियों की आबरू लें ? उनके घर फूँक दें ?

शुबराती कहता है :

अजी, तुमको नहीं मालूम, ये भैय्या, अंग्रेजों की चालें हैं, जहाँ हिन्दू ज्यादा हैं वहाँ मुसलमानों को मरवा दिया और जहाँ मुसलमान ज्यादा हैं वहाँ हिन्दुओं को मरवा दिया और आप मजा ले रहे हैं ! कल अखबार में जाने कौन पढ़ रहा था कि जब तक अंग्रेज हिन्दुस्तान से नहीं निकल जायँगे तब तक ये मार-काट होती रहेगी। असल बेवकूफ तो हम हैं जो लड़ते हैं। आज हमारे हाथ से जो अंग्रेजी सरकार हिन्दुओं का गला कटवा रही है, क्या कल को हमारे गले पर हिन्दुओं से छुरे फिरवाने से रुक जायगी ? हम उसके जमाई थोड़े ही होंगे ? नहीं जी, हम अपने गाँव में ऐसी मार-काट कभी नहीं होने देंगे, चाहे जो हो।

इसी तरह की अनेक उक्तियों का प्रमाण पुस्तक में से दिया जा सकता है। रहमत और शुबराती गाँव की सामान्य मुसलिम जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

और तब यह बात नहीं समझ में आती कि जिस गाँव में इतनी चेतना हो, उसमें हिन्दू और मुसलमान मिलकर अपने गाँव में साम्प्रदायिक शान्ति स्थापित करने की ओर क्यों नहीं उन्मुख होते, उनकी एकता क्यों नहीं गुण्डों का मुँहतोड़ जवाब देती ?

यही उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी है, जिसे घातक भी कहा जाय तो बुरा न होगा। यह अकेली कमजोरी इतनी बड़ी है कि इसने उपन्यास के कई सद्गुणों को बहुत कुछ खा लिया है।

सन् ४७]

*

टिप्पणियाँ

प्रगति की सच्ची पताका...

प्रगतिवाद के नाम पर विष-वमन 'प्रताप' तथा ओंकारशंकरजी के लिए अब एक अत्यन्त साधारण बात हो गई है। सप्ताह में एक बार नहीं तो पखवारे में एक बार प्रगतिवाद को कोसे बिना कदाचित् ओंकारशंकरजी के पेट का पानी नहीं पचता।

अभी 'प्रताप' के 'विक्रमांक' में ओङ्कारशंकरजी का एक लेख प्रकाशित हुआ है— 'प्रगति की झूठी पताका'। इस लेख में ओङ्कारशंकरजी ने हिन्दी साहित्यिकों तथा हिन्दी पाठकों को प्रगतिवाद की ओर से सचेत व सतर्क रहने की सलाह दी है। लेख में उठाये गये तर्कों की शल्यक्रिया करके मैं यह दिखाने का प्रयास करूँगा कि साहित्य के विषय में ओंकारशंकरजी का दिमाग़ साफ़ नहीं है। साहित्य क्या है, यही वे नहीं जानते, इसलिए उनके लिए यह बताना कठिन हो जाता है कि प्रगतिवाद से यदि उन्हें चिढ़ है तो वह किस लिए? किसी मतवाद का विरोध करने के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं—एक तो अपने मत को भली प्रकार जानना, दूसरे प्रतिद्वंद्वी के मत को, जिसका आप खण्डन करने चले हैं, भली प्रकार जानना। इस लेख में दोनों बातों का अभाव है।

'विध्वस के नारे नवयुवकों को सदैव आकर्षित करते रहे हैं।' इस वाक्य से लेख प्रारम्भ होता है। पाठक के मन में स्वभावतः यह आशा बँधती है कि लेखक अब यह बतलायेगा कि 'कोरा विध्वंस कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक कि विध्वंसकारियों के सामने कोई निर्माण की रूपरेखा भी स्पष्ट न हो। प्रगतिवादी केवल विध्वंस में आस्था रखते हैं इसलिए उनका मत खराब है, अमान्य है।' पर नहीं, ओंकारजी इस प्रकार के तर्क नहीं करना चाहते। उनकी विशेषता भिन्न प्रकार के तर्क में है। ओंकारजी इस बात को मानते हैं कि 'आज हमारे समाज और साहित्य में ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जो सड़ी-गली हैं, जिनको बलपूर्वक निकाल फेंकने में ही समाज का कल्याण है'। यदि आप इतनी बात प्रगतिवादियों की मानते हैं, तो फिर आपको बताना चाहिए कि अमुक चीज़ें सड़ी-गली हैं और अमुक चीज़ें नहीं हैं। 'प्रगतिवादियो, तुम अमुक चीज़ों को सड़ी-गली कहते हो, मैं उनको ऐसा नहीं मानता।' स्वस्थ विरोध का कलेवर कुछ-कुछ ऐसा ही होगा। विभिन्न जीवन-दर्शन के अनुयायी होने से इस बात में विरोध होना स्वाभाविक है—कोई किन्हीं व्यवस्थाओं को ग़लत मानता है, कोई उन व्यवस्थाओं को

ग़लत न मानकर किन्हीं और को ग़लत मानता है। इसका इलाज तो है। स्वस्थ मन से बैठकर किया गया विचार-विनिमय ही इसका इलाज है पर ओंकारजी के तर्क यानी कुतर्क का इलाज नहीं है। वे दूसरे ही ढंग से बात करते हैं। जो कहना चाहिए था, वह न कहकर ओंकारजी कहते हैं :—

हमें तो आश्चर्य होता है कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के महारथी भी ऐसे लोगों की बात मानने लगे हैं जो राजनीति और कला के व्यावहारिक रूप-सर्जन में उनसे कोसों की दूरी पर खड़े हुए हैं।' यदि रेखांकित पदों को अनगढ़ भाषा को जाने भी दें, जिसके कारण तर्क एकदम उलझ गया है, तो भी पूछने की बात यह है कि क्या इसी प्रकार के तर्क में ओंकारजी दीक्षित हैं? तर्क की यह कौन-सी प्रणाली है जिसमें प्रतिद्वन्द्वी के तर्क पर प्रहार न करके उसके व्यक्तित्व पर प्रहार किया जाता है? हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के महारथियों का उत्तरदायित्व ओढ़ने का प्रयत्न ओंकारजी व्यर्थ करते हैं। ये महारथी नन्हें बच्चे नहीं हैं कि उन्हें कोई फुसला ले जायेगा और हाथ में प्रगतिवाद का बबुआ पकड़ा देगा और कहेगा, 'खेलो मुन्ना, खेलो।' सभी अच्छे साहित्यिकों के पास अपनी साधना होती है, अपना अनुभव और निरीक्षण होता है। यदि कोई साहित्यिक किसी मतवाद को अपनाता है तो अपने अंतःकरण की प्रेरणा से, किसी के कहने-सुनने या बहलाने-फुसलाने से नहीं। अतः यदि कुछ साहित्यिक महारथी प्रगतिवाद की ओर झुक रहे हैं या उस जीवन-दर्शन की ओर झुक रहे हैं, जिसकी ओर प्रगतिवाद इंगित करता है तो वह अपनी समझ के आधार पर। ओंकारजी यदि यह समझते हैं कि वे कुएँ में गिर रहे हैं, तो उन्हें यह समझने का पूरा अधिकार है और उन्हें अपने को उसी कुएँ में गिरने से बचाने के लिए उद्योगशील होना चाहिए, पेशबन्दी करनी चाहिए, पर दूसरों की ओर से कातर होने का दुर्वह उत्तरदायित्व उठाना उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकर ही होगा!

ओंकारजी लिखते हैं—आज का प्रगतिवादी साहित्यिक कहता है, "आप अपने संगमर्मर के महल में बैठे रहिए, हमें तो जनता से मतलब है, जन-जीवन से हमारा आसंग है, हम रोटी की पुकार के लिए लिखेंगे..." पहली बात तो यह कि वह भोंड़ा रोटीवाद जिसकी ओर ओंकारजी का संकेत है, प्रगतिवाद नहीं है, और कोई प्रगतिवादी उसे प्रगतिवाद नहीं कहता। प्रगतिवाद उस व्यवस्था पर आघात करने निकला है जिसके कारण देश भूखा है। वह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता की शृंखलाओं पर प्रहार करने निकला है; क्योंकि वह उनका ध्वंस चाहता है और उनके ध्वस पर हर दृष्टि से स्वतन्त्र भारत का निर्माण करना चाहता है, जिसमें भारत का जन-जन स्वतन्त्र और सुखी होगा। मानव-स्वाधीनता के इस संघर्ष में सुख-दुःख, हास-रुदन, घृणा-

प्रेम आदि सभी मानवोचित भावनाओं तथा अनुभूतियों के उत्कर्ष के लिए पूरा अवसर है, इसलिए प्रगतिवादी की रचना में जो वैविध्य आ सकता है, वह केवल व्यक्ति के अपने रोने-गाने में कभी आ ही नहीं सकता। ओंकारजी फिर कहते हैं :

'प्रगतिवादी समालोचक से हम नम्रता-पूर्वक बतला देना चाहते हैं कि सभी संगमर्मर की इमारतें खराब नहीं होतीं और संगमर्मर की इमारत अथवा महल में बैठने से ही यदि लोगों का दिमाग़ खराब हो जाता तो क्रेमलिन के महल में बैठकर रूस की बागडोर का संचालन भी नहीं होना चाहिए था...'

यह कैसा हवा में तलवार चलाना है! संगमर्मर का कौन बुरा कहता है ?! हो सके तो दुनिया में सारे मकान संगमर्मर के ही बनवा डालिए।

और आगे चलिए।

ओंकारजी इस बात को मानते हैं कि 'आगे आनेवाले जीवन में मजदूरों और किसानों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।' पर तो भी वे कहते हैं—'परन्तु उनकी समस्याएँ चित्रित करके ही तो आप ठोस अथवा प्रभावशाली साहित्य का निर्माण नहीं कर सकेंगे।' कोई पूछे, क्यों ? तो उसे उत्तर के लिए चिरकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। बात तो इतनी बड़ी कह गये कि न केवल हिन्दी का, वरन् भारत का इतना बड़ा औपन्यासिक प्रेमचन्द तक उसकी लपेट में पड़कर ग़ोते खाने लगा (क्योंकि प्रेमचन्द के साहित्य में किसान-जीवन का ही समावेश मुख्य रूप से है और वह 'ठोस तथा प्रभावशाली' भी है, इस बात से इंकार करने की धृष्टता कदाचित् किसी को न होगी!) पर उसका समर्थन करने के लिए तर्क एक नहीं। यह ओंकारजी की विशेषता है।

आगे चलकर तो ओंकारजी ने अपने आपको भी मात कर दिया है :—

'कला के एक अंग को उपयोगी समझा जा सकता है। परन्तु वह अंग भी सिनेमा के अंदर से दीख पड़नेवाली विज्ञापनदात्री स्लाइड के अतिरिक्त और क्या क़ीमत रख सकता है ?'

मेरी समझ में तो इससे एक ही अर्थ निकलता है कि साहित्य कोई उपयोगी कला नहीं है और यदि है भी तो बहुत ही गौण रूप में, इतनी गौण कि लेखक उसे 'विज्ञापनदात्री स्लाइड' पुकारने पर विवश हो गया है। इस परिभाषा के अनुसार तो वह समस्त साहित्य, जिसने क्रांतियाँ तक कराई हैं, 'विज्ञापनदात्री स्लाइड' हो जायगा!

फ्रांसीसी गणक्रान्ति के उन्नायक रूसो और वाल्टेयर, रूसी समाजवादी क्रान्ति के उन्नायक तुर्गनेव, गोर्की और चेखोव ; अमेरिकन स्वातंत्र्य-युद्ध के उन्नायक टाम पेन और जेफ़रसन, अंग्रेज़ी गणक्रान्ति के उन्नायक मिल्टन और आगे चलकर बायरन और शेली और आज के टोलर और टामस मान, इग्नैत्सियो सिलोन और रेमों सेंडर, रोलाँ

और शोलोखोव और एरेनबुर्ग और हमारे देश के भारतेन्दु और प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ और इक़बाल और नज़रुल इस्लाम और जोश सबकी कला विज्ञापनदात्री स्लाइड के अतिरिक्त और कुछ नहीं है !

ओंकारजी फिर कहते हैं :—

'बंगाल के दुर्भिक्ष पर अच्छी से अच्छी कविताएँ लिखवा लीजिए, परन्तु उनका स्थान उनके गुणों के अनुसार...पैम्फलेट का होगा...' कोई पूछे क्यों ? उत्तर नदारद। बंगाल की विभीषिका पर बहुत सुन्दर-सुन्दर कविताएँ लिखी गई हैं, जिन्हें हिन्दी साहित्य में ऊँचा स्थान मिलेगा। हिन्दी के प्रायः सभी चोटी के कवियों ने बंगाल पर कविताएँ लिखी हैं और विवेकशील साहित्यानुरागियों ने उसे अपने आदर और स्नेह से चर्चित किया है। हमारे ओंकारजी उनमें नहीं हैं। ओंकारजी स्वयं कवि नहीं हैं, पर उनका फतवा है कि बंगाल पर लिखी गई अच्छी से अच्छी कविता का स्थान पैम्फलेट का होगा। इस संबंध में श्रीमती महादेवी वर्म्मा क्या लिखती हैं, वह अवलोकनीय है :—

'बंगाल का पुनर्निर्माण प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग चाहता है। परन्तु कलाकार तथा लेखकों के निकट तो यह उनके आत्मनिर्माण की परीक्षा है। राजनीतिक दलों के वाद-विवाद के कोलाहल से दूर होने के कारण वे इस विशाल मानवता की आर्त्तवाणी को स्पष्ट सुन सकते हैं। संकीर्ण स्वार्थों से शून्य होने के कारण वे इसकी व्यथा को संपूर्णता में अनुभव कर सकते हैं। क्रौंच पक्षी की व्यथा ने हमारे ऋषि-कवि को प्रथम छन्द देकर हमें आदिकाव्य दिया है। एक मनुष्य की पीड़ा ने सिद्धार्थ को प्रबुद्ध बनने का मार्ग दिखाया है।

'आज के विराट् मानव की व्यथा का समुद्र आज के लेखक को, जीवन का महान् तथ्य, कोई अमूल्य सत्य न दे सकेगा, ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखनी-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा। किन्तु ऐसा कल्पना भी सच्चे कलाकार का अपमान करना है...'
('वंग-दर्शन' : 'अपनी बात' से)

ओंकारजी किस प्रकार के कलाकार हैं, अब पाठक स्वयं इसका निष्कर्ष निकाल सकते हैं ! श्रीमती महादेवी वर्म्मा ने इतने स्पष्ट शब्दों में मानवता की पुकार को चित्रित किया है और ऐसे ही चित्रण करने के लिए अपने अन्य साहित्यिक बन्धुओं का आह्वान किया है, इसी से क्रुद्ध होकर ओंकारजी ने प्रगतिवादियों के साथ महादेवीजी को भी लपेट लिया है और उन पर असभ्य वाक्य-शर बरसाये हैं।

अब और टिप्पणी न करके, ओंकारजी की आलोचना-प्रणाली की दो बानगियाँ देकर मैं समाप्त करूंगा—

'इसलिए प्रगतिवाद की जो पताका ऊँची की जा रही है, और जिसके नीचे हिन्दी के बहुतेरे साहित्यिक खड़े होने में गर्व मानते हैं, वह एक काग़ज़ी झण्डा है जिसमें 'मेड इन मास्को' पेपर लगा हुआ है।

एक काग़ज़ी झण्डे से इतना भय !

'......जब इन साम्यवादियों ने ही भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ को अपनी सहसंस्था (बाई प्राडक्ट) बना रखा है, तब भी यदि हमारे युगनिर्माता कवि और मीरा से होड़ लेनेवाली प्रसिद्ध कवियित्रियाँ नहीं चेतती हैं तो आश्चर्य की बात है।'

ढंग से विचार-विनिमय करना तो आपके लिए संभव नहीं है, इसलिए साम्यवाद का हौआ खड़ा करके यों ही लोगों को चेताते जाइए ! कितने दुःख की बात है कि आप ही की तरह सब प्रगतिवाद की एक-एक पोल से परिचित नहीं हैं !

सन् '४४]

रवीन्द्रनाथ

७ अगस्त सन् '४१ को विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का देहान्त हुआ था। तभी से संस्कृति के प्रेमियों के लिए वह एक बहुत महत्त्वपूर्ण तिथि हो गई है। उस दिन एकत्र होकर वे उस महान् कवि के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ सच्चे अर्थों में विश्वकवि थे। प्रथमतः तो वे विश्वकवि इस नाते थे कि विश्व-भर की सभी भाषाओं में उनकी कृतियों के अनुवाद हो गये हैं और विश्व के कोने-कोने में उनके भक्त और प्रेमी बिखरे हुए हैं। नई दुनिया के जो दो अगुआ एशियाई देश हैं, अर्थात् चीन और सोवियत रूस, दोनों में ही हमारी संस्कृति के इन विश्वदूत को बहुत ऊँचा सम्मान मिला है। चीन के लोग नवीन भारत के प्रतिनिधि के रूप में दो ही व्यक्तियों को जानते हैं, रवीन्द्रनाथ तथा जवाहरलाल। सोवियत रूस में कवि की समस्त रचनाएँ अनूदित हो चुकी हैं। आज रवीन्द्रनाथ रूसी साहित्य का अंग बन चुके हैं। रूसी लेखकों की सर्वोच्च परिषद् के अध्यक्ष तिखोनाफ़ से लेकर सामान्य रूसी नागरिक तक सभी कवि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, करोड़ों की संख्या में उनकी पुस्तकों की खपत होती है और कलों-कारखानों में सामान्य श्रमिक 'घरे-बाहिरे' पर विचार-विमर्श करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नवीन रूस सामूहिक रूप से संस्कृति के जिस शिखर पर पहुँच गया है वह अब तक संसार के सभी देशों के लिए अलंघ्य ही रहा है। नवीन रूस किसी प्रकार की जातीय अथवा राष्ट्रीय संकीर्णता से पीड़ित नहीं है, इसीलिए वह अपनी विश्व-संस्कृति के निर्माण के लिए जिसके लिए वह प्रयत्नशील है, संसार के सभी महान् कलाकारों को सहज ही स्वीकार कर लेता है। मनुष्य को ऊँचा उठानेवाली यह नवीन संस्कृति कवि के बिना अपूर्ण ही रहती, इस बात के ज्ञान ने ही उन्हें पराधीन भारत की ओर भी अभिमुख किया और उन्हें उस कवि-मनीषी के दर्शन हुए जिसका शरीर तो पराधीन था, पर आत्मा नभ में विचरण करने-वाले पक्षी की भाँति स्वतंत्र थी। उन्होने अपने मन में कभी किसी रूढ़ संस्कार को जड़ न जमाने दिया ; सभी प्रश्नों पर बिलकुल मुक्त होकर विचार किया, इसीलिए वे जीवनपर्य्यन्त विकास करते रहे और मानव-कल्याण के हित अपनी कोमल किन्तु सशक्त लेखनी का उपयोग करते रहे। जीवन पर्य्यन्त उनका स्वर सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध, जातीय तथा राष्ट्रीय संकीर्णता के विरुद्ध, राष्ट्रों की पारस्परिक घृणा के विरुद्ध

और विश्वबंधुत्व तथा विश्वस्वाधीनता के पक्ष में, नवीन सभ्यता और संस्कृति के दीपस्तंभ सोवियत रूस के पक्ष में, बन्दिनी भारत-माता की स्वतंत्रता के पक्ष में ऊँचा होता रहा।

सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि रवीन्द्रनाथ की लेखनी ने प्रारम्भ से रूढिजर्जर बंगाली समाज को सुधारने का व्रत लिया और यह बहुत कुछ उन्हीं के प्रयत्नों का फल है कि आज हम बंगाली समाज में कुछ सुधार लक्ष्य कर सकते हैं। अपने समाज को सुधारने की उनमें ऐसी अपूर्व लगन थी कि उन्होंने अपने साहित्य के अलावा अन्य प्रकार से भी इस कार्य्य में योगदान किया। उन्होंने गाँवों में जा-जाकर कुरीतिनिवारण सभाएँ बनायीं, परिषदें बनायीं, स्वयंसेवक दल तैयार किये, व्याख्यान दिये, सुषुप्त जनता को जगाया और उसे अपने रूढ़िजर्जर, मरणप्राय समाज को पुनः जीवित बनाने के उत्तरदायित्व का बोध कराके उसे कर्म के पथ पर आरूढ़ किया। कवि रवीन्द्रनाथ ने बालविवाह का विरोध किया, बहुविवाह का विरोध किया, गाँवों में घूम-घूमकर स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का प्रचार किया और अशिक्षित जनता को सफ़ाई से रहना सिखलाया क्योंकि सफ़ाई से रहकर ही वे रोगों से बच सकते थे। इतना ही नहीं। कवि ने गाँवों में केवल यह समाज सुधार का कार्य्य ही नहीं किया; उन्होंने राजनीतिक कार्य्य भी किया। उन्होंने किसानों से अपना संगठन बनाने के लिए कहा क्योंकि संगठित होकर ही वे अपने हितों की रक्षा कर सकते थे, उनके लिए संघर्ष कर सकते थे। उन्होंने गाँवों में पंचायतों की स्थापना की और उन्हें ही गाँव के भले-बुरे की पूरी ज़िम्मेवारी सौंपी। हमें यह सुनकर आश्चर्य होता है कि कवि रवीन्द्रनाथ इस प्रकार के समाजसेवी भी थे। हमने उनकी कल्पना एक स्वर्गनीड़ कवि के रूप में कर रखी है और ये मोटेझोटे कार्य्य उस कल्पना पर आघात करते हैं। पर वास्तव में इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कवि को जनता से, अपने देश की मिट्टी से प्रेम था; वे उसे बन्धनमुक्त तथा सुखी देखने के इच्छुक थे। इसी हेतु उन्होंने जीवन-पर्य्यन्त उद्योग किया। अपने आरम्भिक दिनों में उन्होंने समाजसेवा का जो कार्य किया, उसकी प्रेरणा का स्रोत भी जनता से तथा देश से वही प्रेम था, जो उनके पूरे जीवन को एकसूत्रता प्रदान करता है।

वे अपनी जनता से प्यार करते थे, उसे शिक्षित तथा सुखी देखना चाहते थे, इसीलिए जब उन्होंने सोवियत रूस जाकर स्वयं अपनी आँखों से वहाँ जनता को शिक्षित तथा सुखी और एक नया स्वर्ग बनाते देखा तो वे तुरन्त उसके परम भक्त हो गये और फिर आमरण उस भक्ति से उन्हें कोई विचलित न कर सका। कवि अमरीका से रूस गये थे। उस समय भी सोवियत रूस के विरुद्ध प्रचार का बाज़ार गर्म था। उसकी

निन्दा उन्होंने भी काफ़ी सुनी और पचाई थी पर यथार्थ जीवन के चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा उन्होंने उन सारी झूठी बातों को अपने लम्बे चोग़े पर पड़ी धूल के समान झाड़ दिया और बिलकुल पवित्र होकर सभ्यता के उस नये आलोक के दर्शन किये, और मन्त्रमुग्ध रह गये। 'रूस की चिट्ठी' सोवियत की प्रशस्ति का मृदु काव्य है। उसमें कवि ने बार बार कहा है कि सोवियत रूस पहुँचकर मैंने अपनी कल्पना के स्वर्ग को पा लिया है। इसके आगे जाने पर भक्ति मुखर रह ही नहीं सकती, उसे मौन होना पड़ेगा, अन्तःसलिला फल्गुधारा के समान भीतर ही भीतर आत्मा को सींचना पड़ेगा। कवि के साथ भी यही हुआ। सोवियत के प्रति भक्ति उनकी प्रकृति का अंग बन गई और उसे वर्षों तक शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। लेकिन जब मिस रैथबोन ने हमारे देश पर वह क्रूर तथा घृणित प्रहार किया कि भारत को ब्रिटिश शासन से लाभ हुआ है, तब कवि ने सोवियत का प्रमाण देकर अपने वज्र स्वर में घोषणा की कि भारत को यदि ब्रिटिश शासन से कुछ प्राप्त हुआ है तो वह है दरिद्रता, रोग, और अशिक्षा। सोवियत के प्रति उनकी कितनी अचल श्रद्धा थी, इसका कुछ अंदाज़ा श्रीमती रानी महालनवीस के उस संस्मरण से लगता है जिसमें उन्होंने कवि के अंतिम क्षणों के बारे में लिखा है और बतलाया है कैसे वह अपनी तन्द्रा से चौंक चौंक कर मास्को के बारे में पूछते थे कि जर्मन मास्को से कितनी दूर हैं, मास्को गिरा तो नहीं!

अगस्त '४५]

रोमें रोलाँ का स्वर्गवास

रोमें रोलाँ के स्वर्गवास से स्तंभित हो जाना स्वाभाविक है। रोमें रोलाँ की कृतियाँ हिन्दी में उसी प्रकार अनूदित नहीं हुई हैं, जिस प्रकार तॉल्सतॉय, गोर्की तथा चेखोव की कृतियाँ हुई हैं, इस कारण से केवल हिन्दी साहित्य के पाठक चाहे इस बात को भली भाँति न समझें कि रोलाँ के स्वर्गवास से विश्व के साहित्य-जगत् की कैसी अपूरणीय क्षति हुई है, पर वे सभी लोग जिन्होंने रोलाँ की कृतियों को पढ़ा है और इस बात को जानते हैं कि आज के साहित्यिक जगत् में उनका कितना ऊँचा स्थान था, इस बात को तुरन्त स्वीकार कर लेंगे कि रोलाँ के स्वर्गवास से विश्व-साहित्य में बहुत बड़ी रिक्तता आ गई है। रोलाँ स्वाधीनता, जनतन्त्र और विश्वशान्ति के आधार पर संसार के नव निर्माण के संघर्ष में विश्व के समस्त स्वाधीनता-प्रेमी, प्रगतिशील लेखकों का नेतृत्व कर रहे थे और आज उनके नेतृत्व से वंचित हो जाना, जब कि इतिहास-चक्र तड़ित्-वेग से घूम रहा है और प्रतिपल युगविधायक घटनाएँ घट रही हैं, वास्तव में एक क्रूर आघात है।

हिन्दी के लगभग सभी पत्र रोलाँ की मृत्यु पर टिप्पणियाँ लिख रहे हैं। अपनी टिप्पणियों में वे रोलाँ के जिस रूप को उभारकर सामने लाते हैं, वह एक युद्ध से संतप्त मनीषी का है जो गान्धीजी का भक्त है, शान्ति तथा अहिंसा का उपासक है, भारतीय वेदान्त का पुजारी है और उसी के आधार पर पाश्चात्य तथा प्राच्य सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का समन्वय कराने के लिए प्रयत्नशील विचारक है। रोलाँ का यह रूप भी सत्य है पर यह उसका आरम्भिक रूप है, और रोलाँ को केवल इस रूप में देखकर हम उसके व्यक्तित्व को पूर्णतया न समझ सकेंगे। क्योंकि रोलाँ ऊँचाई पर बैठा हुआ निर्लिप्त मनीषी नहीं है जो जीवन की समस्याओं और उसके संघर्षों से संन्यास ले चुका है, बल्कि अन्याय और उत्पीड़न की सृष्टि करनेवाले साम्राज्यवादियों के विरुद्ध मानवता के युद्ध में स्वयं लिप्त एक सैनिक है। रोलाँ प्रथमतः संत नहीं, युद्धलिप्त सैनिक है—स्वाधीनता के युद्ध में लिप्त सैनिक, अन्याय तथा उत्पीड़न की विरोधी और समता की भित्ति पर संसार की स्थापना करनेवाली क्रान्तिकारी जनता के वर्गयुद्ध में तन की समस्त शक्ति और मन के समस्त आवेग से लिप्त सैनिक। रोलाँ शान्ति तथा अहिंसा का निष्क्रिय उपासक नहीं है। उसने अपने इन्हीं आदर्शों की विजय के लिए सतत युद्ध

किया। युद्ध का विरोध करने से रोलाँ का अभिप्राय उस व्यवस्था का विरोध करने से है जिसके कारण युद्ध अनिवार्य हो जाता है अर्थात् पूँजीवाद और उसी के चरम रूप साम्राज्यवाद तथा फासिज्म। रक्तपात से क्षुब्ध और युद्ध से रहित एक नये जनतांत्रिक संसार की रचना के निमित्त संघर्षशील मानवता के लिए रोलाँ का महत्त्व कुछ न होता, यदि वे गगनचुम्बी आसन पर बैठे हुए संत की भाँति युद्ध और रक्तपात के कारण ग्लानि के आँसू बहाया करते। अधिकांश पत्रों ने इसी रूप में रोलाँ के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है, पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह श्रद्धांजलि नहीं, उनकी स्मृति का निरादर है। रोलाँ का एकदम प्रारंभिक रूप उसी प्रकार का हो सकता है, जिस प्रकार से हमारे पत्रों ने उसे प्रस्तुत किया है। पर आज उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते समय हमें उनके प्रारम्भिक रूप पर नहीं, उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की पूर्णता पर प्रकाश डालना है। रोमें रोलाँ के दृष्टिकोण में जो क्रांतिकारी परिवर्तन आया, उसे हम क्रांतिकारी विचारधारा की जययात्रा के रूप में समझ सकते हैं। रोमें रोलाँ ने जीवन के अपने अनुभव और अपने गहन इतिहास-ज्ञान से इस बात को समझ लिया कि शान्ति चाहने ही से शान्ति की स्थापना नहीं होगी, युग-युगांतर से बड़े-बड़े संत तथा मनीषी शान्ति का संदेश सुनाते आ रहे हैं; लेकिन तब भी शान्ति की स्थापना तो दूर, युद्ध तथा रक्तपात उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। इस प्रकार रोलाँ को विश्वास हो गया कि युद्ध, रक्तपात और अशान्ति का मूल कारण साम्राज्यवाद है और जब तक विश्व से साम्राज्यवाद का विनाश नहीं कर दिया जाता और विश्व में एक ऐसी नई प्रणाली की स्थापना नहीं की जाती, जिसके अनुसार सब राष्ट्र समान होंगे और कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को पराधीन नहीं बना सकेगा, तब तक विश्व में शान्ति की स्थापना नितान्त असंभव है। रोलाँ ने स्वीकार किया कि शान्ति के लिए मानवता को भीषण संघर्ष करना पड़ेगा, उन शक्तियों के विरुद्ध जो अपने साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा के कारण अशान्ति का मूल कारण हैं। रोमें रोलाँ के साहित्यिक जीवन का इतिहास बहुत ही रोचक है। कोई विचार रोलाँ के मस्तिष्क में कभी जड़ रूढ़ि बनकर न टिक सका। वे नये विचारों को स्वीकार करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे और अपने सामने होनेवाली घटनाओं को रंगीन चश्मे से नहीं, निर्विकार नेत्रों से देखते थे और उसके आधार पर निष्पक्ष मन से निष्कर्ष निकालते थे, इसीलिए वे उत्तरोत्तर क्रांति की दिशा में विकास करते रहे और एक शांतिप्रेमी मनीषी से एक समाजवादी क्रांतिकारी बने, विश्व-साम्राज्यवाद के प्रबल शत्रु, पराधीन मानवता के बहुत बड़े मित्र, विश्वशांति के सब से क्रूर विनाशक फ़ासिज्म के भीषण विरोधी और विश्वशांति के सबसे महान् गढ़ सोवियत-संघ के अत्यत आत्मीय सुहृद् बने। इस संबंध में उनकी और गोर्की की मैत्री भी एक ऐतिहासिक वस्तु है। इतने विस्तार के साथ इस

प्रश्न पर विचार करने का अकेला कारण यह सिद्ध करना है कि हमारे पत्रों ने रोलाँ को जिस रूप में श्रद्धांजलि अर्पित की है, वह एकांगी और अपूर्ण है। शान्ति की उनकी कामना पुराने मनीषियों की शुभेच्छा मात्र नहीं है, वह शान्ति की स्थापना के लिए एक समाजवादी की क्रांतिकारी कार्य्य-पद्धति है, शान्ति के लिए क्रान्ति का आह्वान है। इसी लिए जब सन् '३१ में जापान ने मंचूरिया की स्वाधीनता का अपहरण किया था और सोवियत रूस पर आक्रमण करने के निमित्त षड्यंत्रों की योजना हो रही थी, तब रोलाँ ने सोवियत के एक महान् हितैषी के रूप में अपना परिचय दिया और सोवियत की रक्षा को विश्वशान्ति की रक्षा के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बताया और घोषणा की—मैं सोवियत रूस की रक्षा तब तक करूँगा, जब तक मेरे शरीर में साँस बाकी है। सोवियत् रूस को अपने अपवित्र हाथ लगाने का साहस न करो! सोवियत की रक्षा या मृत्यु!! जब सन् '३४ में रोलाँ ने महान् फ्रेंच क्रान्तिकारी लेखक ऑंरी बारबुस के साथ मिलकर फ़ासिस्त-विरोधी लेखकों का अंतर्राष्ट्रीय संघ बनाया तब उसका भी प्रयोजन यही था कि विश्वशान्ति की रक्षा के लिए साम्राज्यवाद के इस नये रूप फ़ासिज्म के विरोध में विश्व के सभी शान्ति-प्रेमी लेखक खड़े हों। रोमें रोलाँ ने उस समय देखा कि फ़ासिज्म विश्व को एक नये साम्राज्यवादी महायुद्ध की ओर ले जा रहा है और दूसरे देश के शासककर्त्ता उसे इस बात के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में जिस प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस ने मंचूरिया, स्पेन, अबीसीनिया की स्वाधीनता को फ़ासिस्त आक्रमणकारियों से बचाने का नारा बुलंद किया, उसी प्रकार रोलाँ ने भी सोवियत संघ के साथ मिलकर फ़ासिज्म के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा के निमित्त सभी राष्ट्रों का मोर्चा बनाने को ही विश्वशान्ति की रक्षा का अमोघ अस्त्र समझा और उसने जिस अंतर्राष्ट्रीय फ़ासिस्त-विरोधी लेखक-संघ की स्थापना की, वह इसी योजना के अंतर्गत। जिस समय रोलाँ ने गांधीजी पर अपनी पुस्तक लिखी थी, उसके विचार पूर्णतया क्रांतिकारी नहीं बन पाये थे, पर तो भी अपनी पुस्तक में उसने बापू का अभिनंदन पराधीन भारत की स्वाधीनताकांक्षा के प्रतीक और विश्वशान्ति के निमित्त अहिंसा के एक महान् प्रयोक्ता के रूप में किया है। 'विवेकानंद' और 'रामकृष्ण परमहंस' के उसके लिखे जीवनचरित तो भारतीय दर्शन के प्रति उसके इस विश्वास को ही प्रकट करते हैं कि शांति पर आधारित पूर्वीय दर्शन एवं अध्यात्म युद्ध-शिथिल पश्चिम को शांति प्रदान करेगा। इतिहास के संघर्षों की तीव्रता बढ़ने के साथ-साथ उसके विचारों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन का आना स्वाभाविक था और इस प्रकार विचारों के क्षेत्र में इस महान् यात्रा के फल-स्वरूप शांति का निराकार आदर्श जनस्वाधीनता के आंदोलन के रूप में एक साकार कर्तव्य बना।

रोमें रोलाँ की मृत्यु लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई। यों तो जब भी ऐसी

विभूतियाँ हमारा साथ छोड़ेंगी, हमें दुःख होगा ही। पर इतना अवश्य है कि संघर्ष के, अनथक परिश्रम के अस्सी वर्ष किसी के लिए कम नहीं कहे जा सकते। और इस रूप में यदि हम रोलाँ के स्वर्गवास को देखें तो कोरे शोक के लिए विशेष स्थान नहीं है। जिस व्यक्ति ने पचास वर्ष अपनी लौह-लेखनी से अन्याय का प्रतिकार करके मानव स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया हो, उसे विश्राम का अधिकार स्वभावतः मिल जाता है और हमें उसकी मृत्यु पर शोक के आँसू न बहाकर, उसके बताये आदर्शों की प्राप्ति के लिए उसके संघर्ष को चलाते चलने का सङ्कल्प अपने मन में करना चाहिए। उस विभूति की स्मृति के प्रति यही वास्तविक श्रद्धाञ्जलि होगी; उसको सच्चा अमरत्व भी इसी प्रकार प्राप्त होगा। अतः रोलाँ के आदर्शों की पूर्ति का गुरु उत्तरदायित्व हमारे कंधों पर आ गया है। मृत्यु के प्रति यही स्वस्थ दृष्टिकोण भी है।

रोलाँ की मृत्यु १९४५ में हुई, यह शोक की बात अवश्य है क्योंकि आज उन सभी आदर्शों को जिनके लिए उसने जीवन भर संघर्ष किया—व्यक्ति पर व्यक्ति के, जाति पर जाति के, राष्ट्र पर राष्ट्र के अन्याय का मूलोच्छेद, विश्व साम्राज्यवाद का विनाश, फासिज्म का विनाश, सोवियत की विजय, विश्व में सोवियत सभ्यता का प्रसार आदि—जनता ने अपने दुर्द्धर्ष संघर्ष से वास्तविकता में परिणत करना प्रारम्भ कर दिया है। जिन जनशक्तियों को आन्दोलित करने के लिए उसने आजीवन प्रयत्न किया, वे ही जनशक्तियाँ आज आन्दोलित और संगठित होकर विश्व-स्वाधीनता और विश्वशांति के उसी के आदर्शों की पूर्ति के लिए संघर्ष कर रही हैं और फ़ासिज्म को हराने के साथ-साथ इस ओर भी प्रयत्नशील हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भी बचने न पाये और इस युद्ध के भीषण ध्वंस से स्वतंत्र मानवता का जन्म हो, न कि किसी नई पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ी हुई, रक्त के आँसू गिराती हुई मानवता का। यूनान के प्रश्नपर चर्चिल को झुकने के लिए वाध्य करना ब्रिटिश जनता की सबसे हाल की विजय है। पोलैंड के प्रश्न पर उसकी विजय अवश्यंभावी और आसन्न है। चर्चिल को लुबलिन की सरकार को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यह ठीक है कि रोलाँ ने फ्रांस को मुक्त देख लिया पर अपने जीवन के अन्य स्वप्नों को, जो अब यथार्थ में उतारे जा रहे हैं, लेकर ही उसे संसार से कूच करना पड़ा, यह वास्तव में दुःख का विषय है। उसे कितना सुख न होता यदि वह कुछ वर्ष और जीवित रहता और एक नये विश्व में पहुँचकर सदा के लिए अपनी आँखें मूँदता! पर तो भी हमें इस बात का पूर्ण विश्वास है कि अपनी भविष्यद्रष्टा की आँखों से उसने इस नये संसार को जनमते देख लिया होगा और मरते समय विफलता की रिक्तता का नहीं सफलता के संतोष का अनुभव किया होगा।

इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि रोलाँ की स्मृति के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हमें शोक से अधिक अपने उत्तरदायित्व के गुरुत्व का अनुभव करना चाहिए, मन में क्रन्दन करने की अपेक्षा उसे संकल्प की दृढ़ता से भर लेना चाहिए और उसके आदर्श को सामने रखकर अपनी लेखनी से उन आदर्शों की स्थापना के कार्य में लगना चाहिए जो उसके जीवन के शक्ति-स्रोत थे। अन्याय का प्रतिकार उसके जीवन और साहित्य का मूल-मंत्र था। 'जान क्रिस्तॉफर' का यही संदेश है। अपने निबन्ध-संग्रह 'आइ विल नाट रेस्ट' में उसने इसी बात को कहा है। ऊपर रोलाँ के जो विचार दिये गये हैं, वे अधिकांश में इसी पुस्तक से लिये गये हैं। अन्याय का प्रतिकार, शोषण का मूलोच्छेद ही वह मूल-मंत्र है, जो हमारे समक्ष भी होना चाहिये। हमें अन्धानुसरण करने की आवश्यकता नहीं है। हमारी समस्या उनकी समस्याओं से बहुत भिन्न है। पर अन्याय के प्रतिकार की जो स्वस्थ धारा रोलाँ के जीवन और साहित्य में सर्वत्र प्रवहमान है, उससे तो हमें प्रेरणा ग्रहण करनी ही चाहिए। हमारे चारों ओर अन्याय और अत्याचार का हाहाकार हो रहा है। किसान पर जमींदार का अत्याचार, मजदूर पर मालिक का अत्याचार, गरीब पर अमीर का अत्याचार। हमारी लेखनी को वज्र बनकर इस अत्याचार को उखाड़ फेंकना चाहिए। हमारी पराधीनता पर ही मनुष्यभक्षी व्यापारियों का समुदाय जीता है, उसका अंत हम क्यों नहीं करते?

मानवता रोलाँ को उसके नोबुल पुरस्कार के कारण याद नहीं करेगी, वह उसे इसलिए याद करेगी कि उसने विश्व के लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को अपने देश की और विश्व की स्वाधीनता के लिए जीना और मरना सिखाया। यही उसकी अमरता है।

नवम्बर १९४४]

सोवियत का युद्ध-साहित्य

युद्धकाल में सोवियत रूस में जितने अधिक परिमाण में साहित्य-सृजन हुआ है उतना अन्य किसी देश में नहीं। उसका कारण यही था कि देश की संपूर्ण साहित्यिक प्रतिभा उसी ओर लग गयी। सोवियत रूस में ही, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति ठोस स्वाधीनता का उपभोग करता है, यह बात संभव थी। और सामान्य नागरिकों से भी अधिक स्वाधीनता का उपभोग यदि उस देश में कोई वर्ग करता है तो वह लेखकों और कलाकारों, बुद्धिजीवियों का वर्ग है (यहाँ वर्ग से अभिप्राय समुदाय से है, मार्क्सीय शब्दावली के वर्ग से नहीं); वहाँ लेखकों और कलाकारों का वर्ग एक सुविधासंपन्न वर्ग है, राज्य की ओर से लेखक के लिए हर प्रकार की सुविधा जुटाई जाती है जिसमें वह दैनंदिन चिन्ताओं से मुक्त होकर साहित्य-सृजन कर सके, सोवियत जनसमाज के मनोरंजन व शिक्षा की सामग्री दे सके। सोवियत समाज के बारे में लिखते हुए अनेक लोगों ने लेखकों-कलाकारों की विशेष सुविधासपन्न स्थिति के बारे में बताया है। हाल ही में प्रकाशित जैक चेन लिखित 'सोवियत आर्ट ऐंड आर्टिस्ट्स' शीर्षक पुस्तक में भी इस विषय की महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। उसमें लेखक ने बताया है कि सोवियत लेखकों को पुस्तकों से जो आय होती है वह सामान्य नहीं है क्योंकि शिक्षा का खूब प्रसार होने से पुस्तकों की खपत वहाँ बहुत होती है इसलिए पुस्तकों के बड़े लंबे-लंबे संस्करण होते हैं जिनसे लेखक को अच्छी आय हो जाती है। जहाँ प्रतिष्ठित लेखकों की पुस्तकों के संस्करण लाख और दो लाख और तीन लाख में हों, और सोवियत संघ की बीसियों भाषाओं में अनूदित होकर अलग-अलग हों, वहाँ लेखक कितना भाग्यशाली प्राणी है, यह तो किसी लेखक से ही पूछिए! और खास तौर पर हिन्दी लेखक से जिसकी किताब का दो हजार का संस्करण दो साल में निकलना मुश्किल हो जाता है! पुस्तक की आय से जो सुविधाएँ खरीदी जा सकती हैं, वे तो हैं ही, उनके अलावा राज्य अन्य प्रकार की सुविधाएँ भी जुटाता है, उदाहरण के लिए अज़रबैजान का कोई लेखक यदि क़ाज़क़स्तान या युक्राइन जाकर अपनी पुस्तक के लिए कोई सामग्री संग्रह करना चाहता है तो न केवल राज्य उसके वहाँ जाने और रहने का खर्चा देगा, बल्कि सामग्री के संग्रह में भी स्थानीय लोगों की हर प्रकार की सहायता दिलवायेगा।

जिस देश में लेखक की ऐसी सुविधा-सम्पन्न (सुविधा-भोगी नहीं!) स्थिति हो,

उस देश में लेखक का अपने देश की स्वाधीनता के लिए (जो कि अन्ततः उसी की स्वाधीनता है) शस्त्र धारण करना स्वाभाविक ही है। इसलिए हम देखते हैं कि पिछले युद्ध में लगभग सभी सोवियत लेखकों ने युद्ध का बाना पहना और एक हाथ में अपनी लेखनी और दूसरे में एक रायफल लेकर रणक्षेत्र में आ खड़े हुए। उन्होंने दुश्मन का मुकाबिला अपनी रायफल और लेखनी दोनों से किया। इसीलिए इतने परिमाण में और इतना अच्छा साहित्य वहाँ युद्धकाल में रचित हुआ। लियोनोव, सिमोनोफ, कोर्नाइचुक आदि के बड़े नाटक, अनेक एकांकी, ग्रासमैन, गोरबतोफ, वांदा वासिलियेवस्का, इलिया एरेनबुर्ग आदि के उपन्यास (शोलोखोव के नये उपन्यास के कुछ अंश भी लंदन से निकलनेवाले 'सोवियत वीकली' में छपे थे), तिखोनोव, सिमोनोफ, कतायेफ, शोलोखोव आदि की कहानियाँ, और सैकड़ों-हजारों, युद्ध के रिपोर्ताज जिनमें इलिया एरेनबुर्ग के रिपोर्ताजों की अपनी अलग एक शानदार हस्ती है—यह कुछ कम कृतित्व नहीं है। इलिया एरेनबुर्ग ने तो सही अर्थ में दुनिया को अपनी कलम के जोर से एक बार थर्रा दिया और संसार के साहित्य के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम ही मिलेंगे जब किसी एक लेखक ने एक आततायी का विनाश करने के लिए अपने देश के और अन्य देशों के जनमत को इतने विराट् रूप में जाग्रत और आन्दोलित किया हो, दुश्मन की पराजय में जिसका कृतित्व इतना विशाल एवं गौरवशाली हो। सोवियत युद्ध साहित्य के सिंहावलोकन से यह बात स्पष्ट है कि स्पष्ट रूप से उद्देश्यमूलक साहित्य भी श्रेष्ठ हो सकता है, बशर्ते उसका आधार साधना पर हो, और उसमें अनुभूति की गहराई और कला की परिष्कृति हो। साहित्य उद्देश्यमूलक होते ही हीन कोटि का हो जाता है, साहित्य की 'स्वतंत्रता' के अभिमानी लोगों की इस अत्यन्त एकांगी युक्ति का खंडन इस सिंहावलोकन से हो जाता है। रही यह बात कि निम्नकोटि का उद्देश्यमूलक साहित्य भी रचा जाता है, सो इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। वह तो बहस ही दूसरी है। वे तो दूसरे ही कारण हैं जो उद्देश्यमूलक साहित्य में किन्हीं घटिया तत्त्वों का समावेश करते हैं। उन कारणों की खोज में जाने पर हमें पता चलेगा कि जिन कारणों से घटिया उद्देश्यमूलक साहित्य की रचना होती है उन्हीं कारणों से घटिया निरुद्देश्य, सर्वथा स्वतंत्र और कला कला के लिए वाले साहित्य की रचना भी होती है। सस्ते प्रचारवादी, कला की दृष्टि से अक्षम साहित्य का उदाहरण देकर यह कहना कि उद्देश्यमूलक साहित्य अच्छा हो ही नहीं सकता, गलत है। ऐसे बहुत-से साहित्य का उदाहरण दिया जा सकता है (जिसमें आधुनिक काल में सोवियत साहित्य है) जो इस बात को प्रमाणित करता है कि स्पष्ट (अनुमित नहीं, यह बात साफ तौर पर कहने की जरूरत है) उद्देश्य कलाकार के सामने हो, इसमें कोई बुराई नहीं है। बुराई इसमें है कि केवल उद्देश्य सामने हो, उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए आवश्यक साधना (जीवन और

कला दोनों ही क्षेत्रों में) और आवश्यक प्रतिभा (दैवी प्रतिभा नहीं, स्वाभाविक प्रवृत्ति और संस्कार का समन्वित रूप) न हो। तभी सस्ते प्रचारवादी साहित्य की रचना होती है। इसमें दोष यह नहीं है कि लेखक के सामने उसकी कला का उद्देश्य आवश्यकता से अधिक स्पष्ट था, बल्कि यह कि काफी स्पष्ट न था, नहीं तो उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कितनी और किस प्रकार की साधना अभीष्ट है, यह भी स्पष्ट होता। मगर यह तो विषयांतर हो गया।

सोवियत साहित्य के सिंहावलोकन से क्या तथ्य निकलता है यह हमने देखा। मगर जब हम उसमें जरा और गहराई से घुसते हैं तो हमारे मन में एक शंका जागती है और जब हम उसका समाधान करने चलते हैं तब हमें तसवीर का दूसरा पहलू दिखाई देता है।

अगर हम सर्वोत्तम सोवियत साहित्य को थोड़ी देर के लिए अलग कर दें तो अधिकांश सोवियत साहित्य में (जिसमें युद्ध साहित्य विशेष रूप से शामिल है) हमें एक विचित्र ढग की एकरसता मिलती है जिसके कारण उसके प्रति हमारे अन्दर विशेष उत्साह नहीं जागता। ऐसा क्यों होता है? यही शंका है जिस पर हमको विचार करना है।

साहित्य की पूर्ण स्वाधीनता (अर्थात् परिवेश के प्रति उत्तरदायित्वहीन होने का अधिकार!) के पुजारी के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन न होगा। वह झट कहेगा—जहाँ साहित्य भी Planned होता हो, जहाँ साहित्यकार तक को, जो मुक्त विहग के समान होता है, किसी पूर्वकल्पित योजना के पिंजरे में बन्द कर दिया जायेगा, वहाँ और हो भी क्या सकता है। वैसी परिस्थिति में ह्रास ही स्वाभाविक है!

मगर यह तो शंका का समाधान नहीं; रंगीन चश्मे और दृष्टि-दोष की दुरभिसन्धि है। शंका का समाधान अगर वास्तव में इतना सरल होता तो शंका उठाने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती।

यह शंका सोवियत साहित्य के अन्य प्रेमियों को भी तंग कर रही है। अभी हाल के, प्रगतिशील अंग्रेजी पत्र 'आवर टाइम' में प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक जॉन समरफील्ड के एक छोटे से निबन्ध 'वेटिंग फ़ॉर टालस्टाय' और प्रगतिशील बँगला पत्र 'परिचय' में चिन्मोहन शेहानवीस के लेख 'साहित्य ओ समाजतान्त्रिक परिकल्पना' में कुछ कुछ ऐसी ही समस्या का विवेचन हाल में हमने देखा। समरफील्ड ने प्रश्न उठाया है कि क्यों इस युग ने अपना टाल्सटाय नहीं पैदा किया? और कब तक हमें टाल्सटाय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ेगी? बँगला लेख के अर्द्धांश में भी अधुनातन सोवियत साहित्य का ही प्रश्न उठाया गया है।

सोवियत साहित्य के बारे में कोई मन्तव्य प्रकाशित करना इसलिए कठिन हो जाता है कि हमें अपेक्षया थोड़ा ही सोवियत साहित्य अंग्रेजी के माध्यम से मिल पाता है। उसके आधार पर समस्त सोवियत साहित्य के प्रसार पर कुछ कहना कठिन है। मगर तब भी जो भी साहित्य हमारे सामने है, और वह भी कम नहीं है, उसके आधार पर कुछ सामान्य तथ्य निकाले जा सकते हैं।

'उन्नततर समाज का साहित्यिक प्रतिफलन अभी भी आशा के अनुरूप नहीं है, इसलिए असहिष्णु न होना चाहिए।' इस प्रसग में विद्वान लेखक ने दो बातें विचारार्थ रखी हैं जो हमें उपयोगी और महत्त्वपूर्ण लगती हैं। पहली बात तो यह है कि 'नई समाज-व्यवस्था की स्थापना' के साथ ही साथ उनकी भित्ति पर नई, उन्नततर संस्कृति स्वतः खड़ी हो जाती है—यह मार्क्सीय युक्ति नहीं है। दोनों में ऐसा सीधा संबंध खोजना यांत्रिक दृष्टिकोण का परिचय देना है। इसी यांत्रिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप, 'वामपंथी' उत्साह के अनुचित आधिक्य के वशीभूत होकर अक्सर तमाम पुराने साहित्य को 'फ्यूडल' या 'बूर्ज्वा' कहकर उसे 'सर्वहारा' साहित्य के मुकाबले में हेय करार दिया जाता है। इस युक्ति में भूल इस स्थान पर है कि इसमें समाज-मानस के ऊपर समाज व्यवस्था के प्रचण्ड प्रभाव पर तो बहुत जार दिया जाता है मगर स्वयं समाज-मानस समाज-व्यवस्था को कितना प्रभावित करता है यह बात प्रायः उपेक्षित रह जाती है। इसलिए यह आशंका अस्वाभाविक नहीं है कि समाज-व्यवस्था के संग समाज-मानस का जोड़ बिठालने के लिए परिकल्पना या योजना के नाम पर जोर-जबर्दस्ती होगी।...

'असल बात यह है कि समाज-व्यवस्था और समाज-मानस एक दूसरे का हाथ पकड़-कर कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ते कभी नहीं देखे गये। दोनों की रफ्तार एक नहीं होती।' कभी एक आगे बढ़ जाता है, कभी दूसरा। समाज-व्यवस्था में परिवर्तन द्रुतगति से आ सकता है; मगर समाज-मानस में परिवर्तन अपेक्षया धीरे-धीरे ही होता है, इसलिए अधीर होने से काम नहीं चलेगा। समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में तो क्रान्ति पूर्ण होने आयी, मगर नवीन संस्कृति, क्रान्तिकारी संस्कृति का अभ्युत्थान तो अभी अधिक समय लेगा। यह निर्माण की क्रिया में है, उसका निर्माण अभी हो नहीं गया है।

दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह है, कि स्वयं सोवियत साहित्य के आदर्शों में परिवर्तन आया है। क्रान्ति के ठीक बाद सोवियत साहित्य में वास्तव घटना का यथा-यथ चित्र देने पर विशेष आग्रह होता था। लेकिन धीरे-धीरे जब कुछ स्थैर्य आया और सोवियत के लोगों ने क्रान्ति के अर्थ को अच्छी तरह समझा, तब इस यथायथ वर्णन का स्थान इतिहासबोध से समृद्ध साहित्य ने ले लिया।

सोवियत साहित्य में आज यही धारा चल रही है—अतीत काल से चली आती

हुई परंपरा के साथ वर्तमान का संबंध जोड़ने का प्रयत्न। यही चेतना शोलोखोव के उपन्यासों (ऐंड क्वायट फ्लोज द डान आदि), अलेक्सी टाल्सटाय के उपन्यास 'द रोड टु कैल्वरी' और एरेनबुर्ग के उपन्यास 'फॉल ऑफ पैरिस' में मुखर है। इनके अलावा 'चंगेज़ खाँ', 'बाटू खाँ', 'दिमित्री दान्स्क्वा' आदि अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सोवियत साहित्य नवीन, क्रान्तिवादी साहित्यादर्श के अनुसंधान के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। नयी सांस्कृतिक चेतना अपनी अभिव्यंजना का उपयुक्त माध्यम ढूँढ़ रही है। यों तो साहित्य सदा ही प्रयोग का क्षेत्र है, पर आधुनिक सोवियत साहित्य के संबध में तो यह बात विशेष रूप से लागू है। इसीलिए उसके संबंध में विचार करते हुए यह बात निरन्तर ध्यान में रखनी चाहिए।

अब हम समझते हैं कि हमने जो शंका आरंभ में उठाई थी उसका सामान्य समाधान कठिन न होगा, मगर पूर्ण समाधान वह नहीं है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर और गहरे ढंग से विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि यह प्रश्न भी साहित्य के स्थायित्व के मूल प्रश्न से संबद्ध है।

जान समरफील्ड ने सोवियत साहित्य के प्रसंग में यह जो प्रश्न उठाया है कि उसका टाल्सटाय कब जन्मेगा, वही प्रश्न हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों के सामने इस रूप में उपस्थित किया जाता है कि 'प्रगतिशीलों' का प्रेमचन्द कब जन्मेगा? मुझे बतलाया गया है कि बँगला के प्रगतिशील साहित्यकारों के सामने यही बहुरूपिया प्रश्न इस रूप में आता है कि तुम्हारा रवीन्द्रनाथ कब जन्मेगा? प्रश्न एक ही है, केवल उसका रूप बदला हुआ है।

प्रश्न ऊपर-ऊपर से देखने पर बड़ा व्यर्थ-सा लगता है, जैसे केवल परीशान करने के लिए किया गया हो (उसके पीछे यह भाव बिलकुल न रहता हो, यह भी मैं नहीं कहूँगा!) मगर वास्तव में यह एक गंभीर प्रश्न है। जब हमसे यह प्रश्न पूछा जाता है कि 'प्रगतिशीलों' का (बिलकुल अपना, विशुद्ध!) प्रेमचन्द आने में अभी कितनी देर है, तो इस प्रश्न का अभिप्राय यह होता है कि प्रगतिशील साहित्यादर्शों से अनुप्राणित ऐसा महान कलाकार कब हमारे सामने आयेगा जो इस नई क्रान्तिकारी युगचेतना को दृष्टि के उतने ही प्रसार और अनुभूति की उतनी ही गहराई से प्रस्तुत कर सके जितना कि प्रेमचन्द ने युगसन्धि के काल की चेतना को अपनी कृतियों में किया; जो अपनी जनता के सुख-दुःख को उतना ही समझता हो जितना कि प्रेमचन्द समझते थे; जो कला की दृष्टि से प्रेमचन्द से उतना ही आगे बढ़ा हुआ हो जितना प्रेमचन्द तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यासों से आगे बढ़े हुए थे। इसी तरह और भी बहुत-सी बातें हो सकती हैं मगर मोटे रूप में इस प्रश्न का यही अभिप्राय है।

यह बात बहुत संतोष देनेवाली है कि प्रगतिशील लेखकों से अब यह प्रश्न किया जाने लगा है, क्योंकि इस प्रश्न में कहीं यह बात अवश्य छिपी हुई है कि इस नये युग की आशा-आकांक्षा को मूर्त रूप देने का दायित्व हमारा है। जिसमें दे सकने की क्षमता होती है उसी से तो माँगा जाता है।

अब पहले तो यह बात साफ कर लेनी चाहिए कि क्या किसी 'वाद को अपने जीवन में स्वीकार करनेवाला साहित्यकार अथवा उसका साहित्य महान् हो सकता है? नहीं, और हाँ, दोनों। नहीं इसलिए कि यदि कोरा 'वाद या कोरी सिद्धान्त-चर्चा साहित्य में रहेगी तो वह जीवन्त साहित्य न होगा, यानी अगर 'वाद किसी लेखक पर इतना हावी हो गया है कि उसने स्वतन्त्र चिन्तन की सभी राहें रूँध दी हैं या जीवन की विशाल, फैली हुई भूमि पर एक स्वतत्र संवेदनशील मनुष्य की तरह घूमने की सारी स्फूर्ति छीन ली है, तो निश्चय ही उसमें जीवन का स्पन्दन न होगा। ऐसे साहित्य को हम वादाक्रान्त साहित्य कह सकते हैं। ऐसा साहित्य अधिक से अधिक अपने रचना-कौशल से पाठक को थोड़ी देर के लिए चमत्कृत कर सकता है, पर स्थायी रूप से उस पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी विशेष जीवन दर्शन को अपनाने या मन की समग्र निष्ठा से ग्रहण करने की स्वतंत्रता लेखक को नहीं है। अगर ऐसी बात हो तब तो इससे बड़ी दूसरी परतन्त्रता हो नहीं सकती। मगर ऐसी बात नहीं है। जब किसी बड़े लेखक के 'वादों से ऊपर उठ जाने की बात कही जाती है तब उससे यही समझना चाहिए, उसका एक यही अर्थ हो सकता है कि उस लेखक ने 'वाद से ऊपर जीवन को रखा, किसी 'वाद को भाँग की तरह घोलकर नहीं पी लिया, बल्कि अपने जीवन में उसकी अग्निपरीक्षा लेकर उसे अपने जीवन का अनुभूत सत्य बनाया। जीवन की परिस्थितियों और 'वाद (बात को साफ करने के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ, नहीं तो जीवनदर्शन अधिक उपयुक्त होता) के परस्पर घात-प्रतिघात से जो चीज, जो भाव, जो विचार उत्पन्न होते हैं उनके खरेपन पर साहित्य का खरापन भी निर्भर होता है। इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्सवाद से अधिक जीवन्त, अधिक क्रान्तिकारी, अधिक लोक-कल्याण-मूलक, अधिक सच्चा वाद (जीवन-दर्शन) दूसरा नहीं है, मगर उसके संबंध में भी (बल्कि यह कहें कि उसके संबंध में तो और भी) यह बात बिलकुल सच है कि मार्क्सवाद को किताबें-भर पढ़ लेने से या उसकी मान्यताओं को कश्मीरी शाल की तरह ओढ़ लेने से व्यक्ति के अपने मन को सन्तोष भले मिले, मगर उससे बात नहीं बनती यानी कोई नयी बात नहीं पैदा होती, यानी उस बात में ताकत नहीं आती। बात में ताकत तो तब आती है जब उसके पीछे, उसकी छोटी से छोटी बात के पीछे जीवन का, व्यक्ति के निजी अनुभवों का, अनुभूति का प्रमाण हो। तभी दर्शन जीवनदर्शन बनता है। तभी किसी 'वाद को अपने जीवन

की प्रेरक शक्ति बनाना सार्थक होता है। तभी यह कहना ठीक है कि 'मैं अमुक 'वाद में विश्वास करता हूँ।' यदि 'वाद सत्य के अनुसन्धान में दृष्टि का काम करे, पज्ञमुर्दा वजन को ढोनेवाली बैसाखी का नहीं, तो उसमें कोई बुराई नहीं है। इस रूप में जीवन में 'वाद को ग्रहण करनेवाला साहित्यकार कभी पथ से नहीं भटक सकता। उसके साहित्य को वादाक्रान्त या वादग्रस्त भी नहीं कहा जा सकेगा ; उसमें से 'वाद का लोप न हो जायगा, मगर ऐसा लगेगा कि 'वाद का लोप हो गया है ; क्योंकि जीवन के घात-प्रतिघात (मोटी जबान में जिन्दगी की टक्करें) से 'वाद एक सहज सत्य बन जाता है जो सबसे अपने आपको (एक प्रकार से बलात्, मगर तब भी अनायास) मनवा लेता है। जीवन के संघर्षों में ऐसा कोई रासायनिक गुण है जिसके कारण लोहे को अपने स्पर्शमात्र से सोना बना देनेवाली यह कीमिया संभव होती है। कोरे 'वाद को लोहा इसी अर्थ में कहा कि उसमें एक प्रकार की आपेक्षिक जड़ता है, क्योंकि मैं न तो उस सत्य का अनुसंधान करनेवाला हूँ और न ही मैंने उसे अपने जीवन में फिर से उपलब्ध किया। अपने जीवन में मैंने जब उसे उपलब्ध किया तब उसमें वह चमक-दमक आयी, वह निखार आया जिसका संकेत सोने में है। लेखकों के लिए हमारी इस बात का सचाई परखना बहुत आसान है। आप दो कहानियाँ या कविताएँ लिखिए। एक में आप खूब भारी-भरकम मार्क्सवादी शब्द-जंजाल का प्रयोग कीजिए या जीवन के उन पहलुओं के चित्रण से भी बाज न आइए जिनका आपको रत्ती-भर परिचय नहीं यानो आप मजदूरों के बारे में लिखिए, बावजूद इसके कि आपने एक असली, जीता-जागता मजदूर न देखा हो, न उससे बात की हो ; किसानों के बारे में लिखिए, बावजूद इसके कि आपने एक गाँव की शकल न देखी हो और मेरी ही तरह आपको यह तक न मालूम हो कि किस महीने में कौन-सी फसल होती है, गेहूँ जाड़े में होता है कि गर्मी में ! अपनी इस रचना में आप अपने मन की सारी व्यथा, सारा आक्रोश, वर्ग-संघर्ष आदि मार्क्सवाद के सारे अनिवार्य सत्य उँडेलकर रख दीजिए...और फिर उस रचना को अपनी अलमारी में रख दीजिए। फिर एक दूसरी चीज लिखिए जिसमें आप अपने मार्क्सवाद को भूल जाइए यानी उसे अवचेतन में ही रहने दीजिए और ऐसी कोई कथावस्तु उठाइए जिससे आपका निकटतम परिचय है, जिसने आपके मन को सबसे अधिक आन्दोलित किया है, पीड़ा पहुँचाई है या सुख पहुँचाया है, जिसने आपके मन के किसी पूर्वकालिक संस्कार को सबसे निर्मम रूप में आघात पहुँचाया है। इस कथावस्तु को अथवा भाववस्तु को आप अधिक से अधिक अकृत्रिम (जिसका अर्थ कलाहीन नहीं है) प्रकृत ढंग से व्यक्त कीजिए, मार्क्सवादी सिद्धान्तों की सत्यता का प्रमाण जुटाने की कोशिश मत कीजिए, उल्टे उससे बचिए। फिर अपनी ये दोनों रचनाएँ अपने इष्टमित्रों को, साहित्य-रसिक बन्धु-बान्धव को सुनाइए। लोगों की जो प्रतिक्रिया होगी उससे आपके मन में

सन्देह न रह जायेगा कि आपकी कौन-सी रचना सफल हुई है और कौन-सी विफल और साथ ही यह कि क्रान्तिकारी चेतना के प्रसार के उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही आपको किस प्रकार की रचना करनी चाहिए। हो सकता है कि आपकी दूसरी रचना में किसानों-मजदूरों का नाम भी न हो। हो सकता है कि उसमें आपने किसी पारिवारिक समस्या की जटिलता का ही दिग्दर्शन कराया हो। हो सकता है कि उसमें आपकी व्यक्तिगत किसी समस्या पर ही दृष्टि डाली गयी हो। कथावस्तु चाहे जो हो, चूँकि उसमें आपकी अपनी अनुभूति का स्पन्दन होगा, इसलिए उस रचना में भी जीवन होगा, शक्ति होगी, पाठक का हृदय छू सकने की, उसे हँसा या रुला सकने की क्षमता होगी। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में अनुभूति का ही खरा सिक्का चलता है (कोरे 'वाद पीछे छूट जाते हैं ; 'वादों को भी अनुभूति के माध्यम से आना पड़ता है)। बिना गहरी, सच्ची अनुभूति के समर्थ साहित्य की रचना नहीं हो सकती। यह बात सामंतयुगीन साहित्य के लिए या पूँजीवादी साहित्य के लिए जितनी सच्ची थी और है, उतनी ही सच्ची आज के क्रान्तिकारी, सर्वहारा साहित्य के लिए भी है।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या दूसरे प्रकार का साहित्य सामाजिक जनक्रान्ति की दृष्टि से महत्त्व रखेगा ? अत्यन्त अनुभूति-प्रवण होते हुए भी अगर कोई रचना आज की वैषम्यमूलक समाज-रचना को बदलने में योग नहीं दे सकती तो उसका मूल्य विशेष न होगा, इसमें सन्देह नहीं ; मगर क्या कोई रचना आज की वैषम्यमूलक समाज-रचना को बदलने में इसी कारण योग नहीं दे सकती कि उसमें किसानों-मजदूरों की चर्चा नहीं है ? क्या घर की इकाई में क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है ? क्या नयी और पुरानी मान्यताओं का संघर्ष अकेले राजनीति के प्रांगण में हो रहा है ? क्या वही संघर्ष स्पष्ट या प्रच्छन्न रूप में किंचित् छोटे पैमाने पर हमारी पारिवारिक व्यवस्था के क्षेत्र में नहीं हो रहा है ? समाज की एक आवश्यक, आधारभूत इकाई परिवार है। क्या समाज की क्रान्ति में ही पारिवारिक व्यवस्था की क्रान्ति भी निहित नहीं है ? अब व्यक्ति-मानस को लीजिए। मैंने अपने कुछ मित्रों को ऐसी कविताओं पर नाक-भौं सिकोड़ते देखा है जिनमें कवि अपने अंतर्द्वंद्व को, मानसिक संघर्षों और सन्देहों को व्यक्त करता है। मैं यह नहीं कहता कि ऐसी रचनाएँ सब अच्छी या प्रगतिशील होती हैं या यह कि उनमें प्रतिक्रियाशील तत्वों का समावेश नहीं हो सकता। हो सकता है और होता है। मगर इस बात का निर्णय तभी हो सकता है जब प्रत्येक कविता पर, उसकी शैली चाहे जो हो, स्वतन्त्र रूप से विचार हो। किसी कविता को केवल इसलिए उपेक्षा की दृष्टि से देखना कि उसकी शैली व्यक्तिमूलक है, बिलकुल असंगत, सारहीन बात है और नये साहित्य के विकास में बाधा पहुँचाती है। 'विशुद्ध' साहित्य और 'विशुद्ध' कला की प्रतिक्रिया के रूप में 'विशुद्ध सर्वहारा साहित्य'

या इस तरह की कोई माँग एक आत्महन्ता माँग है। व्यक्तिमूलक होने मात्र से कविता उपेक्षणीय नहीं हो जाती। व्यक्ति के युगों के संस्कार आज बदल रहे हैं, उनमें भी क्रान्ति आ रही है, सभी चेतन व्यक्तियों में चतुर्दिक् भयंकर मानसिक संघर्ष चल रहा है। युगसन्धि के इस द्विधा-पीड़ित मनुष्य का गायन कवि नहीं तो और कौन करेगा? स्वयं अपने मन के संघर्ष को व्यक्त करने के लिए कवि के पास गान के अलावा और कौन-सा माध्यम है? और क्या इस प्रकार की रचना करके कवि सामाजिक जनक्रान्ति में योग नहीं दे रहा? प्रगतिशील साहित्य का क्षेत्र बहुत विशाल है। वह इतना विशाल है कि उसमें सबको अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार अपनी शैली में रचना करने का अवकाश है। कोई कवि यदि प्रकृत्या या किसी समय व्यक्तिमूलक शैली में रचना करता है, जिसका राजनीतिक आशय उतना मुखर नहीं है तो उसे इसी नाते प्रगतिशीलता की कोटि से खारिज करने की प्रवृत्ति कविता के भविष्य के लिए घातक है। समाज की इकाई व्यक्ति है। अतः व्यक्ति की उधेड़बुन भी समाज के लिए महत्त्व रखती है। उससे संबंध रखनेवाली रचना भी प्रगतिशील हो सकती है, सारी बात दृष्टिकोण की है। कवि का दृष्टिकोण यदि पुराना है, पीछे की ओर ले जानेवाला है, समाज के ऊपर व्यक्ति को बिठाल देनेवाला है, तो रचना प्रगतिशील न कहलायेगी, लेकिन यदि कवि का दृष्टिकोण स्वस्थ मानसिक संघर्ष का है, जिसमें व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंध को समाज और व्यक्ति दोनों के मंगल के दृष्टिकोण से सुलझाने का भावात्मक प्रयास होगा तो कविता को प्रगतिशील कहना चाहिए।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रगतिशील 'वाद का प्रयोजन निजी अनुभूति का स्थान लेना नहीं, बल्कि जीवन को दिशा देना है, जिसमें व्यक्ति जीवन के उन विशाल खण्डों का अनुभव प्राप्त करे जो हमारे सामाजिक जीवन की धुरी हैं और जो सम्प्रति इस प्रतीक्षा में हैं कि क्रान्ति की चिनगारी उन्हें छूकर उजागर कर दे। हमें यह कहने मे तनिक भी सङ्कोच नहीं है कि 'वाद को इस भाव से ग्रहण करनेवाले साहित्यकार की सृष्टि 'वादाक्रान्त' तो न होगी, और चाहे वह जो हो। इसी अर्थ में समर्थ साहित्य वादाक्रान्त न होते हुए भी अपने युग के किसी न किसी 'वाद (उसे चाहे जो कहकर पुकार लीजिए) को शक्ति पहुँचाता है और प्रत्यक्ष नहीं (और अधिकांशतः प्रत्यक्ष नहीं) तो परोक्ष रूप में।

अब हमें यह देखना है कि 'प्रगतिशील साहित्यादर्शों' से अनुप्राणित ऐसा महान् कलाकार कब हमारे सामने आयेगा जो इस नई क्रान्तिकारी युग-चेतना को दृष्टि के उतने ही प्रसार और अनुभूति की उतनी हीगहराई से प्रस्तुत कर सके जितना कि प्रेमचन्द ने युगसन्धि के काल की चेतना को अपनी कृतियों में किया; जो अपनी जनता

के सुख-दुःख को उतना ही समझता हो जितना कि प्रेमचन्द समझते थे ; जो कला की दृष्टि से प्रेमचन्द से उतना ही आगे बढ़ा हुआ हो जितना प्रेमचन्द तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यासों से आगे बढ़े हुए थे।...'

इस प्रश्न में ही यह बात निहित है कि ऐसा साहित्यकार अभी हमारे सामने नहीं है, इसलिए उस बात पर तो कोई बहस नहीं है।

अब इस सवाल का एक सीधा-सादा चलता हुआ जवाब तो यह है कि प्रेमचन्द या रवीन्द्रनाथ जैसी साहित्यिक विभूतियाँ रोज-रोज नहीं पैदा होतीं। यह एक चलतू जवाब तो है ही, मगर उसके साथ ही साथ उसमें सत्य का अंश भी है।

जो युगान्तरकारी कलाकार होते हैं वे अपने युग तक के सारे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास को अपने अन्दर समाहित कर उसी के आधार पर भविष्य-विधान करते हैं। आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ऐसे ही युगान्तरकारी कलाकार थे। उन्होंने अपने युग तक के संचित विकास को तो रूप दिया ही, उसके साथ ही साथ उन्होंने भविष्य-विकास का पूर्वरूप भी दिखलाया। भारतेन्दु के बाद प्रेमचन्द ने भारतेन्दु के बाद के सारे विकास को अधिकृत किया, भारतेन्दु और उनके मण्डल के साहित्यिकों के कहने के ढंग (भाषा, शैली आदि) और कही हुई बात में जो चीजें बीजरूप में वर्तमान थीं, उन्हें प्रेमचन्द ने पूरी तरह विकसित किया और उसके साथ ही साथ कुछ नये बीज भी बोये जैसा कि प्रत्येक युगान्तरकारी साहित्यकार करता है। वे बीज उर्वर भूमि पर पड़े हैं और उनमें से नये अंकुर और नये पौदे फूटे हैं और निरन्तर फूट रहे हैं। मगर अभी ऐसा एक कोई साहित्यकार नहीं हुआ है जो इस क्रांतिकारी युग को पूरी तरह वाणी दे सके। उपन्यास और कहानी और विशेषकर कहानी के क्षेत्र में काफी प्रौढ़ साहित्य रचा गया है जो कहानीकला और कथावस्तु दोनों ही की दृष्टि से, विशेषकर कहानीकला (टेकनीक) की दृष्टि से, प्रेमचन्द से किसी हद तक आगे बढ़ा हुआ है। अज्ञेय की 'रोज', यशपाल की 'परदा', राधाकृष्ण की 'एक लाख सत्तानबे हजार...', चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की 'बेजुबाँ' आदि कई कहानियों के नाम लिये जा सकते हैं जो भावगांभीर्य और सुघर कलात्मकता में प्रेमचन्द की 'कफन' की परम्परा को आगे बढ़ाती हैं। कई साल पहले कांतिचन्द्र सौनरिक्सा ने एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने यह दावा किया था कि प्रेमचन्द के बाद की कहानी प्रेमचन्द से एक हजार कदम आगे है! इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने अपने उत्साह के आवेश में यह जो दर्पस्फीत उक्ति की है उससे उसका बचकानापन ही टपकता है; मगर उसके बावजूद हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कहानी ने विकास किया है और वह विकास बहुत सामान्य नहीं है। पिछले दस-बारह बरस की कहानियाँ उलटने

पर अनेक ऐसी कहानियाँ मिल जायँगी जो प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियों की तुलना में रखी जा सकती हैं; मगर जब हम नये साहित्य के समूचे कृतित्व पर दृष्टि डालते हैं तो प्रेमचन्द के मुकाबले में वह सचमुच कमजोर और फीका जान पड़ता है। मगर सन्तोष की बात यह है कि नई जीवन-दृष्टि की अनुप्रेरणा से पर्याप्त मात्रा में साहित्य-सर्जन हो रहा है। नये साहित्य के इस परिमाण में ही यह संभावना निहित है कि निकट भविष्य में प्रगतिशील कहानियों का सामान्य कलात्मक स्तर ऊँचा हो जायगा। जिस निर्द्वन्द्व रूप में, प्रचुर परिमाण में प्रगतिशील कहानियाँ इधर कुछ बरसों से लिखी जा रही हैं, उन्होंने प्रगतिशील हिन्दी कहानी के कलात्मक सौंदर्य की अभिवृद्धि में भी योग दिया है।

हमने ऊपर कहा कि प्रेमचन्द का साहित्य अपने युग के सार्वत्रिक विकास का पुञ्जीभूत रूप है, और केवल इतना ही नहीं, उस पूरे विकास को करायत्त कर सकने के कारण ही उसमें भावी की प्रतिश्रुति भी मिलती है। आर्यसमाज के प्रभाव के अन्तर्गत समाज-सुधार की चेतना और तिलक तथा गांधीजी के नेतृत्व में विकसित राष्ट्रीयता की चेतना, दोनों के अधिक से अधिक उन्नत, अधिक से अधिक उदात्त रूप हमें प्रेमचन्द में मिलते हैं और चूँकि एक स्वतंत्रचेता, निर्भीक, दैनंदिन राजनीतिक दाँव-पेंच से पृथक् साहित्यकार होने के नाते वे अपनी मान्यताओं के स्वाभाविक तर्क की अंतिम परिणति से घबराये नहीं, इसलिए गांधीजी के प्रभाव में रहते हुए भी सोवियत रूस, भावी भारत के रूप-विधान, वर्ग-साहचर्य आदि प्रश्नों पर उनके विचार गांधीजी की सामाजिक परिकल्पना की सीमाओं में बँधकर नहीं रह गये, प्रेमचन्द स्वतत्र रूप से कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे जिन्हें आज भी हम उग्र, और यदि क्रान्तिकारी नहीं तो क्रान्ति का समीपवर्ती तो कह ही सकते हैं। उनके सामाजिक निष्कर्ष निश्चय ही ऐसे नहीं थे जो आज के क्रान्तिकारी विचारक अथवा साहित्यकार को पूर्ण सन्तोष दे सकें, मगर उन्होंने मध्य-वर्गीय संस्कारों से मुक्त होकर अनेक समस्याओं पर विचार किया, यह बात असंदिग्ध रूप में कही जा सकती है। उनका साहित्य भारतीय ग्राम-जीवन का दर्पण है; उसकी सभी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, कमजोरियाँ और ताकत की बातें उसमें प्रतिबिम्बित हैं। प्रेमचन्द ने एक किसान के दृष्टिकोण से किसानों के बारे में लिखा है। किसानों की समस्या के सैद्धान्तिक निरूपण में जो कमियाँ हैं उनके मूल में भी किसान के प्राचीन संस्कार-विजड़ित दृष्टिकोण की स्वाभाविक अक्षमता और सीमाबद्धता है। प्राचीन संस्कारों से मुक्त करके नये विश्वास को जन्म देनेवाले क्रान्तिकारी किसान आन्दोलन का अभाव या निर्बलता भी वह एक बड़ा ऐतिहासिक कारण है जिसके कारण प्रेमचन्द उस दिशा में आमूल क्रान्ति का पथ देखने में असमर्थ रहे।

हिन्दीभाषी क्षेत्रों में आज भी किसान-आन्दोलन ऐसी शक्ति को नहीं प्राप्त हुआ

है कि वह समर्थ लेखकों की जीवन-दिशा को या भावधारा को बिलकुल बदलकर उस ओर उन्मुख कर दे, या नये क्रान्तिकारी किसान-लेखकों को जन्म दे। हम देख रहे हैं कि जैसे-जैसे यह आन्दोलन बल और वेग में बढ़ रहा है, वैसे-वैसे इस ओर सबलतर साहित्यिक प्रयास हो रहे हैं। हम समझते हैं कि इन आरंभिक प्रयासों में इस बात की प्रतिश्रुति है कि जैसे-जैसे यह आन्दोलन शक्तिशाली होगा वैसे-वैसे उसके साहित्यिक प्रतिफलन भी अधिक समर्थ होंगे। किसान-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ नवीन बँगला उपन्यासों को देखने से हमारा यह विश्वास दृढ़ होता है। उनमें बंगाल के क्रान्तिकारी किसान-आन्दोलन का सतेज स्वर सुनाई पड़ता है। अतः हमारा यह विश्वास सकारण है कि हिन्दीभाषी क्षेत्रों, मुख्यतया युक्तप्रांत, बिहार और मध्यप्रान्त में क्रान्तिकारी किसान-आन्दोलन के और भी जोर पकड़ने पर किसान-जीवन की व्यथा और आक्रोश, जीर्णशीर्ण पुरातन के ध्वंस और नये के निर्माण की चेतना को स्वर देनेवाला प्रगतिशील साहित्य निश्चय ही समर्थ होगा। अभी उक्त आन्दोलन इतना मजबूत नहीं हुआ है कि वह सच्चे अर्थों में समर्थ लेखकों का ध्यान बलात् अपनी ओर खींचकर उनसे वैसी रचनाएँ कराये। कुछ नये लेखकों ने किसान-जीवन पर आश्रित कहानियाँ, उपन्यास, कविताएँ लिखी हैं। उनको देखकर यह कहना ठीक जान पड़ता है कि इस दिशा में केवल उन लोगों के प्रयास genuine, सच्चे, समर्थ, प्राणवान् साहित्य की श्रेणी में आते हैं जिनका गाँव के जीवन से संपर्क है। जिन लेखकों का गाँव के जीवन से दूर का भी परिचय नहीं है, उनकी रचनाएँ एक विचित्र क्रान्तिकर कृत्रिमता के बोझ से कराहती रहती हैं। उन्हें अगर hothouse proletarian (!) साहित्य कहा जाय तो कुछ बुरा न होगा। हमने देखा है, ऐसी रचनाओं का तटस्थ साहित्यकारों पर बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है। बिना चित्रित जीवन के गम्भीर परिचय के साहित्य में वह चमत्कार पैदा ही नहीं हो सकता जो सीधे-साधे न्यस्त स्वार्थोंवाले लोगों को छोड़कर शेष सभी पाठकों के हृदय को, चाहे वे जिस भी विचार-धारा के हों, स्पर्श कर सके, अपने सामर्थ्य से आकृष्ट कर सके।

प्रगतिशील साहित्य मुख्यतया किसानों, मजदूरों और निम्न मध्यवर्ग का साहित्य है। किसान-विषयक साहित्य के संबंध में हमने मोटे रूप से विचार किया। मजदूर-विषयक साहित्य के संबंध में भी बहुत हद तक वही बात ठीक है। निम्न मध्यवर्ग प्रगतिशील साहित्य द्वारा काफी सफलतापूर्वक चित्रित हुआ है, यह बात निःसंकोच रूप में कही जा सकती है। उसका कारण भी यही है कि अधिकांश प्रगतिशील लेखक निम्न मध्यवर्ग के ही हैं।

हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन जिस हद तक और जिस सतही और सामयिक रूप में

किसानों के जीवन से संपृक्त था, उसको ध्यान में रखते हुए प्रेमचन्द का किसान-जीवन का परिचय असीम था। यह बात कहना आवश्यक है कि प्रेमचन्द को किसानों के जीवन का परिचय, उनकी भावनाओं का ज्ञान अनेक किसान-कार्यकर्ताओं से अधिक था। जबतक ऐसे प्रगतिशील साहित्यकार नहीं आगे आते जो किसानों किंवा मजदूरों के सुख-दुःख को, उनकी आशा-आकांक्षा को कम से कम उतना जानें जितना क्रान्तिकारी किसान अथवा मजदूर संगठक जानते हैं तब तक 'प्रगतिशील' प्रेमचन्द के आविर्भाव में देर है, ऐसा ही समझना चाहिए! और वह देरी इतिहास-सम्मत है क्योंकि हमारे सतेज राष्ट्रीय आन्दोलन के जिस स्तर पर पहुँच जाने के बाद प्रेमचन्द का जन्म हुआ, हमारा क्रांतिकारी आन्दोलन अभी उस स्तर पर नहीं पहुँचा है। इसलिए जो लोग अभी से प्रगतिशील प्रेमचन्द की माँग करते हैं उन्हें सामाजिक विकास के नियमों का ठीक ज्ञान नहीं है, ऐसा ही समझना चाहिए।

सन् ४७]

प्रेमचन्द : एक परिचय

प्रेमचन्द का जन्म लगभग उसी समय हुआ था जब कि इंडियन नेशनल कांग्रेस का।

कांग्रेस का जन्म इस बात की परोक्ष स्वीकृति थी कि देश में स्वतंत्रता की काफी सशक्त चेतना उस समय वर्तमान थी। स्वतंत्रता की भावना वातावरण में थी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रारंभ से ही प्रेमचन्द पर उसका प्रभाव पड़े।

प्रेमचन्द का जन्म १८८१ में हुआ था और उनकी साहित्यिक प्रौढ़ता का काल वही था जब कि बंगाल में बंगभंग-विरोधी और स्वदेशी आन्दोलन जोरों के साथ चल रहे थे। ये आन्दोलन इतने शक्तिशाली थे कि वे आसानी से बंगाल की भौगोलिक सीमा को पारकर समस्त देश के और नहीं तो कम-से कम पढ़े-लिखे और सोचनेवाले वर्ग की चेतना को प्रभावित कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस की मुहरवाली राजनीति अभी विधानवाद के दलदल में ही फँसी हुई थी, लेकिन उसके साथ ही साथ ऐसे कुछ दूसरे माध्यम भी थे, जिनमें देश की स्वातंत्र्य-चेतना अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज रही थी। जब एक समूचे देश में आजादी की भावना घर कर जाती है तब अकेली ठप्पेवाली राजनीति का ब्यौरा देने से काम नहीं चलता। भीतर ही भीतर न जाने कितने आवेग-उद्वेग जन-मन को आलोड़ित करते रहते हैं। वे सदा इतने शक्तिशाली तो नहीं होते कि घटनाचक्र को बदल दें; लेकिन उनका प्रभाव भी धीरे-धीरे पड़ता रहता है और उस हद तक वे इतिहास के निर्माण में योग देते हैं। यह भी सच है कि बहुधा अखबार की सुर्खियों में उनका नाम नहीं आता, मगर वह लेखक किस काम का जो केवल उन्हीं बातों का हवाला देता है जिनका नाम मोटी-मोटी सुर्खियों में आता है। लेखक का काम वस्तु-जगत् के परिवर्तनों को ही लिपिबद्ध करना नहीं है; उसका काम यह भी है कि वह मनुष्य के मन के भीतर होनेवाले परिवर्तनों को भी लिपिबद्ध करे। और जैसा कि हम जानते ही हैं, भारतीय मानव का मन उस काल में अत्यन्त आन्दोलित एवं क्षुब्ध था। उसकी अभिव्यक्ति मिली राष्ट्रीय आन्दोलन में जो विधानवाद की अप्राकृतिक सीमाओं से अवरुद्ध होते हुए भी उस परिस्थिति में एक जाग्रत देश का सबसे मजबूत, संगठित, आगे बढ़ा हुआ कदम था। मगर कांग्रेस के नेतृत्व में चलनेवाले इस आन्दोलन के अलावा एक आन्दोलन और था, आतंकवाद का आन्दोलन, जो व्यक्ति की वीरता और आत्मोत्सर्ग की भावना पर आधारित था

राष्ट्रीय स्वतंत्रता के जन-आन्दोलन के हथियार के रूप में इस आन्दोलन की विफलता अवश्यंभावी थी, क्योंकि उसका आधार जनचेतना नहीं थी ; मगर इतना होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आतंकवादी 'ऐक्शनों' ने भी उस समय हमारी जनता के मन में अंग्रेज गुलाम बनानेवालों के विरुद्ध पवित्र घृणा का संचार किया और उसे आजादी के लिए लड़ने को जगाया। सन् १६०८ में भारतीय श्रमिकवर्ग ने पहली बार राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। उसी वर्ष बंबई के श्रमिकवर्ग ने लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हड़ताल की। इसलिए यह कहना ठीक है कि इस शती के पहले दशाब्द में ही सतेज श्रमिक आन्दोलन का प्रथम उन्मेष दिखाई दिया, वही आन्दोलन जो आज हमारे समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अपरिहार्य अंग बन गया है।

कांग्रेस की सीमा के बाहर चलनेवाले ये आन्दोलन समस्त राष्ट्रीय आन्दोलन की गहराई और उसके प्रसार को कई गुना बढ़ा रहे थे। उन्हीं के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन सजे-सजाये ड्राइंगरूम के बाहर निकलकर सड़क पर आ सका, जहाँ लोग संघर्ष कर रहे थे, आहुति दे रहे थे, लड़ रहे थे। उनके बिना कदाचित् वह आन्दोलन सजे-सजाये कमरों में ही सीमित रह जाता जहाँ कुछ बड़े विचक्षण उदारपंथी राजनीतिज्ञ शासकों के समक्ष पेश की जानेवाली स्मारकलिपि का मसविदा बैठे तैयार किया करते थे।

प्रेमचन्द ने इसी गम्भीरतर राष्ट्रीय जागरण का अभिनन्दन किया, केवल उदार-पंथियों के नेतृत्व में चलनेवाले कांग्रेस आन्दोलन का नहीं। सन् १९०१ के आसपास प्रेमचन्द ने अपना पहला उपन्यास 'श्यामा' लिखा। मुझे बताया गया है (किताब अब उपलब्ध नहीं है) कि उसमें प्रेमचन्द ने बड़े सतेज, साहसपूर्ण स्वर में ब्रिटिश कुशासन की निन्दा की है। वही भावधारा उस काल की कई कहानियों में मिलती है। इन कहानियों का संग्रह, संभवतः १९०६ में 'सोजेवतन' के नाम से हुआ। यह किताब फौरन जब्त कर ली गयी। इस किताब के प्रकाशन से उसके लेखक को जो उस समय गवर्नमेंट नार्मल स्कूल में अध्यापक था, बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि लेखक को अपना असली नाम 'धनपतराय' त्यागकर एक छद्मनाम या उपनाम 'प्रेमचन्द' अपनाना पड़ा। इस पीढ़ी के लोगों के लिए यह एक खासी रोमांचकारी कहानी है; लेकिन इससे इस बात का कुछ आभास मिलता है कि अभी कुछ ही काल पहले तक हमारे शासक देश पर कैसे विकट ढंग से डण्डे के जोर पर राज करते थे, और तब से अब हम कितना आगे बढ़ आये हैं।

अपने जीवन और साहित्य दोनों में प्रेमचन्द पूर्णरूप से जनवादी थे। वे अपनी जनता को अच्छी तरह जानते थे ; वे उसे बहुत प्यार करते थे और उन्होंने अपनी

कलम का इस्तेमाल जनता के हित में लड़नेवाली चमकदार तलवार के रूप में किया। सभी मामलों में, चाहे वे राजनीतिक हों, चाहे आर्थिक, चाहे सामाजिक, किसी बात के अच्छे और बुरे की उनकी एक और अकेली कसौटी यह थी कि उससे जनता को फायदा पहुँचता है या चोट लगती है। इसीलिए उनकी रचनाओं में हमें एक व्यावहारिक ढंग का 'समाजवाद' दिखाई पड़ता है। यह सही है कि उसमें बहुत-सी खामियाँ हैं जिनमें से कुछ बड़ी संगीन हैं; लेकिन मोटे रूप में उनके निष्कर्ष अधिकांशतः सही हैं। उनके सामाजिक निष्कर्षों में कोई गलती न रह जाये, इसके लिए प्रेमचन्द को वैज्ञानिक समाजवादी बनना पड़ता, जो कि वे नहीं थे। लेकिन वे जनता के संग कंधे से कंधा मिलाकर खड़े हुए, इसीलिए सत्य उनके साथ था, इतिहास उनके साथ था। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह बात स्वाभाविक जान पड़ती है कि भारतीय पुनर्जागरण के महान् लेखकों में वे ही ऐसे हैं, जो अपने सामाजिक निष्कर्षों में क्रांतिकारी या वैज्ञानिक समाजवाद के सबसे समीप हैं। वैज्ञानिक समाजवाद और प्रेमचन्द के अपने वैचारिक विकास में सामंजस्य स्थापित करनेवाला तत्त्व है जनता। यही सबसे बड़ा कारण है कि क्यों प्रेमचन्द अपने वैचारिक जगत् में भ्रमण करते हुए भी कभी सत्य के पथ से, समाजवाद के पथ से, बहुत दूर नहीं भटके। उनके निजी अनुभवों ने उनके विचारों का निर्माण किया था। पढ़ने के व्यसनी होने के नाते किताबों से भी उन्होंने सीखा अवश्य; लेकिन उससे कहीं अधिक उन्होंने सीखा जीवन से। इसीलिए अगर कोई रचना-कालक्रम से प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों को पढ़े, तो बहुत सूक्ष्म अध्ययन के बिना भी वह इस बात को सहज ही लक्ष्य कर सकता है कि प्रेमचन्द विचारों की दिशा में क्रमशः समाजवाद के पास पहुँचते जा रहे थे।

प्रेमचन्द की पुस्तकों में समाजवादी या समाजवाद-उन्मुख विचारों का निरन्तर स्थायी रूप से प्रवेश राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास से पृथक् तो नहीं है, अग्रगामी अवश्य है। सभी समस्याओं के समाधान के लिए हर दशा में जनवाद के सिद्धान्तों का ही आश्रय लेते हुए, उन्होंने अपने उपन्यासों व कहानियों में ऐसे विचारों का प्रचार किया जिन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन ने क्रमशः स्वीकार किया। जैसे-जैसे आन्दोलन का आधार और व्यापक हुआ और उसमें जनता के नये और अधिक क्रान्तिकारी अंशों का प्रवेश हुआ, वैसे-वैसे इन नये अंशों के प्रभावस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन की मान्यताएँ भी बदलीं और वह क्रान्तिकारी जनता की आर्थिक और सामाजिक न्याय की माँगों को स्वीकार करने पर विवश हुआ। इस तरह प्रेमचन्द ने प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया कि एक महान् लेखक सामाजिक जीवन का इतिवृत्तकार ही नहीं होता, बल्कि द्रष्टा भी होता है जो अपने स्वप्न को भविष्य के पर्दे पर फेंकता है।

जीवन में जनवादी, साहित्य में यथार्थवादी प्रेमचन्द ने जीवन को जैसा देखा

वैसा ही उसे चित्रित किया। उन्होंने रोमांस के इन्द्रधनुषी रंगों या अध्यात्मवाद के गहरे खाकी रंगों को सत्यदर्शन में बाधक नहीं होने दिया। इसीलिए उनका चित्रण इतना सच्चा और प्रभावोत्पादक है।

लेकिन उनके उपन्यासों और कहानियों में अनेक स्थलों पर गलत सुर बज उठता है। पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि कभी-कभी कहानी का अन्त बाकी कहानी से बिलकुल मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में लेखक कथा के स्वाभाविक विकास पर अपने आपको लादता-सा जान पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि कहानी का प्रकृत विकास तो उसे एक प्रकार के उपसंहार की ओर ले जाता है, और कहानीकार की पूर्व-निश्चित योजना उसे भिन्न या कभी-कभी विपरीत दिशा में जाने को विवश करती है। जब भी ऐसा हो, उसे कहानी का बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझना चाहिए। और अब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है?

ऐसा इसलिए होता है कि लेखक अब तक पूँजीवाद द्वारा पोषित कुछ भ्रान्तियों का बन्दी है। पूँजीपतिवर्ग स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व के आदर्शों की घोषणा करता है लेकिन उन साधनों का आयोजन नहीं करता जिनके द्वारा इस मौखिक आदर्श को जीवन में चरितार्थ किया जा सके। और इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि वह वास्तविक समता स्थापित कर नहीं सकता, क्योंकि वह स्वयं विषमता पर आधारित है—जाति-जाति में वैषम्य, स्त्री-पुरुष में वैषम्य, अमीर-गरीब में वैषम्य। इसीलिए यह कहा जाता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत 'स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व' केवल एक युद्ध का नारा है, जिसका उपयोग वर्द्धिष्णु पूँजीपतिवर्ग सामंतवादी एकतंत्र के विरुद्ध लड़ते समय करता है। मगर धीरे-धीरे जब स्वयं उसका ह्रास होने लगता है और उसके अंदर विकास के तत्त्व एकदम निःशेष हो जाते हैं तब यह नारा पहले से भी अधिक खोखला हो जाता है, क्योंकि विकास अवरुद्ध होने और ह्रास आरंभ होने के साथ-साथ उसकी रही-सही वास्तविकता भी नष्ट हो गयी रहती है और वह क्रमशः एक ऐसा झूठा नारा हो जाता है जिसे सुनकर सभी सच्चे जनवादियों के कान जैसे जल उठते हैं। लोग अगर पूँजीवाद के वास्तविक रूप को जान जायेंगे, तो उसका खेल-तमाशा खत्म। इसीलिए पूँजीवाद हर तरह के भ्रामक परिधान से अपने को ढँक कर अपनी उस वास्तविकता को छिपाना चाहता है। ऐसी स्थिति में दोनों ही बातें संभव हैं; लेखक इस जाल को समझ भी सकता है और नहीं भी समझ सकता। अगर समझ लेता है, तो वह उस मार्ग पर पहुँच जाता है जो उसे अनिवार्यतः समाजवाद की ओर ले जाता है; और जब तक वह नहीं समझता तब तक वह भूलभुलैया में चक्कर-सा खाया करता है, और कभी अपने गन्तव्य पर नहीं पहुँचता। सत्य तब तक उसके हाथ से छूटा रहता है।

प्रेमचन्द की ग्यारहवीं वार्षिकी के समय इस छोटी-सी टिप्पणी के निमित्त द्वारा उनकी पावन स्मृति को ताजा करने में हमारा उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि जीवनपर्य्यन्त काल्पनिक स्वतंत्रता, काल्पनिक समता और काल्पनिक न्याय की बुर्जुआ भ्रान्तियों से संघर्ष करने के बाद प्रेमचन्द अपने अन्तिम दिनों में निश्चय ही उस मार्ग पर आ गये थे, जो समाजवाद की ओर ले जाता है। इसका पहला इंगित 'गोदान' में है, होरी के चरित्र में। यहाँ बात प्रेमचन्द ने और भी विस्तार के साथ और एक वैचारिक गुत्थी को सुलझाने के रूप में 'मंगलसूत्र' में कही है जो उनका अंतिम और अपूर्ण उपन्यास है। अपनी बात के प्रमाण में मैं 'मंगलसूत्र' से एक छोटा-सा उद्धरण देना चाहता हूँ :

'पं० देवकुमार (उपन्यास के नायक—ले०) को धमकियों से झुकाना असंभव था, मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप ही आप झुक जाती थी। इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है ? कर्म और संस्कार का आश्रय लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है, तो फिर यह भेद क्यों है ? क्यों एक आदमी जिन्दगी-भर बड़ी से बड़ी मेहनत करने पर भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है ? यह सर्वात्म है या घोर अनात्म ! बुद्धि जवाब देती : यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती, सबको समान अवसर कहाँ है ? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब उसके पास पैसे नहीं हैं, तो सबको बराबर का अधिकार कैसे माना जाय ? इस तरह का आत्ममंथन उनके जीवन में कभी न हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से संतुष्ट तो हो ही न सकती थी, पर उनके सामने ऐसी कोई गुत्थी न पड़ी थी जो इस प्रश्न को वैयक्तिक अंत तक ले जाती। ××××कहाँ है न्याय ? कहाँ है ? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिनदहाड़े दूसरों को लूटता है, और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं, और आप लंबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ?

'हाँ, देवता हमेशा रहे हैं और हमेशा रहेंगे। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति

पर चलता हुआ नजर आता है, वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो! देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं, तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी; देवता किसी तरह नहीं। और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर द्वारा भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने कब का इसका अन्त कर दिया होता, या समाज का ही अन्त कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं है, जड़ता है। आज जो इतने ताल्लुकेदार और राजे हैं, वह अपने पूर्वजों की लूट का ही आनन्द तो उठा रहे हैं। × ×'

अब इसके बाद क्या कुछ कहने की गुंजायश रह जाती है?

नवंबर '४७]

प्रेमचन्द और हमारा कथासाहित्य

प्रेमचन्द की नवीं वार्षिकी के अवसर पर जब हम अपने कथासाहित्य के लिए प्रेमचन्द का महत्त्व आँकने चलते हैं तब हमें पता चलता है कि अभी उनके रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए हमें बहुत काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। यह कहना तो ग़लत होगा कि हिन्दी कहानी की प्रगति प्रेमचन्द के देहावसान के बाद सर्वथा अवरुद्ध रही है पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे युग ने अभी अपना प्रेमचंद नहीं उत्पन्न किया है। प्रेमचंद उत्पन्न करने से अभिप्राय ऐसा कलाकार उत्पन्न करने से है जिसकी दृष्टि इतनी तीक्ष्ण तथा साथ ही व्यापक हो कि वह आज की वास्तविकता को, आज के जनजागरण को, जनआन्दोलन को उसके समस्त प्रसार तथा समस्त गहनता के साथ लिपिबद्ध कर सके। हमारी राष्ट्रीय चेतना आज उस जगह पर नहीं है जहाँ प्रेमचंद के समय में थी। वह ज्यादा व्यापक भी हो गयी है और ज्यादा गहरी भी, हमारे युग को आज प्रेमचन्द की दृष्टिवाले कलाकार की ज़रूरत है। यह विचार आते ही हमारा मन घोर विषाद से भर उठता है कि आखिर प्रेमचन्द का देहान्त इतनी कम उम्र में क्यों हुआ। सत्तावन साल कुछ बहुत ज्यादा नहीं होते, लोग बड़े मज़े में सत्तर सत्तर साल की आयु तक जीते हैं। यों तो ग़रीब, गुलाम देश में जहाँ आदमी खाये बिना टूटा रहता है, सत्तावन साल की उम्र कुछ कम नहीं है। प्रेमचन्द ने जीवन में जो बहुत बड़ी बड़ी तकलीफें उठायीं और जीवन भर ग़रीबी के भाले से अपना तन छिदवाया, उसको देखते हुए भी सत्तावन साल काफ़ी ही कहा जायगा। लेकिन सवाल तो यहाँ पर यह होता है कि ऐसा समाज कब आयेगा जिसमें हमारे लेखक (और सभी साधारण जन भी) खूब लंबी लंबी उम्रें पायेंगे।

प्रेमचन्द ने उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं के कथासाहित्य के लिए जो कुछ किया है उसे देखकर और उसके बारे में सोचकर हमें थोड़ी देर को स्तंभित हो जाना पड़ता है। अन्य किसी साहित्यकार ने दोनों भाषाओं के लिए समान रूप से इतना महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। पर हिन्दी कथासाहित्य के लिए उनकी जो देन है, हमें उसी पर संक्षेप में विचार करना है। साहित्य के सभी विद्यार्थी जानते हैं कि आधुनिक कहानी और उपन्यास भारत को पश्चिम की देन है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे प्राचीन साहित्य में कहानी है ही नहीं। पंचतन्त्र, बृहत्कथा, जातक आदि कहा-

नियों के ही ग्रन्थ हैं ; लेकिन वे कहानियाँ आज की कहानी की परिभाषा में नहीं आतीं। वे सभी नीतिविषयक कहानियाँ हैं और किसी न किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए लिखी गयी हैं। आधुनिक कहानी भी किसी न किसी सिद्धान्त को, जीवन के किसी न किसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए लिखी जाती है ; लेकिन अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में कलाकार की चतुराई इसी बात में व्यक्त होती है कि उसके चित्रण में सिद्धान्त गौण सा रहे, प्रच्छन्न रहे और मुख्य बात रहे किन्हीं विशेष घटनाओं की भूमिका में पात्रों का परस्पर संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, परिस्थितियों से उनका संघर्ष, उनका मानसिक आवेग-प्रवेग। इस अर्थ में गद्य कहानी हमें प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती। प्राचीन हिन्दी कथासाहित्य में भी इस प्रकार की कहानियों का सर्वथा अभाव है। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास कोड़ियों की संख्या में लिखे जा चुके थे लेकिन उन उपन्यासों में अधिकतर घटनावैचित्र्य छोड़ और कुछ न होता था। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों पर विचार करते समय यह पृष्ठभूमि हमें सदैव अपनी आँखों के सामने रखनी चाहिए ; तभी हम प्रेमचंद का ठीक मूल्यांकन कर सकेंगे, उनकी सच्ची महत्ता को अच्छी तरह समझ सकेंगे। यह कह देना काफी नहीं है कि प्रेमचद ने दर्जनों उपन्यास लिखे और सैकड़ों कहानियाँ लिखीं और उनमें उन्होंने किसानों की दुर्दशा और मध्यवर्ग की कुरीतियों का कुशलतापूर्ण चित्रण किया। यह तो उन्होंने किया ही पर इतना ही नहीं किया उन्होंने। उन्होंने हिन्दी साहित्य में आधुनिक उपन्यास और आधुनिक कहानी को जन्म दिया। ठीक यही कार्य उन्होंने उर्दू साहित्य में भी किया। उर्दू साहित्य में भी प्रेमचंद के पहले कथासाहित्य के क्षेत्र में तिलिस्म और ऐयारी का बोलबाला उसी प्रकार था जिस प्रकार हिन्दी में। दोनों साहित्यों में उन्होंने आधुनिक उपन्यास और कहानी को जन्म दिया पर प्रेमचंद की अजरता-अमरता का रहस्य इससे भी आगे बढ़ने पर मिलता है। वह रहस्य यह है कि प्रेमचंद ने अपने साहित्य में अपने युग की सबसे क्रान्तिकारी, सबसे प्रगतिशील शक्तियों का हमेशा साथ दिया। प्रेमचन्द का साहित्य एक प्रगतिशील समाज-सुधारक का साहित्य है, सुधारवादी समाज-सुधारक का नहीं। सुधारवादी सुधारक समाज-सुधार में इसलिए दिलचस्पी लेता है कि वह समाज के पुराने ढाँचे को थोड़े बहुत सुधार व परिवर्तन के साथ बचा लेना चाहता है क्योंकि उसे उस पुराने ढाँचे से बहुत अधिक मोह है। वह समाज में आमूल परिवर्तन लाने की बात न केवल नहीं सोचता बल्कि उससे बहुत घबराता है। वह तो बहुत बड़ी बड़ी कुरीतियों को ज्यों त्यों दूर करके उसी पुराने समाज को अमरत्व देने का उद्योग करता है! प्रेमचन्द ऐसे सुधारक नहीं हैं। यह सच है कि वे प्रारंभ से ही अपनी सभी कृतियों में क्रान्तिकारी समाज-सुधारक नहीं रहे हैं, लेकिन अगर उनका क्रमिक विकास देखा जाय

तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उनका दृष्टिकोण समय के साथ साथ, जीवन की वास्तविकता के साथ साथ, अनुभव के साथ साथ बदलता और क्रान्तिमुखी होता गया है। जीवन की कटुतम वास्तविकता के परिचय से प्रेमचंद का सुधारक भयभीत नहीं हुआ, उसने और बल प्राप्त किया—सुधारवादिता को छोड़ने और क्रान्ति का मार्ग लेने का बल। चूँकि प्रेमचन्द को पहले से ही जीवन का कोई क्रांतिकारी, सम्यक् दर्शन उपलब्ध नहीं था और वे अपने अनुभव से ही क्रांतिमुखी हुए थे, इसलिए उनके साहित्य में निरन्तर सुधारवाद और क्रांति का संघर्ष दिखलायी पड़ता है। ऐसी बहुत सी रचनाएँ मिलेंगी जिनमें उनका दृष्टिकोण बिलकुल सुधारवादी है। फिर ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जिनमें लेखक सुधारवाद और क्रांति के मार्गों के संधिस्थल पर खड़ा हुआ दीखेगा। फिर ऐसी रचनाएँ भी कुछ कम न मिलेंगी जिनमें लेखक का दृष्टिकोण क्रांतिकारी है। रचनाक्रम को ध्यान में रखते हुए यदि हम तनिक बारीकी से उनकी कृतियों पर विचार करें तो हम स्पष्टतया कालानुक्रम से सुधारवाद के तत्त्वों का ह्रास और क्रान्ति के तत्त्वों का विकास होते देख सकते हैं। प्रेमचंद की प्रगतिशीलता ही उनकी अजरता-अमरता का रहस्य है। उनकी पंक्ति पंक्ति में पराधीन, दुःखी, शोषित भारत के प्राण बोलते हैं। आज हमें फिर एक प्रेमचंद की आवश्यकता है। आज जब कि कुछ न्यस्त स्वार्थों वाले लोग सोवियत रूस के विरोध में भाँति भाँति की झूठी बातों का प्रचार कर रहे हैं, हमें प्रेमचन्द की स्वस्थ सोवियत भक्ति के अचल ध्रुवतारे की आवश्यकता थी। उनकी आवश्यकता हमें आज इसलिए और भी थी कि हमारा राष्ट्रीय जीवन हिन्दू-मुसलिम गृहयुद्ध की आग में ध्वस्त हो जाने की आशंका से बोझिल है। ऐसे समय में प्रेमचंद की बहुत आवश्यकता थी क्योंकि आज उनकी लेखनी की सारी शक्ति दस गुने वेग से दोनों सम्प्रदाय के लोगों में सद्भाव की सृष्टि करने में लगती। जो कार्य बड़े बड़े पूँजीवादी राजनीतिज्ञ अपने दृष्टिकोण की एकांगिता तथा संकीर्णता के कारण नहीं कर पाते, वही कार्य प्रेमचन्द अपनी उदात्त लेखनी से करते, इसमें सन्देह नहीं। किसानों की आवाज़ बुलंद करने के लिए भी हमें आज एक प्रेमचद की आवश्यकता है। यह किसानों और मज़दूरों ही का युग है: इस युग में उनके सच्चे प्रतिनिधि कलाकार की आवश्यकता थी। हमें इस बात का पक्का विश्वास है कि आज जनता का सच्चा प्रतिनिधि कलाकार प्रेमचंद के पगचिह्नों पर चलकर ही बनेगा।

अक्तूबर सन् '४५]

•

'अपने ही देश में हम परदेशी हैं'

पत्रकार-सम्मेलन के अवसर पर एक बहुत पुराने साहित्यिक बन्धु से भेंट हुई। हिन्दी के अच्छे प्रतिष्ठित लेखक हैं। सम्मेलन का वक्त हो गया था, मगर कारवाई शुरू होने में अभी देर थी, क्योंकि म्युनिसिपल भवन के जिस बड़े कमरे में हम लोगों की सभा होनेवाली थी उसी में डा० काटजू के सभापतित्व में प्रयाग के उद्योगपतियों की एक सभा हो रही थी, जिसके सामने इतना विशद कार्यक्रम था कि लगभग चालीस अखबार-नवीसों का वहीं बरामदे में चहलकदमी करना भी उसकी दीर्घता पर कोई भी प्रभाव नहीं रख सका। लिहाज़ा हम दोनों ने बरामदे में परेड करने का खयाल छोड़ दूर पड़ी हुई चपरासियों की बेंच पर जाकर आसन जमाया—सच पूछिए तो हम लोग जो वहाँ बरामदे में परेड कर रहे थे, चपरासियों से अधिक कुछ न थे!

पत्रकारों से बातचीत पत्रिकाओं पर आयी और साहित्य-चर्चा शुरू हो गयी। मित्र ने प्रेमचन्द की 'ईदगाह' कहानी की चर्चा की। मैंने कहा कि हाँ, मैंने पढ़ी है। मित्र ने कहा—तुमने और बहुत-सी चीज़ों के साथ पढ़ी होगी, पढ़ने का सिलसिला चलता रहा होगा और उसी में तुमने वह कहानी भी पढ़ी होगी। मैंने हामी भरी। मित्र ने कहा—तब तुम्हें वह अनुभूति न हुई होगी जो मुझे हुई, क्योंकि मैंने वह कहानी ऐसे वक्त पढ़ी जब बहुत दिनों से कुछ भी पढ़ने का वक्त नहीं मिला था, न उसके बाद ही फिर बहुत दिन तक कुछ भी पढ़ने का मौका मिला ..थ्रिल हो गयी तबियत, मुर्दे को जैसे किसी ने कोई करेंट छुला दी और वह उठकर खड़ा हो गया...काश कि मेरे पास कोई ऐसा जादुई कैमरा होता जो उस वक्त की उनकी तसवीर उतार लेता। मैं उस वक्त की उनकी भंगिमा को बयान नहीं कर सकता। कोई दो मिनट तक उनकी वह अपूर्व भावावेश की स्थिति रही, सच्चा भावावेश। मैंने अपने मन में कहा—ईदगाह कहानी का आज एक सच्चा रसज्ञ पाठक मिला, जिसने सचमुच उसका रस लिया।

फिर और भी बहुत-सी बातें उन साहित्यिक मित्र ने कहीं। बोले—वी आर फारेनर्स इन आवर ओन कन्ट्री (अपने ही देश में हम परदेशी हैं)...हमारा सोचने का ढंग, हमारा कहने का ढंग सब विदेशी है...उनका कहने का मतलब था कि जब तक हमारे नये साहित्य में से विदेशीपन नहीं जायगा तब तक जनता में उसका व्यापक प्रसार संभव न होगा। बात मुझे बहुत माकूल जान पड़ी।

'मैं तो भाई देहाती आदमी हूँ और इतना जानता हूँ कि कहानी को सफल तब कहो जब देहातियों की एक जमात उसे सुनकर सिर हिलाने लगे या कुछ कह चले। वही असली test (परीक्षा) है। प्रेमचंद इस test में सोलहों आने सफल उतरते हैं। जब चाहो, जितनी बार चाहो, आजमाकर देख लो•••'

अनोखे विश्वास के संग यह बात कही गयी थी और मेरे मन पर एक अमिट-सी लकीर खींच गयी।

यह बात स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है कि हमारे नये, प्रगतिशील, साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है जो कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यह कसौटी ठीक है, यह शायद साहित्य में प्रगतिशीलता के सभी समर्थक कमोबेश स्वीकार करेंगे। जब हम जनता का साहित्य रचने की बात करते हैं तब उसी जनता को अपना निर्णायक मानने में हमें क्या संगत आपत्ति हो सकती है? यदि कोई साहित्यकार इस अभिजात-वर्गीय (हाई-ब्राउ) भावना का शिकार है कि जनता मूर्ख और अशिक्षित है, इसलिए उनके साहित्य का रस नहीं ले पाती, तो यह स्वयं उस साहित्यकार की जड़ता है; प्रगतिशील साहित्यकार में तो यह मनोभाव नितान्त अक्षम्य है। उत्तर भारत की जो जनता, सूर, तुलसी, कबीर और प्रेमचंद के साहित्य की रसज्ञ है, वह यदि हमारे साहित्य से आन्दोलित नहीं होती, या सदा एक-सी आन्दोलित नहीं होती तो हमें ज़रा रुककर सोचना चाहिए, हो सकता है दोष जनता का न हो, दोष हमारा ही हो, हो सकता है हमारी अनुभूति अत्यधिक छिछली हो, उसमें सचाई न हो, सचाई का आभास मात्र हो, संवेद्य तथ्य ही शक्तिहीन हो, जो बात हम कहना चाह रहे हों वह महज़ एक पिटा-पिटाया नारा हो, उसमें हमारी अपनी अनुभूति की सचाई का ओज न हो। ये तमाम बातें संभव हैं और यदि हम गंभीरता से आत्मपरीक्षण करें तो हमें अपने साहित्य में ये सभी दोष यहाँ वहाँ, कम या अधिक, मिल जायेंगे।

इसका कारण खोजने के लिए भी हमें दूर न जाना होगा। हम समझते हैं हमारा उस जीवन से अभिन्न परिचय नहीं है जिसका हम चित्रण करते हैं। यह अभिन्न परिचय साहित्य को प्राणवान् बनाने के लिए एकदम अपरिहार्य है। इसी सम्बन्ध में यह बात भी लक्ष्य करने की है कि पतनोन्मुख निम्न मध्यमवर्ग के जो चित्र प्रगतिशील साहित्य में मिलते हैं वे बहुत काफी जानदार हैं और उसका कारण यही है कि हम सभी लेखक उसी वर्ग से आये हैं, उसको भीतर बाहर से अच्छी तरह से जानते हैं, उसकी विभीषिकाओं ने हमारे जीवन की गति को रुद्ध किया है। इसीलिए जब हम उस जीवन के सम्बन्ध में कुछ लिखते हैं तो उसमें हम कुछ अपनी बात कहते हैं, अपना कोई निजी अनुभव पाठक तक पहुँचाते हैं। मगर किसानों मजदूरों का साहित्य रचना इसीलिए

कठिन हो जाता है। हममें से बहुत थोड़े लोगों का गाँव के जीवन से सम्बन्ध है, शायद उससे भी कम लोगों ने मजदूरों की जिन्दगी को पास से देखा होगा। तब फिर आप अपनी विषयवस्तु लायेंगे कहाँ से? अपने दिमाग से निकली हुई शकलों को (उन्हें कठपुतला भी कह लें तो कुछ बुरा नहीं) किसान या मज़दूर कह देने से या गन्दा कपड़ा पहना देने से या उनकी वकालत में कुछ सस्ती भावुकता की बातें कह देने से तो समर्थ साहित्य की सृष्टि न होगी, उसमें पाठक के मन में विश्वास जगाने या उसे अनुकूल ढंग से प्रभावित करने की शक्ति तो आ न जायगी। क्योंकि वास्तव में स्थायी प्रभाव तो सत्य का ही पड़ता है। सुनी सुनायी बातों के आधार पर आप मजदूरों के जीवन पर आधारित एक कहानी लिखिए, लोग उस पर नाक भौं सिकोड़ेंगे, उस पर प्रचारवाद का इलज़ाम लगायेंगे, तमाम बातें करेंगे (मैं न्यस्त स्वार्थों वाले लोगों की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि ऐसे लोगों की बात कर रहा हूँ जो सामाजिक दृष्टि से हमीं आप में से हैं विचारों के क्षेत्र में चाहे थोड़ा बहुत मतभेद रखते हों, पर उस सबके बाद भी अच्छे साहित्य की खोज में रहते हैं); मगर वे ही लोग गोर्की की कहानी पर या मायाकोवस्की की कविता पर झूमझूम जायँगे, उनकी प्रशंसा करते नहीं अघायेंगे, और केवल गोर्की या मायाकोवस्की नहीं, अन्य लोगों की भी जानदार चीज़ मिलने पर यह प्रश्न नहीं उठायेंगे कि अमुक कहानी अथवा उपन्यास की विषयवस्तु कहाँ से ली गयी, अपितु उसका रस ग्रहण करेंगे। तो असल बात क्या है? असल बात यह नहीं है कि विषयवस्तु कहाँ से ली गयी या कहाँ से नहीं ली गयी। लोगों को 'प्रोपागैंडा' आदि थोथी बातें उठाने का मौक़ा तब ज्यादा मिलता है जब स्वयं हमारे रचनात्मक साहित्य में दोष होता है, अर्थात् जब वह रसोत्तीर्ण नहीं हो पाता। रसोत्तीर्ण साहित्य सामने रख देने पर बड़े से बड़े विरोधी का मुँह बन्द हो जाता है—अगर वह पूँजीपतियों के टुकड़े खानेवाला दलाल ही नहीं है तो। आज के हमारे सारे विरोधी पूँजीपतियों के टुकड़े खाते हैं, यह सोचना बहुत बड़ी भूल है। प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन अब उस जगह पर आ गया है जहाँ उसने अपने विरोधियों को धकेलकर हिन्दी साहित्य में अपनी एक सुनिश्चित जगह बना ली है और अब एक ऐसा विशाल पाठक-वर्ग तैयार हो गया है और रोज बरोज़ होता जा रहा है जो रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील आन्दोलन की क्षमता और उसके कृतित्व को देखकर इस प्रश्न पर अपना मत बनाना चाहता है। प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्त मोटे रूप में सुनिश्चित हो चुके हैं, यों तो किसी भी जीवन्त चिन्तन प्रणाली की तरह प्रगतिवादी आलोचनाशास्त्र में निरन्तर विकास हो रहा है और होता ही जायगा।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम सजीव प्रगतिशील रचनात्मक साहित्य, कहानी उपन्यास कविता आदि, सामने लाकर अपने विकास के इस नये धरातल पर

अपने आन्दोलन की क्रान्तिकारी क्षमता का परिचय दें। और तब हम देखेंगे कि हवा का रुख हमने मोड़ दिया है। मगर यह बात तब तक संभव नहीं है जब तक हम जनता के दैनंदिन जीवन से, उनकी समस्याओं से, उनके क्रान्तिकारी आन्दोलन से, एक शब्द में कहें तो उनकी भावनाओं और कथावस्तु के भांडार से दूर हैं। मेरी अनेक लेखक साथियों से बातचीत हुई है और हम सभी इस बात को मन ही मन अनुभव करते हैं मगर आवश्यकता इस बात की है कि हम सर जोड़कर सोचें कि कैसे यह चीज़ की जाय। अनेक अड़चनें हैं, सबसे बड़ी अड़चन तो यही है कि हम सब लोगों की ज़िन्दगियाँ अनेक तरह से उलझी हुई हैं, अकसर तो जीविकोपार्जन में ही बुरी तरह फँसी हुई हैं; मगर तब भी रास्ता तो हमें निकालना ही पड़ेगा अगर हम अपने आन्दोलन को और व्यापक बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि लोग उसकी वास्तविक शक्ति और संभावनाओं को देखकर उसकी ओर स्वतः आकृष्ट हों। हमारे कुछ लेखक मित्र हैं जो मजदूरों या किसानों के राजनीतिक आन्दोलन में अपने पूरे मन-प्राण से योग दे रहे हैं। मगर साहित्य के प्रवाह से, साहित्य की परंपरा से उनका संबंध विच्छिन्न हो जाने के कारण (जो कि बहुत हद तक बिलकुल स्वाभाविक ही है) उनकी रचनाओं में कलागत परिष्कार या परिमार्जन की कमी होती है, कला का काफी अभाव होता है। इस प्रकार हम प्रगतिशील साहित्य को दो धाराओं में दो बिलकुल भिन्न प्रकार के दोष देख रहे हैं। एक तो ऐसे लेखकों द्वारा रचित साहित्य है जो बौद्धिक रूप से साम्यवाद और जनक्रान्ति आदि के आदर्शों को स्वीकार करते हैं और मज़दूरों से केवल बौद्धिक सहानुभूति रखने का दोष लगानेवाले अनेक साहित्यकारों की अपेक्षा मजदूरों या किसानों को अधिक पास से जानते भी हैं, मगर तब भी इस बात से मुँह नहीं चुराते कि उनका उस जीवन से उतना अभिन्न सम्बंध नहीं है जितना कि होना चाहिए; वे इस बात को मानते हैं कि जनता से उनके सम्पर्क की कसौटी यह नहीं है कि अन्य विचारधारा के लेखकों की अपेक्षा उनका सम्पर्क जनता के जीवन से अधिक है (दूसरी विचारधारा के लेखक तो इस बात की आवश्यकता को ही नहीं मानते। तब उनसे तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता, पर इस बात का उल्लेख इसलिए आवश्यक था कि यही लोग सबसे अधिक शोर मचाते हैं; अभी कुछ दिन हुए 'दिनकर' जी ने यही बात 'हिमालय' में कही है) हमारी कसौटी यह है कि जनता के वास्तविक जीवन का स्पन्दन हमारे साहित्य में सुन पड़ता है या नहीं, हमारी निजी अनुभूति और चेतना की छाप हमारे चित्र पर है या नहीं। इस कसौटी पर कसने पर हमें अपने साहित्य में ऐसी अनेक रचनाएँ मिल जाती हैं जिनमें रचना का कौशल तो पर्याप्त मात्रा में है जिन्हें हम बखूबी 'क्लेवर राइटिंग' तो कह सकते हैं लेकिन जीवन का स्पन्दन जिनमें कम ही है, जिनकी अनुभूति निर्बल है इसलिए अभिव्यक्ति भी निर्बल है। दूसरी ओर ऐसा साहित्य है जिसे

जनसाहित्य कहा जा सकता है जिसके प्रणेता मोर्चे पर काम करनेवाले लोग हैं। इस साहित्य में जीवन का स्पन्दन तो काफी है क्योंकि जीवन से, संघर्षों से ही वह निःसृत है मगर रचना-कौशल का काफी अभाव है। इस प्रकार भिन्न कारणों से दोनों ही की प्रभावोत्पादकता घट जाती है और कहीं कहीं बिलकुल नष्ट हो जाती है और तब ऐसी ही रचनाओं को लेकर हमारे विरोधी हम पर चोट करते हैं, हमारी खिल्ली उड़ाने की कोशिश करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि प्रगतिशील लेखक के जीवन में राजनीति और साहित्य का सामंजस्य किस प्रकार हो, यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी जर्मन कवि और नाटककार अर्न्स्ट टोलर ने अपनी आत्मकथा 'आइ वाज़ ए जर्मन' में एक जगह लिखा है :

कला की सबसे महान्, सबसे विशुद्ध अभिव्यक्ति सदा काल की सीमा से परे होती है, मगर जो कवि (सत्य के ?) शिखरों तक पहुँचना चाहता है या (सत्य की ?) गहराइयों में पैठना चाहता है उसे बतलाना होगा कि उसका अभिप्राय किन विशेष शिखरों और गहराइयों से है, अन्यथा वह कभी लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न कर सकेगा और अपने युग के लिए भी वह अबूझ ही बना रहेगा।*

उसी प्रकार कोई अगर मजदूरों और किसानों के बारे में लिखना चाहता है तो 'मजदूर' या 'किसान' नाम के किसी अदृश्य अस्पष्ट जीव का चित्र देने से काम नहीं चलेगा क्योंकि उस दशा में न तो चित्र ही साफ होगा और न किसी की समझ में कुछ आयेगा ही। सभी जानते हैं कि मज़दूर या किसान ही नहीं, उपन्यास में जब आप कोई भी चरित्र अंकित करने चलते हैं तो आप किसी भी चरित्र को अच्छी तरह तभी उपस्थित कर सकते हैं जब उस चरित्रविशेष का वास्तविक जीवन में भी कोई व्यक्ति विशेष आधार हो। वही सिद्धांत जब हम अपने बहुत से किसान मज़दूर विषयक साहित्य पर लागू करते हैं तो हमें अपनी कमज़ोरी का कारण मालूम हो जाता है। जब हम मजदूर की बात करते हैं तो हमारे सामने मजदूर की शकल सूरत की, उसकी वेशभूषा की एक धुँधली धुँधली तसवीर होती है जो किसी खास मजदूर की तसवीर नहीं है, जो सामान्य रूप से सभी मजदूरों की तस्वीर है, जो चित्र नहीं भावचित्र है। इस भावचित्र

---

*Art in its greatest, purest manifestation is always timeless; but the poet who wishes to reach the heights and penetrate the depths must take care to specify particular heights and particular depths, or he will never catch the public ear and will remain incomprehensible to his own generation.

(Ernst Toller: I was a German P. 225)

के साथ साथ हमारे मन में होता है मज़दूर श्रेणी पर होनेवाले अत्याचारों के प्रति आक्रोश, जो चीत्कार होकर रह जाता है अगर उसके पीछे अपनी अनुभूति नहीं है। यही वह कमजोरी है जिससे अब हमें अपने साहित्य को मुक्त करना होगा। निरे भावनात्मक और निरे बौद्धिक प्रगतिशील साहित्य ने अपना कार्य पूरा कर दिया, हमारे विकास का वह भी एक आवश्यक चरण था; मगर अब हमारे साहित्य में प्रौढ़ता आ चली है इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि हम सतही ढंग से प्रगतिशील समाज-दर्शन का चित्र उपस्थित करनेवाले साहित्य की रचना से आगे बढ़कर ज़रा और गहरे पैठें और ऐसा साहित्य दें जो हमारे जन सम्पर्क का अकाट्य प्रमाण दे सके, जिसमें जन-जीवन का स्पन्दन स्पष्ट रूप से विद्यमान हो ; हम मजदूर के बारे में या किसान के बारे में या निम्न मध्यमवर्ग के नवयुवक या नवयुवती के बारे में लिखें तो अस्थिमांस विहीन कोई छायाकृति (phantom) न खड़ी कर दें, उसके स्थान पर एक जीता जागता मनुष्य हो जिसे हम अच्छी तरह जानते हों, जिसके बाल-बच्चों के संग हम खेले हों, जिसकी समस्याओं को सुलझाने में हमने भी सहानुभूतिपूर्वक योग दिया हो, जिसे हमने संघर्ष करते देखा हो, पराजय के शंकाशील क्षण में और विजय के उल्लसित मुहूर्त में, सभी स्थितियों में देखा हो। तभी हमारे साहित्य में वह गुण आयेगा जो आज युग हमसे माँग रहा है, सत्य का वह प्रचंड आवेग जो प्रत्येक भावना-सम्पन्न व्यक्ति को जन-क्रांति की निर्बन्ध धारा में अपने संग बहा ले जाय।

और यहीं पर साहित्यकार की अग्निदीक्षा का प्रश्न आ जाता है।

साहित्य के बारे में तो बहुत बहस होती है, साहिय का रूप निर्दिष्ट करने का तो बहुत प्रयत्न होता है, मगर साहित्यकार को योग्य और निष्ठावान् साहित्यकार बनाने के लिए किन बातों की आवश्यकता है इस पर ध्यान कम ही दिया जाता है। इसे साहित्यकार का निजी, सुरक्षित क्षेत्र जानकर छोड़ दिया गया है। मगर हम समझते हैं इस सवाल पर भी बहस होनी चाहिए।

एक दिन प्रेमचन्द की एक पुरानी डायरी उलट रहा था। प्रेमचन्द अपनी डायरी में घी दूध और चीनी का हिसाब लिखने के साथ साथ कहानियों के प्लाट और सपादकीय टिप्पणियों के विषय आदि भी लिखा करते थे। जो भी आवश्यक बात ध्यान में आती उसे डायरी में टाँक देते। एक कहानी के प्लाट के अन्त में उन्होंने लिखा था—

You cannot elevate the masses without first elevating yourself (बिना पहले अपने आपको ऊँचा उठाये तुम जनता को ऊँचा नहीं उठा सकते।)

जिस तरह यह सोचना भूल है कि साहित्यकार किसी भी सामाजिक स्थिति को

रूप दे सकता है, उसी तरह यह सोचना भी भूल होगी कि साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रश्न साहित्य से पृथक् है। बिना किसी सामाजिक स्थिति का अंग बने, बिना उसके वातावरण को पूरी तरह अपने व्यक्तित्व और कला में समोये मर्म पर आघात करनेवाले सच्चे साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। केवल बौद्धिक चेतना या सहानुभूति का आश्रय लेनेवाला साहित्य कुल मिलाकर फीका ही होगा। इसलिए साहित्यकार के व्यक्तित्व के निर्माण का प्रश्न भी साहित्य के निर्माण के वृहत्तर प्रश्न का हां एक अंग है। साहित्यकार जब तक अपने सिद्धान्तों को अपनी ज़िन्दगी में नहीं उतारता तब तक वे सिद्धान्त मात्र किताबी सिद्धान्त ही हैं और किताबी सिद्धान्तों से महान साहित्य की सृष्टि नहीं होती। साहित्यकार के निजी जीवन की निष्ठा ही उसके साहित्य को शक्ति और ओज देती है, साहित्य का यह एक सनातन सत्य है। इसे काल्पनिक या रोमांटिक आदर्शवाद कहने से काम न चलेगा, साहित्यसृष्टि का यह एक व्यावहारिक सवाल है जिससे आज प्रगतिशील साहित्य को भी दो चार होना होगा।

सन् २१ में स्टिफ़ान ज्वाइग को लिखते हुए अर्न्स्ट टोलर ने यही बात कही थी :

अब वक्त आ गया है कि लोग स्वतः अर्थात् अपने विश्वासों की अपरिहार्य निष्ठा से परिचालित होकर अपने विचारों को अपने जीवन में उतारने का साहस प्राप्त करें और इतना ही नहीं वे इस बात को भली प्रकार अनुभव भी करें कि ऐसा करना वास्तव में उनके लिए कितना आवश्यक है। जीवन का मूल्य जीवन के चित्र बनाते रहने में ही शेष नहीं हो जाता, इस सत्य का बोध भी आवश्यक है।*

अपने प्रगतिशील सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने से प्रयोजन बाह्य वेशभूषा में परिवर्तन कर लेने से नहीं है, यह बात कहने की आवश्यकता नहीं है। बाह्य वेशभूषा में परिवर्तन करके अपने को सर्वहारावर्ग का हितैषी समझनेवाले एक बुद्धिजीवी का उपहास करते हुए टोलर ने लिखा है :

एक बुद्धिजीवी ने जबर्दस्ती नाखूनों से नोच नोंचकर अपने कोट और पतलून में बड़े-बड़े सूराख कर लिये। उसका कहना था कि मैं अपनी ज़िन्दगी सर्वहारावर्ग के लोगों जैसी बना रहा हूँ।†

---

* It is about time that men voluntarily, from inescapable devotion, find the courage to live the ideas which they profess. That they see how essential such a life is. That they should give up thinking that life's meaning lies in making pictures of life. (Ernst Toller : Letters From Prison : p. 89)

† An intellectual tore large holes in his coat and trousers. He called this giving his life proletarian aspects.

इस बुद्धिजीवी का उदाहरण स्वयं हमारे लिए बहुत उपयोगी होगा। मगर जो स्थापना मूलतः की गयी थी वह अपनी जगह पर कायम है। प्रगतिशील लेखकों को यह सोचना होगा कि कैसे वे किसानों और मज़दूरों के जीवन में अभिन्न रूप से घुल मिल सकें क्योंकि उसके बग़ैर उनके जीवन का स्पन्दन हमारे प्राणों का स्पन्दन न बन सकेगा और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक युगविधायक साहित्य नहीं रचा जा सकता।

यह एक समस्या है। हर लेखक अपने अपने ढंग से, अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार इस समस्या का हल ढूँढ़ेगा, ढूँढ़ रहा है। इस लिए हमें यदि कष्टों और असुविधाओं का रास्ता भी लेना पड़ेगा तो हम लेंगे, क्योंकि युग के प्रति यही हमारा दायित्व है।

सन् '४६]

जन-नाट्यसंघों की आवश्यकता

यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि हमारी कला और साहित्य का उद्देश्य जन-जीवन का उत्थान एवं संस्कार है तो हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई न होगी कि इस उद्देश्य की पूर्ति का सबसे अच्छा साधन नाटक हैं। धार्मिक नाटकों, रामलीला तथा रासलीला आदि के रूप में नाटक की एक परम्परा हमारे राष्ट्रीय जीवन में अविच्छिन्न रूप में दीर्घकाल से चली आ रही है। उसने जनता के जीवन पर केवल धार्मिक ही नहीं, सांस्कृतिक प्रभाव भी डाला है। मनुष्य की सहज सांस्कृतिक भूख को उसने किसी हद तक शान्त किया है। आज सिनेमा का प्रचलन बहुत बढ़ गया है, किन्तु नाटक के महत्त्व को उससे भी कोई ठेस नहीं पहुँची है। एक तो सिनेमा का प्रसार नगरों तक ही सीमित है और देश की बहुसंख्यक जनता गाँवों में रहती है, दूसरे सिनेमा तथा नाटक का प्रभाव भिन्न प्रकार का होता है, नाटक का स्थान सिनेमा नहीं ले सकता। 'रामराज्य' अथवा 'भरत-मिलाप' जैसे रामायण की कथावस्तु पर ही आधारित चित्र रामलीला का स्थान नहीं ले सकते। मन पर उनका प्रभाव बिलकुल भिन्न ढङ्ग का पड़ता है। रामलीला में अपने वीर पुरुषों का मानसिक सामीप्यबोध अधिक होता है, जनता को अपने राम, अपने भरत और अपनी जानकी माता अधिक पास जान पड़ती हैं। शायद यही कारण है कि नाटक की रसानुभूति चित्रपट की रसानुभूति से सर्वथा भिन्न होती है। जो बात रामलीला आदि के संबन्ध में ठीक है, वही कम या अधिक सम्पूर्ण 'नाटक' जाति के बारे में भी सच है।

ऐसी परिस्थिति में वे सभी राष्ट्रीय साहित्यकार जो इस बात के इच्छुक हैं कि देश-भक्ति का, स्वाधीनता का सन्देश देश के कोने कोने में पहुँचकर जनता को आन्दोलित करे और स्वाधीनता के संग्राम में आगे लाये—और कौन ऐसा साहित्यकार होगा जो यह न चाहता हो—इस बात को स्वीकार करेंगे कि शहरों में, छोटे छोटे क़स्बों में सभी जगह जहाँ भी सम्भव है, जन-नाट्य-संघों की स्थापना होनी चाहिए। आज भी बड़े नगरों आदि में एकाध नाटकमण्डली रहती है लेकिन ये नाटकमण्डलियाँ किसी ऊँचे आदर्श से अनुप्राणित न होने के कारण कोरी व्यावसायिक मण्डलियाँ बन जाती हैं जिनका उद्देश्य बहुधा जनमत का संस्कार नहीं, उसकी पतनोन्मुख मनःस्थितियों की तृप्ति होता है। ये नाटक मण्डलियाँ, दो दशकों के बाद भी जो कि स्वाधीनता की

लड़ाई की दृष्टि से तूफ़ानी रहे हैं, पारसी रंग-मंच से एक पग भी आगे नहीं बढ़ी है और 'शीरीं-फ़रहाद' 'लैला-मजनू' और कुछ 'भक्ति' के नाटकों और 'ज़िन्दा परियों' के अश्लील नाच-गानों में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती हैं। सच्ची साहित्यिक नाट्य-समितियों की संख्या नगण्य है और जो थोड़ी-सी हैं भी वे भी कुछ बहुत उत्साह से कार्य करती नहीं दिखाई पड़तीं। यही कारण है कि जन-रुचि का संस्कार नहीं हो पाता, रंग-मंच का विकास बिलकुल अवरुद्ध है और ये व्यावसायिक नाटक-मण्डलियाँ जनता के अन्दर कुरुचि फैलानेवाले नाटकों का प्रदर्शन करने की धृष्टता कर पाती हैं। यह हम साहित्यिकों की अकर्मण्यता का ही फल है कि आज नाटक जनता को स्वाधीनता-संग्राम और सामाजिक कुरीतियों के अभिशाप का मूलोच्छेद करने के लिए जगाने के स्थान पर उसे वासना की कुरुचिपूर्ण भाव-भंगियाँ दिखलाकर अफ़ीम का नशा-सा पिला रहे हैं और देश को ऐसे रसातल में ढकेल रहे हैं जहाँ से उसकी मुक्ति सहज न होगी। जो नाटक राष्ट्र-निर्माण का अस्त्र बन सकते थे, वही आज राष्ट्र के विनाश का साधन बन रहे हैं। इसका उत्तरदायित्व यदि हम साहित्यिकों पर नहीं तो किस पर है? हमारी स्वाधीनता का आन्दोलन अब अपने विकासक्रम में उस दशा को पहुँच गया है जब कोरे 'जय' चिल्लाने से काम नहीं चलेगा। स्वाधीनता के आन्दोलन को अधिक गहरे रूप में जनता के मन के अन्दर अपनी जगह बनानी होगी। इसके लिए कोरे आदर्श पर्याप्त न होंगे। हमें जनता के जीवन की दैनंदिन समस्याओं को अपने आन्दोलन का आधार बनाना होगा। इसके लिए नाटक की चित्रात्मक शैली और भी उपयोगी सिद्ध होगी। अबतक यदि हमने नाटकों की ओर समुचित ध्यान दिया होता, तो हमारा रंगमंच उसी प्रकार विकसित दशा में होता जिस प्रकार बंगाल का रंग-मंच है, और विकसित होने के नाते और भी कलापूर्ण ढंग से जनता के पास अपना सन्देश पहुँचा पाता, लेकिन वह बात तो है नहीं। पर तो भी यदि आज भी हम उस ओर ध्यान दें तो कार्य हो सकता है। भविष्य सँवारने के लिए लम्बी-चौड़ी योजनाओं की नहीं, संकल्प के साथ कार्य आरम्भ करने की आवश्यकता होती है। इन जन-नाट्यसंघों के लिए बहुत रुपये-पैसेकी आवश्यकता न होनी चाहिए क्योंकि उनका साज-सामान बहुत सादा होता है। कम से कम साज-सामान के साथ प्रदर्शन करना ही उनकी विशेषता होती है क्योंकि उनका लक्ष्य एक जगह बैठकर प्रदर्शन करना नहीं बल्कि घूम-घूमकर प्रदर्शन करना होता है जिसमें अधिक से अधिक जनसमुदाय तक पहुँचा जा सके।

आज के युद्ध में जिन दो देशों ने फ़ासिज्म के विरुद्ध सबसे सफल रूप में युद्ध किया है और सच्चे अर्थों में युद्ध का नेतृत्व किया है वे रूस और चीन हैं। इन दोनों ही देशों में नाटक के महत्व को समझा गया है। उनके प्रतिरोध में उनके नाट्यसंघों

ने कितना और कैसा योगदान किया है, वह अपने आप में एक इतिहास है। रूस की हज़ारों छोटी-बड़ी नाट्य-समितियों और चीन की सैकड़ों नाट्य-समितियों ने जिस प्रकार अपने देश की जनता को अपने स्वाधीनता-युद्ध के लिए जाग्रत और आन्दोलित किया है, वह सभी साहित्यकारों के लिए गर्व की वस्तु है। हज़ारों मील घूम-घूमकर उन्होंने अपने प्रदर्शन किये और चीन की उस अपढ़ जनता तक अपने देश का सन्देश पहुँचाया, जो अन्य किसी प्रकार से जगायी ही नहीं जा सकती थी। हमें निश्चय ही उनसे सीख लेनी चाहिए। चीन हमारा पुराना पड़ोसी है और रूस तो आज विश्व-भर को न जाने कितनी बातों की दीक्षा दे रहा है।

हमें यह जानकर बहुत सुख होता है कि आगरे के जन-नाट्य-संघ ने इस ओर काफी प्रशंसनीय कार्य किया है। अपने वार्षिक विवरण में अपने उद्देश्य की घोषणा करते हुए वह लिखता है:

'जन-नाट्यसंघ जनता और कलाकार के व कलाकार और जनता के बीच की दूरी को खतम करना चाहता है। इसके लिए वह यत्न करता है कि कला का जीवन से सम्बन्ध पैदा हो, सर्वसाधारण में कला को समझने-बूझने का माद्दा पैदा हो और कलाकार जनता के अन्तर (हृदय) को टटोलता हुआ, उसके मानसिक स्तर को ऊँचा करे।' अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने दो वर्ष में छोटे-बड़े कुल तैंतालीस शो दिये हैं। इन अवसरों के लिए उन्होंने नौ ड्रामे, छः बैले (मूक अभिनय), बारह नृत्य और अनेक दल-गीत तैयार किये। नाटकों में उन्होंने 'आज का सवाल', 'स्वतंत्रता संग्राम', 'नाजचोर', 'मई दिवस', 'खूनी कौन', 'भूख की ज्वाला', 'कपड़ाचोर' आदि का उल्लेख किया है। मूक अभिनय में 'बंगाल का अकाल', 'मज़दूर की आत्मा', 'किसान अन्नदाता', 'एकता की आवाज़', 'लोहे की दीवार' और 'अंगारा' का उल्लेख है। नृत्य में : 'जनता और साम्राज्यवाद', 'भूख', 'खलिहान', 'यशोधरा और सिद्धार्थ', 'जटायु और रावण', 'अकाल के पूर्व बंगाल', 'आह्वान' आदि का उल्लेख है।

आगरे का जननाट्यसंघ प्रान्त के दूसरे शहरों के प्रगतिशील लेखकों को राह दिखाता है और हमारे अंदर यह विश्वास भरता है कि धीरे धीरे हमारी कई जननाट्यसमितियाँ काम करने लगेंगी।

जून १९४५]

अमरीकी साम्राज्यवाद् का नग्न संस्कृति-विनाशक रूप

'नीग्रो साहित्य' वाले लेख में हमने अमरीका के सम्बन्ध में प्रचलित कुछ भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। वहाँ की भयङ्कर नीग्रो-समस्या का उल्लेख करते हुए हमने दिखलाने की कोशिश की है कि स्वतन्त्रता वगैरः की बातें तो महज़ बातें हैं, असलियत तो कुछ और ही है। अमरीकी ढोल की पोल मामूली नहीं है। इधर उसकी जो नयी सरगर्मियाँ हुई हैं, उनके समाचार तो और भी भयावने हैं।

प्रेसीडेंट ट्रुमन साहब के आदेश से 'अन-अमेरिकन कमिटी' ने अपना काम दस गुने जोर-शोर से शुरू कर दिया है। यह कमिटी सन् '३० में बनायी गयी थी। सन् ३० में अमरीका में और सारे संसार में जबर्दस्त मन्दी आयी थी। उस मन्दी के समय में मजदूर आन्दोलन पर हमला करने लिए अमरीका के बड़े-बड़े पूँजीपतियों के उद्योग से इस कमेटी का संघटन हुआ था। यह निरे संयोग की बात नहीं है कि फिर ऐसे ही समय में इस कमेटी ने अपनी छान-बीन शुरू की है जब फिर अमरीका में जोर की बेकारी और मन्दी आनेवाली है। सब उसी मुहूर्त की तैयारियाँ हैं। और अभी से पूत के पाँव पालने में जो दिखायी पड़ रहे हैं उससे मन में संदेह नहीं रह जाता कि अमरीकी साम्राज्यवाद हिटलर और मुसोलिनी के पगचिह्नों पर चलकर फासिज्म की ओर बढ़ रहा है।

इस 'अन-अमेरिकन कमिटी' का काम क्या है ? उसका काम है स्वतंत्र चिन्तन की राहों को रूँधना, स्वतंत्र भाषण पर ताला लगाना, प्रत्येक स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवी, साहित्यकार एवं कलाकार पर कानिस्टिबिल या खुफ़िया के दारोगा की-सी निगरानी रखना कि कहीं कोई ऐसी बात न कह दे जिससे अमरीकी अरबपतियों के स्वार्थ को क्षति पहुँचे। सन् '३० के बाद यह कमेटी सो गयी। क्योंकि इसके सामने कुछ विशेष काम न रह गया। दो तीन बरस में अमरीकी पूँजीवाद का संकट कुछ काल के लिए टल गया और स्थिति में आपेक्षिक स्थैर्य आया। फिर जब नये सिरे से परिस्थिति बिगड़ती हुई अनिवार्य भाव से नये संकट की ओर बढ़ने लगी, तो महायुद्ध की सरगर्मियाँ शुरू हो गयीं। और फिर जब युद्ध शुरू हो गया तब काफी लम्बे अर्से के लिए घर के झगड़े, पूँजीपतियों और मजदूरों के झगड़े लड़ाई के कारण अगर अस्थायी रूप से सुलझ नहीं गये तब भी कम से कम और अधिक उलझने नहीं पाये। बुद्धिजीवियों की

ओर से भी विशेष गड़बड़ी न थी—बाहरी शत्रु के मुकाबिले में, मोटे रूप से, देश के सभी लोग एक थे। अब फिर नये पूँजीवादी संकट की बेला समीप है, मन्दी और भीषण बेकारी का नया युग आ रहा है—उस दिन को दूर ठेलने के लिए ही अमरीकी साम्राज्यवाद अपने आर्थिक प्रभुत्व के नये-नये क्षेत्र ढूँढ़ रहा है, मगर तब भी घटना प्रवाह निर्मम रूप से अपनी सुनिश्चित दिशा में बढ़ रहा है। अमरीका की उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ गयी है, मगर जहाँ सभी शक्तियों में परस्पर इतनी होड़ हो वहाँ उसके तमाम माल की खपत के लिए बाजार मिलना असंभव है, उत्पादन का गिरना और बेकारी का आना अवश्यंभावी है। प्रश्न केवल इतना है कि कितने दिन तक उस घड़ी को टाला जा सकता है, कि मन्दी सन् ४७ में आवेगी या सन् ४८ में। वर्ग-संघर्ष का और प्रखर रूप लेना अनिवार्य है। इसीलिए एक ओर तो भयंकर मजदूर-विरोधी काले कानून बनाये गये हैं और दूसरी ओर मनुष्य की सद्बुद्धि और सत्प्रेरणा, उसके स्वतंत्र चिन्तन पर रोक लगाने के लिए 'अन-अमेरिकन कमिटी' ने अपनी तन्द्रा छोड़कर फिर अपनी कार्रवाई शुरू कर दी है। और तारीफ करनी चाहिए उन लोगों की जिन्होंने इसका नामकरण किया। जो भी बात कमेटी के अधिकारियों को बुरी लगेगी अर्थात् जिसमें तनिक भी प्रगतिशीलता की गन्ध होगी, उसे और कुछ न कहकर 'केवल' गैर-अमरीकी कह दिया जायेगा, अमरीका की परंपरा के विरुद्ध ! इतने से ही बात खत्म हो गयी। बहस की और कोई गुंजाइश ही नहीं। यह नामकरण जिन लोगों ने किया उन्हें निश्चय ही हमारे अपने देश के रूढ़िवादी पण्डितों से प्रेरणा मिली होगी जो अपने मत के विरुद्ध प्रत्येक नयी बात को 'अभारतीय' घोषित करके बहस पर अपनी अनायास जीत की मुहर लगा देते हैं ! बिलकुल उसी तरह जो बात हमें नहीं भाती यानी हमारी थैली को ठेस पहुँचाती है, वह 'अ—अमरीकी' !

अब अनायास यह प्रश्न उठता है कि अमरीका के विवेक के ये चिरसजग प्रहरी आखिर कौन हैं ? वे लोग कौन हैं जिनकी राय इस सवाल पर अन्तिम और निश्चयात्मक मानी जाती है कि अमुक बात अमरीका की परम्परा के अनुकूल है या प्रतिकूल ?

इस कमेटी के तीन कर्णधार हैं। रैंकिन, टामस और मुंट। रैंकिन मिसिसिपी का रहनेवाला है जहाँ बेशुमार नीग्रो लोगों को सता-सताकर मारा जाता है। उस पर एक बार हिटलर के गुर्गों की मदद करने का मुकदमा चला था। पैसेवाला होने के कारण रैंकिन को जेल नहीं जाना पड़ा।

ये तीनों सज्जन (!) खुलेआम धुरी राष्ट्रों की हिमायत करनेवाले पत्र 'स्क्रिबनर्स कामेंटेटर' में नियमित रूप से लिखते हैं और लिखते रहे हैं। इस पत्र को धुरी राष्ट्र पैसे से भी मदद पहुँचाते थे।

इतने से ही इन तीनों महानुभावों का यथेष्ट परिचय मिल गया होगा। अब शायद यह समझने में भी देर न लगेगी कि इस कमेटी का असल उद्देश्य अमरीकी प्रजातन्त्र की जड़ खोदना है जिसमें वहाँ फासिज्म का पौदा लगाया जा सके। राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्रों में रूजवेल्ट ने जो-जो परम्पराएँ चलायी थीं, ट्रूमन उनमें से एक-एक को चुन-चुनकर छिन्न-विच्छिन्न कर रहा है।

कमेटी के कार्य का महत्व कुछ-कुछ इस बात से समझ में आ सकता है कि उसने ऐसे दस लाख लोगों की एस फेहरिस्त तैयार की है जो कदापि विश्वास के योग्य नहीं हैं और जिन्हें कमेटी ने 'अ-अमरीकी' या 'अमरीकी नहीं' की उपाधि से विभूषित किया है! इन दस लाख लोगों में मजदूर आन्दोलन से,किसी प्रकार का सम्बन्ध रखनेवाले लोग तो हैं ही। उनके अलावा और भी कुछ लोग हैं जिनके नाम सुनकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि अमरीकी थैलीशाहों की धृष्टता इस सीमा तक पहुँच जायेगी। इनमें रूजवेल्ट के गहरे विश्वासभाजन, अमरीका के उपराष्ट्रपति हेनरी वैलेस हैं, रूजवेल्ट की पत्नी हैं, विश्वविख्यात अभिनेता चार्ली चैपलिन है, विश्वविख्यात नीग्रो गायक पाल रोबसन है, कैथरीन हेपबर्न और एडवर्ड जी-रॉबिंसन आदि हालीवुड के कई अभिनेता हैं! और क्यों न हो, जॉन रैंकिन और पार्नेल टामस साहब का दावा है कि वे हालीवुड की 'सफाई कर देंगे', किताबों और पत्र-पत्रिकाओं की 'सफाई कर देंगे', थियेटर और रेडियो की 'सफाई कर देंगे।' बस, फिर क्या है, जब उन्हीं की तूती बोलती है तो फिर क्यों न अप्टन सिक्लेयर, कार्ल वान डोरेन, सिंक्लेयर लुइस और हावर्ड फास्ट की कृतियों पर रोक लगा दी जाय! कौन कहता है कि आधुनिक अमरीका को लाग हावर्ड फास्ट के कारण जानते हैं? अब नया कानून बना है, जिसके मातहत लाग रैंकिन के जरिये ही अमरीका को जान सकेंगे। वाल्ट व्हिटमैन और इमर्सन के अमरीका को मिटाकर अब रैंकिन और टामस का अमरीका बनाने की तैयारी है; मगर क्या अमरीका की जनता उन्हें ऐसा करने देगी? क्या अमरीका के बुद्धिजीवी और साहित्यकार प्राणपण से उसकी विरोधिता नहीं करेंगे? करेंगे, और कर रहे हैं, उनके पत्रों को देखने से यही पता चलता है। उनको प्रेरणा मिलती है इमर्सन के इस कथन से—

'जो चिंतक या आलोचक गुलामी प्रथा का, निरंकुश शासन का, उत्पादन और व्यवसाय के एकाधिकार का, उत्पीड़न का समर्थन करता है, वह अपने नेक पेशे के प्रति विश्वासघात करता है। वह भले आदमियों की संगत में बैठने का अधिकारी नहीं है। इतना काफी नहीं है कि किसी कलाकृति में कला का नैपुण्य हो, अनोखी सूझ-बूझ हो और कला का प्रशंसनीय निखार हो, सँवार हो, प्रत्युत् यह भी आवश्यक है

कि उसमें युग और सामाजिक परिवेश के प्रति अपना दायित्व चुकाने की गंभीर प्रेरणा हो।'

अमरीका के बुद्धिजीवी अपनी चेतना को स्वतन्त्र रखने की कठिन लड़ाई लड़ रहे हैं। हमारे लिए भी यह आवश्यक है कि हम नाना रूप धरकर आनेवाले इस बहुरूपिये अमरीकी साम्राज्यवाद को भलीभाँति पहचानते रहें। अन्यथा हमारे लिए और समस्त विश्व के लिए उससे बड़ा संकट दूसरा नहीं है।

सन् '४६]

नीग्रो साहित्य

अमेरिका के जनतन्त्र की बात सुनते-सुनते कान पक गये हैं। आजकल हमारे कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में भी अमेरिका को ही आदर्श के रूप में देश के सामने प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जब 'स्वतन्त्र' भारत का विधान दिल्ली में बनाया जा रहा हो (!) तब दूसरे स्वतन्त्र देशों के विधान पर नजर डालनी ही चाहिए क्योंकि हम सबके अनुभव से लाभ उठाना चाहते हैं! देश में विभिन्न विचारधाराओं के लोग हैं, वे सभी विभिन्न देशों के विधान को भारत के आदर्श के रूप में पेश करना चाहते हैं। कोई कहता है, भारत का विधान इंगलैण्ड के ढंग का होना चाहिए, कोई कहता है सोवियत रूस के ढंग का (आवश्यक देशगत संशोधनों के साथ), कोई कहता है स्विट्जरलैण्ड के ढंग का, कोई कहता है अमेरिका के ढग का। सब अपनी अपनी बात कह रहे हैं। हम इस समय इस बहस में नहीं पड़ना चाहते कि भारत को अपना विधान बनाने के लिए किस देश को अपना आदर्श, अपना मॉडल मानना चाहिए।

अभी तो हमारा प्रयोजन केवल इस बात से है कि अमेरिका के जनतन्त्र की प्रशंसा में कनस्तर पीटने में कोई सार है या नहीं, क्योंकि यदि अमेरिका में वास्तविक जनतंत्र है ही नहीं तो फिर उसे अपना आदर्श हम कैसे बना सकते हैं?

और वहाँ पर जनतत्र नहीं है, इस बात का प्रमाण वहाँ के पददलित नीग्रो हैं। अमेरिकन लोगों की दृष्टि में नीग्रो जानवर हैं, हब्शी हैं; अंग्रेजों की दृष्टि में हम लोग जानवर हैं, हब्शी हैं; इसलिए नीग्रो लोगों के प्रति हमारी विशेष सहानुभूति स्वाभाविक है। कितने आश्चर्य की बात है कि देश के कई राष्ट्रीय नेता जो सदा हर प्रकार के 'कलर बार' या जाति-द्वेष के खिलाफ गरम-गरम भाषण और वक्तव्य देते रहे हैं, आज अमेरिका को अपना आदर्श मान रहे हैं, जब कि वहाँ का विशाल नीग्रो समुदाय गुलामों से भी गया-बीता जीवन व्यतीत करता है; नागरिक अधिकारों की तो बात ही अलग जो जीने तक के अधिकार से वचित है; जिसकी नृशंसतापूर्ण हत्या करके भी गोरी चमड़ी का अमरीकन शान के साथ सड़क पर घूम सकता है और घमंड के साथ इस बात की घोषणा कर सकता है कि उसने अमुक 'हब्शी' को मौत का रास्ता दिखला दिया! जन-जागरण की इस बीसवीं सदी में जहाँ गुलामी प्रथा पलती हो

वह देश अमेरिका है और आज वही नेताओं के एक समुदाय का कल्पना लोक बन रहा है !

इधर फिर हब्शियों के 'लिंच' (तरह-तरह से सता सताकर मारने को 'लिंच' करना कहते हैं) किये जाने की ज्यादा खबरें आ रही हैं जिससे पता चलता है कि यह चीज अब इतनी बढ़ गयी है कि उसे दबा रखना कतई मुमकिन नहीं है। किसी भी कल्पित कारण से या अकारण ही मन की मौज आ जाने पर अगर आधे दर्जन अमरीकन किसी नीग्रो को आग में भूनकर या ढेले और छुरियाँ फेंक-फेंककर मार डालें, तो भी अमेरिका के जनतंत्र का 'न्याय' इतना समदृष्टि है कि वह उन गोरे हत्याकारियों को बेकसूर साबित करके छोड़ देता है ! अनादिकाल से यही बात होती आई है और आज भी हो रही है। अमेरिका के विशिष्ट बुद्धिजीवियों ने समय-समय पर इसके खिलाफ आवाज भी उठाई है मगर वह नक्क़ारखाने में तूती की आवाज की तरह खो गई है।

नीग्रो जीवन से संबद्ध अधिक साहित्य न जाने क्यों हमें देखने को नहीं मिलता। हिन्दी के पाठक का ध्यान सबसे पहले जिस किताब ने इस ओर आकर्षित किया वह शायद 'टाम काका की कुटिया' थी। उसके बाद नीग्रो जीवन संबंधी अन्य किसी पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में हुआ हो तो हमें उसकी सूचना नहीं है। कदाचित् नहीं हुआ है। पर साहित्य निकला अवश्य है। आधुनिक अमरीकी क्रान्तिकारी साहित्य को समृद्ध बनानेवालों में, शक्तिशाली बनानेवालों में अनेक नीग्रो कवि और औपन्यासिक हैं जिन्होंने अपने दुःसह जीवन को कठोर संयत शक्तिपूर्वक अपने जीवन की ही तरह सरल भाषा में अभिव्यक्ति दी है और इस प्रकार ऐसे साहित्य की सृष्टि की है जो अपनी वेदना की गहराई, अपने संयत पौरुष, अपनी उत्सर्ग-भावना और अपने ओज सभी दृष्टियों से बिलकुल बेजोड़ है।

मई १९४७]

तीसरे महायुद्ध का शोर

आजकल अखबारों में अकसर तीसरे महायुद्ध की चर्चा रहती है। कभी कोई बड़ा देशी या विदेशी नेता इस तरह का इशारा कर देता है और यह खबर मोटे-मोटे शीर्षक देकर छाप दी जाती है। समाचारपत्र और मासिक पत्र भी इसी हवा के साथ बह निकलते हैं और संपादकीय टिप्पणियों में इस आशय की चर्चा होने लगती है। तीसरे महायुद्ध की छाया से भाराक्रान्त होकर संपादकगण अपने विचारों को प्रकट करते हैं।

हमको देखना चाहिए कि तीसरे महायुद्ध के नारे की शुरूआत कहाँ से, किन लोगों के मुँह से होती है? इस नारे की शुरूआत सबसे पहले नात्सी नेताओं ने की थी, उस वक्त जब कि युद्ध का अन्त पास था और उन्हें अपनी हार साफ़ साफ़ दिखाई देने लगी थी। आज भी उसी विचारधारा के लोग तीसरे महायुद्ध की प्रतीक्षा बहुत आतुरता से कर रहे हैं, उनकी अनेक उम्मीदें उसी पर टँगी हैं। उसकी आस लगाये हैं स्पेन के जेनरलफ्रैंको की पार्टी के लोग, भगोड़े जेनरल एँडर्स की पार्टी के लोग जिनके लिए अपने देश पोलैण्ड में स्थान नहीं है और जिन्हें ब्रिटिश सरकार से करोड़ों रुपया इस बात के लिए मिलता है कि वे पोलैण्ड की नयी जनतंत्रवादी राष्ट्रीय सरकार का विरोध करें, उसके बारे में तरह तरह की झूठी बातों का प्रचार करें और सोवियत रूस को साम्राज्य-वादी शक्ति कहकर बदनाम करें, उसकी आस लगाये हैं यूगोस्लाविया के बड़े बड़े जागीरदार और श्रेष्ठिगण जो यूगोस्लाविया के सिंहासन पर फिर से राजा को अधिष्ठित देखना चाहते हैं और जो इसी कारण यूगोस्लाविया की नयी सरकार के जानी दुश्मन हैं कि उसने राजा और उसके हवालियों-मवालियों को पदच्युत करके जनता के हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित कर दी है, और योरप की इसी तरह की अन्य प्रतिगामी शक्तियाँ जिनके हाथ से ताकत छिनकर जनता के हाथ में पहुँच गयी है। इन लोगों को इस बात की उम्मीद है कि जब इंगलैण्ड, अमरीका और सोवियत रूस में लड़ाई छिड़ेगी तब उन्हें एक बार फिर अपनी सत्ता जमाने का मौका मिलेगा। वे यह जानते हैं कि ऐसी लड़ाई छिड़ने पर ही उनके लिए शासकों के रूप में अपने देश लौटने का मौका है। इस तरह इंगलैण्ड-अमरीका और सोवियत रूस की लड़ाई पर ही उनका सभी कुछ आश्रित है, वही उनके नवजीवन का संदेश बनेगा! तब फिर क्या आश्चर्य है कि वे दिन-रात यही हो-हल्ला मचायें और अभी से युद्ध का वातावरण तैयार करें।

यह बात अगर योरप की इन्हीं पदच्युत प्रतिगामी शक्तियों तक सीमित होती, तो डरने की विशेष बात न थी। डरने की बात यह है कि इनके पीछे इनके मालिकों का बल है। इनके मालिक हैं इंगलैण्ड और अमरीका के साम्राज्यवादी। ये लोग असल में अपने मालिकों की ही आवाज हैं। चर्चिल की फुल्टनवाली स्पीच से इन प्रतिगामी शक्तियों को नया बल, नया नेतृत्व मिला है। इंगलैण्ड और अमरीका की इधर की वैदेशिक नीति भी कुछ कम सन्देह नहीं जगाती। ईरान, चीन और कोरिया के सवालों पर, अन्य बहुत-से सवालों पर मित्रराष्ट्र संघ की बैठकों में जो तनातनी इंगलैड और अमरीका तथा सोवियत रूस के प्रतिनिधियों में होती रही है, वह भी पश्चिमी साम्राज्यवादियों की नीति का काफ़ी स्पष्ट संकेत करती है। उन झगड़ों के सिलसिले में सोवियत रूस के खिलाफ़ धुँआधार प्रचार किया गया है और अकसर यह बात सुनने में आयी है कि जनतन्त्र की सोवियत और 'वेस्टर्न डिमाक्रेसीज़' की परिभाषा में बड़ा मौलिक अन्तर है और दोनों का संग संग निभना कठिन है।

हमको देखना चाहिए कि इस सब झगड़े के मूल में क्या है? जब वे ही लोग जो हमारे ऊपर और हमारे ही जैसे अन्य करोड़ों लोगों के ऊपर राज करते हैं, (और ऐसा राज, वंचकता और क्रूरता की दृष्टि से जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता!) सहसा छोटे देशों की स्वाधीनता और जनतन्त्र की दोहाई देकर यदि कुछ कहने लगें तो हमें बहुत सतर्क होकर उनकी बात को ग्रहण करना चाहिए। अगर कोई बहुत बड़ा डाकू, जिसे सब लोग अच्छी तरह से जानते हैं, एक रोज किसी भले आदमी की ओर इशारा करके जिसके खिलाफ जानेवाली, या जिसके आचरण पर धब्बा लगानेवाली एक भी बात अभी तक स्वतंत्र रूप से हमारे देखने में नहीं आयी है, कहने लगे, देखो इस आदमी से होशियार रहना, यह देखने में जितना सीधा है, असलियत में उतना ही जालिम है और फिर दूर दूर के मुहल्लों के उसके जुल्मों की एक लम्बी फेहरिस्त खोल चले तो डाकू की बात को तुरंत सच मान लेना बहुत बड़ी भूल ही नहीं, एक अक्षम्य अपराध भी होगा क्योंकि डाकू की उँगलियों से हमारे ही भाई-बहनों और हमारे ही पड़ोसियों का खून चू रहा है। हमें अपने से यह सवाल तो करना ही चाहिए कि आखिर में गौरांग महाप्रभु कब से छोटे देशों की स्वाधीनता के इतने बड़े हामी हो गये? किसी ने पूछा—क़ाज़ीजी दुबले क्यों? जवाब मिला, शहर के अंदेशे से। तो ईरान की चिन्ता में तो ऐटली साहब और बेविन साहब और टु्मन साहब और यह साहब और वह साहब सभी घुले जा रहे हैं लेकिन इण्डोनेशिया को पूरा जलाकर राख कर देने की साज़िशें हो रही हैं, हिन्दुस्तान में शान्तिपूर्ण प्रदर्शनों पर मशीनगन से आग बरसायी जाती है और सैकड़ों-हज़ारों आदमियों के खून से ज़मीन तर करने में कोई कोताही नहीं की जाती! यह कैसा अजब लगाव और मुहब्बत है आजादी से!

'छोटे देशों की आजादी का अपहरण', 'ईरान पर अत्याचार' और 'सोवियत साम्राज्यवाद' वगैरः महज़ भड़कानेवाली बातें हैं, कोरा, विशुद्ध झूठ, जिसमें एक अंश भी सत्य का मिश्रण नहीं। असलियत है सोवियत के आदर्शों के प्रसार से साम्राज्यवाद को डर। इङ्गलैण्ड और अमरीका के साम्राज्यवादी जानते हैं कि सोवियत की शक्ति बढ़ने का अर्थ होगा उनका विनाश और स्वाधीनता का जन्म। इसलिए बौखलाहट में झूठ की यह बरसात है।

इस युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद दो लक्ष्यों की सिद्धि चाहता था। अपने इन लक्ष्यों की उसने घोषणा अवश्य कहीं नहीं की, लेकिन रण-संचालन की नीति और उसके साथ साथ लगी हुई राजनीतिक कान्फ्रेंसों (जिनसे सोवियत रूस बहिष्कृत होता था, बावजूद इसके कि असली लड़ाई वही लड़ रहा था), दोनों को देखने से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दोहरे लक्ष्यों का पता चल जाता है। एक ओर तो आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवादी सोवियत रूस के साथ मिलकर हिटलर की हार को सुनिश्चित कर लेना चाहते थे और दूसरी ओर उन्हें एक बात की चिन्ता थी कि फासिज्म की पराजय का यह परिणाम न हो कि साम्यवाद आगे बढ़े या योरप में फ़ासिस्त-विरोधी जन-क्रान्तियाँ हों जो योरप के पुराने आर्थिक और सामाजिक ढाँचे को ही चकनाचूर कर दें, या सोवियत रूस की ताकत बढ़े। उनका खयाल था कि लड़ाई के दौरान में न केवल हिटलर ही खत्म हो जायगा बल्कि सोवियत रूस भी या तो खत्म ही हो जायगा या इतनी बुरी तरह कमज़ोर हो जायगा कि ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्यवाद के आगे टिक न सकेगा और वे ही तमाम योरप और दुनिया पर शासन करने की स्थिति में रहेंगे।

इस दोहरे लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने तदनुरूप ही रण-सञ्चालन की नीति अपनायी। इस रणनीति का मुख्य आशय यह था कि लड़ाई का सबसे अधिक बोझ अकेले सोवियत रूस को ही उठाना पड़े। सभी ऊँचे ब्रिटिश और फ़ौजी हल्कों में पहले यही समझा गया था कि हिटलर चन्द हफ्ता या ज्यादा से ज्यादा दो-चार महीनों में सोवियत रूस का खात्मा कर देगा। इसीलिए जिस वक्त हिटलर ने लाल फौज पर इतिहास का सबसे बड़ा और भयानक हमला बोला (स्तालिनग्राद में), उस वक्त कोई ब्रिटिश फ़ौज किसी मोर्चे पर हिटलर के खिलाफ़ नहीं लड़ रही थी। उन्हीं दिनों मध्य अतलान्तक में चर्चिल और रूज़वेल्ट मिले ज़रूर लेकिन हिटलर के खिलाफ कहीं मोर्चा खोलने का उन्होंने कोई निश्चय नहीं किया बावजूद इसके कि स्तालिन बहुत पहले से ही दूसरे मोर्चे की माँग कर रहा था। दूसरा मोर्चा जून सन् '४४ तक नहीं खोला गया। तीन साल तक सोवियत फ़ौजों को अकेले ही तमाम नात्सी फ़ौजों का सामना करना पड़ा।

दूसरा मोर्चा खोला उस वक्त गया जब कि खास लड़ाई एक तरह से खत्म हो गयी थी, हिटलर की हार में किसी को किसी तरह का सन्देह नहीं रह गया था क्योंकि उसकी कमर अच्छी तरह टूट चुकी थी और जीत में हिस्सा लगाने का समय आ गया था। चर्चिल ने तीन साल से अधिक, फ़ौजी मजबूरियों को दलील बनाकर दूसरा मोर्चा नहीं खुलने दिया था। आज चर्चिल की शकल देखने क़ाबिल होगी जब कि जेनरल आइसेनहावर के प्राइवेट सेक्रेटरी कैप्टेन बुचर की प्रकाशित आत्मकथा में यह बात साफ़ तौर पर लिखी हुई है कि जेनरल आइसेनहावर सन् '४२ के ग्रीष्म में दूसरा मोर्चा खोलने का समर्थक था, और अगर उस समय दूसरा मोर्चा नहीं खुल सका तो इसका कारण फौजी हल्कों का विरोध नहीं, राजनीतिक हल्कों का विरोध था, और उसमें भी सबसे प्रबल विरोध था—स्वयं चर्चिल का। यह बात उस समय नहीं कही जा सकती थी, लेकिन आज कही जा सकती है।

राजनीतिक सलाह-मशविरों में भी यही दुरंगी नीति पढ़ी जा सकती है। अंग्रेज़ और अमरीकी प्रतिनिधियों के सम्मेलन उन सम्मेलनों से अलग भी होते थे जिनमें अंग्रेज, अमरीका और सोवियत तीनों ही देशों के प्रतिनिधि शामिल होते थे। और जैसे जैसे लड़ाई आगे बढ़ी वैसे वैसे आंग्ल-अमरीकी सम्मेलनों का पूरा समय इसी चिन्ता में बीतने लगा कि किस तरह फ़ासिज्म के विनाश के बाद योरप में वही पुरानी व्यवस्था कायम रखी जाय।

इस तरह स्पष्ट है कि चर्चिल और अमरीकी साम्राज्यवाद ने अपना दोहरा लक्ष्य सिद्ध करने के लिए कोई कोर कसर उठा नहीं रखी; लेकिन इतिहास ने उनके लक्ष्य की सिद्धि होने नहीं दी। जिस चीज़ को सपने में देख देखकर चर्चिल का सोना हराम था, आखिरकार वही हुई। सोवियत रूस की शक्ति छिन्नभिन्न नहीं हुई और न वह दुनिया के मालिक आंग्ल-अमरीकी शक्तियों के आगे घुटने टेककर किसी चीज़ की भीख ही माँग रहा है, उल्टे वह अपने ज़बर्दस्त नुकसानों के बावजूद बहुत सफलतापूर्वक देश के पुनर्निर्माण की ओर बढ़ रहा है। हाँ, ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद के सामने अलबत्ता ज़बर्दस्त आर्थिक समस्याएँ और सङ्कट खड़े हुए हैं जिनसे पार पाना उनके लिए मुशकिल हो रहा है। योरप आंग्ल-अमरीकी पूँजीपतियों के इशारों पर नहीं नाचता, यहाँ तक कि फ्रांस भी, कम्युनिज्म के कारण अब तक आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवादी कुचक्र के बाहर ही है। पश्चिमी साम्राज्यवादियों के प्रतिगामी पिट्ठू या तो खत्म हो गये हैं या तेज़ी से खत्म हो रहे हैं; कहाँ हैं मिहाइलोविच, बदोलियो, दारलाँ, पीटर, विक्टर इमैनुएल, लियोपोल्ड? खुद चर्चिल का खात्मा हो गया है— ब्रिटिश जनता ने उनकी 'सेवाओं' पर अपना निर्णय दे दिया है और इतना ही नहीं, पूरब पश्चिम की दुनिया में हर जगह बगावत की लहर आयी हुई है।

ऐसी दशा में चर्चिल के अनुगामी और उत्तराधिकारी बेविन और ट्रूमन की बौखलाहट का कारण साफ़ है। सारे झगड़े के मूल में यही है। आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवादी ही अपनी लिप्सा में क्राइमिया, तेहरान और पोट्सडाम के अपने वायदे तोड़ रहे हैं, सोवियत ईमानदारी के साथ उनका पालन कर रहा है। अपने साम्राज्यवादी स्वप्न धूलिसात् होते देखकर उन्होंने यह जुआरी का आखिरी पाँसा फेंका है; सोवियत रूस के खिलाफ़ आंग्ल-अमरीकी मोर्चा।

अब सवाल यह है कि क्या साम्राज्यवादियों के ये इरादे पूरे होंगे?

हमारा विश्वास है कि अब तीसरा महायुद्ध छेड़ना उतना आसान नहीं है जितना कि ये साम्राज्यवादी समझ बैठे हैं। जनता लड़ाई से ऊब चुकी है और उसकी चेतना का स्तर भी अब वह नहीं है जो कि पहले था।

वे कौन से कारण हैं जो हमें यह सोचने का मौका देते हैं कि आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवादी इच्छा करके भी तीसरे महायुद्ध का सूत्रपात नहीं कर सकेंगे? वे कारण मोटे रूप में हैं:

* फ़ासिज्म का विनाश।
* सोवियत रूस की बढ़ती हुई शक्ति और प्रतिष्ठा।
* संसार की मज़दूर श्रेणी की शक्ति का विकास।
* देश देश में मज़दूरों का संगठन और एकता।
* योरप में नयी जनतांत्रिक सरकारों की स्थापना।
* औपनिवेशिक जातियों, (इंडोनेशिया, भारत, मिस्र, अरब, ईरान) का स्वतंत्रता की ओर बढ़ना।
* मित्रराष्ट्र संघ की स्थापना।

इस अन्तिम कारण को अधिकांश लोग अनास्था से ग्रहण करेंगे। इसका कारण यह है कि मित्रराष्ट्रसंघ को बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनका कारण मौलिक मतभेद है, लेकिन अगर गौर से देखा जाय तो इन सब कठिनाइयों के बावजूद मित्रराष्ट्रसंघ साम्राज्यवादियों के हाथ की कठपुतली नहीं बन पाया है, जैसी की लीग आफ़ नेशन्स थी, और सोवियत रूस की उपस्थिति साम्राज्यवादी अभियान के रास्ते में बड़ी रुकावटें डालती है।

ये कारण तीसरे महायुद्ध की संभावनाओं को कम करते हैं, लेकिन ऐटमबम को लेकर आज साम्राज्यवादी काफ़ी उछल-कूद कर रहे हैं। पर यह समझना भूल होगी कि अकेले ऐटम बम शक्तियों के संतुलन को बिलकुल बदल देगा।

पर तो भी हमें सतर्क अवश्य रहना है क्योंकि जब तक साम्राज्यवाद और पूँजीवाद

का अस्तित्व है, तब तक युद्ध की आशंका रहती ही है ; लेकिन साम्राज्यवादियों के इस कौवारोर से बहुत अधिक संत्रस्त होने का कोई भी कारण नहीं है क्योंकि युद्ध अगर होगा तो जनता ही लड़ेगी, ट्रूमन या चर्चिल लोहे का टोप पहनकर रणक्षेत्र में नहीं जायँगे, और जनता को आज सोवियत के खिलाफ लड़ाई में झोंकना बहुत सरल नहीं है।

कैबिनेट मिशन भारतीय जनता को अपने साम्राज्यवादी मोर्चे में लेने के लिए ही इस समय देश में पैंतरेबाज़ी कर रहा है। हमें उसकी ओर से भी सतर्क रहना चाहिए, नहीं लंदन मार्का झूठी आजादी का मूल्य कहीं हमें यह न चुकाना पड़े कि हमें एक क्रान्तिकारी, स्वतंत्रता-प्रिय देश के खिलाफ हथियार उठाना पड़े। हमें चाहिए कि हम अपने पूँजीवादी नेताओं और उनके अमरीकी और अँग्रेज़ आकाओं को गरजकर सुना दें कि हम यह चीज़ कभी नहीं होने देंगे, हम हिन्दुस्तान को हरगिज़ हरगिज़ सोवियत रूस या चीन के खिलाफ युद्ध का अड्डा नहीं बनने देंगे।

जून १९४६]

संकटग्रस्त साम्राज्यवाद का सोवियत-विरोधी अभियान

दुनिया भर में ब्रिटिश और अमरीकन साम्राज्यवादियों के अखबारों का जाल बिछा हुआ है। इस जाल का काम नादान आदमियों को फँसाना और उनसे अपने मन का काम कराना होता है। जिस समय युद्ध चल रहा था, उस समय भी सोवियत के विरुद्ध प्रचार हुआ करता था, लेकिन वह प्रचार लुक छिपकर और बहुत से क़लई मुलम्मे के साथ होता था क्योंकि खुल्लमखुल्ला सोवियत-विरोधी प्रचार संभव नहीं था—सोवियत रूस भी एक महान् मित्रशक्ति था, विशेषतया जिसके उद्योग से ही फासिस्त जर्मनी और इटली को परास्त किया जा सका। ऐसी प्रबल मित्रशक्ति के विरोध में प्रचार करने के लिए बावन तो क्या तिरपन इंच की छाती होनी चाहिये थी। तिरपन इंच की छातीवाले वीर साम्राज्यवादी देशों में बहुत कम नहीं थे, लेकिन वे भी अपनी स्थिति की विषमता को समझते हुए अधिकतर चुप रहने में ही अपना कल्याण समझते थे और छठें-छमासे या कभी ज़रा जल्दी-जल्दी जो ज़हर उगलते भी थे वह भी आज के समान विशुद्ध जहर न होता था, इसमें सन्देह नहीं।

लेकिन आज तो परिस्थिति ही बिलकुल बदल गयी है। आज की दुनिया में तो वे अपने आपको सोवियत के विरुद्ध खड़ा हुआ पाते हैं। उन्हीं के पास सबसे अधिक साम्राज्य है, इसीलिए उन्हें ही सोवियत आदर्शों के प्रसार से सबसे अधिक खतरा है। सोवियत का आदर्श विश्व की स्वाधीनता है; अमरीकन और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का 'आदर्श' है संसार पर गोरों का आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व। सोवियत और इन 'पाश्चात्य प्रजातन्त्रों' के परस्पर संघर्ष के मूल में यही बात है। साम्राज्यवादी समाचार-पत्र और उन्हीं की देखादेखी हमारे राष्ट्रीय पत्र समस्या को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं जैसे यह संघर्ष एक पतनशील और दूसरे वर्द्धिष्णु साम्राज्य की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता को छोड़कर और कुछ न हो। यदि हम सोवियत प्रणाली के मूल में निहित आदर्शों की ओर न जायँ और साम्राज्यवादी पत्रों द्वारा पेश की गयी 'घटनाओं' को पूरा-पूरा सच मानकर गले के नीचे उतार जायें, ता बात अलग है, लेकिन यदि हम हरदम इस बात को याद रखते हैं कि सोवियत रूस में वही व्यवस्था है जो कि ज़ारशाही साम्राज्य को खत्म करके स्थापित हुई थी और जिसने इतिहास में पहली बार 'अपने ही' क्रूर साम्राज्य-वादियों द्वारा पराधीन बनाये गये दूर-पास के देशों को स्वाधीन किया था तब फिर

संदेह की गुंजायश नहीं रह जाती। अगर हम यह याद रखते हैं कि वही स्तालिन जो आज सोवियत रूस का प्रिय नेता है उसी ने फ़िनलैण्ड को ज़ार की पराधीनता से मुक्त किया था और मध्य एशिया की दर्जनों मुसलमान जातियों को जिनकी कुल जन-संख्या आठ करोड़ होती है इस बात की स्वतंत्रता दी थी कि वे चाहें तो ज़ार से संबंध-विच्छेद करके अपना स्वतंत्र जनतंत्र स्थापित कर लें, तो हम यह कभी नहीं मान सकेंगे कि वही स्तालिन आज ईरान और तुर्की पर दाँत गड़ाये है, या पोलैण्ड और रुमेनिया को हड़पकर बैठ गया है। जो लोग आज झट से यह बात स्वीकार कर लेते हैं कि रूस तुर्की को खा जाना चाहता है, वे भूल जाते हैं कि आज का तुर्की कमालपाशा ने सोवियत रूस की मदद से गढ़कर तैयार किया था। अंग्रेज़ों के आधिपत्य से तुर्की को मुक्त करने और स्वतंत्र तुर्की की स्थापना करने में सोवियत रूस का बड़ा हाथ था, यह इतिहास की बात है। लेकिन आज इतिहास को ही नकारने या नये सिरे से, मनमाने ढङ्ग से लिखने की चेष्टा हो रही है। जब यह बात कही जा रही थी कि सोवियत रूस चीन में अपना साम्राज्य-विस्तार चाहता है तब यह बात भुला दी गयी थी कि आधुनिक चीन के निर्माण में सोवियत रूस का हाथ है, और इसीलिए आधुनिक चीन के पितामह सनयातसेन की वैदेशिक नीति का आधारस्तंभ सोवियत रूस के साथ मैत्री था। सोवियत रूस सनयातसेन का विश्वास इसीलिए अर्जित कर सका था कि उसने निरंतर चीन के स्वाधीनता संग्राम में सहायता पहुँचायी थी। पर आज कुछ ऐसी स्थिति है कि सनयात-सेन के उत्तराधिकारी सोवियत रूस के खिलाफ़ साम्राज्यवादियों से मिलकर षड्यन्त्र करते हैं। मैडम च्यांगकाईशेक स्वीकार करती हैं कि अपनी जापान-विरोधी लड़ाई में चीन को यदि किसी देश से सबसे अधिक और सबसे अधिक नियमित तथा अविच्छिन्न रूप में सहायता मिली है तो वह देश सोवियत रूस है, लेकिन इसे स्वीकार करने पर भी वे सोवियत-विरोधी षड्यन्त्र से बाज़ नहीं आतीं!

और देशों की क्या कहें जब हमारे ही देश में बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेता कांग्रेस की परंपरा को धता बताकर, अपनी ही पुरानी बातों को हज़म करके आपस में होड़ कर रहे हैं कि सोवियत को कौन अधिक गाली दे सकता है, कौन अधिक बार उसे साम्राज्य-वादी पुकार सकता है!

[जून '४५]

तीन जादूगर

इस समय जो तीन जादूगर हमारे देश में आये हुए हैं, वे यही पता लगाने आये हैं कि सोवियत रूस के खिलाफ हमारा सिर्फ ज़बानी जमा-खर्च है या उसमें कुछ ठोस तत्त्व भी है। यानी यह कि अगर ब्रिटेन और अमरीका रूस के खिलाफ लड़ाई छेड़ें तो कांग्रेस और मुसलिम लीग अंग्रेजों का साथ देंगी या नहीं? हिन्दुस्तानी जनता को सोवियत जनता पर गोली चलाने के लिए कहेंगी या नहीं?

यही हमारी समझ में इन तीन जादूगरों के यहाँ आने का उद्देश्य है। हम इस निश्चय पर और भी इसलिए पहुँचते हैं कि सहसा देशी और विदेशी पत्रों में यह प्रचार बहुत ज़ोर पकड़ गया है कि सोवियत रूस की आँख भारत पर भी है और वह ईरान के रास्ते हिन्दुस्तान ही पर तो बढ़ा आ रहा है! सिताबो-गुलाबोवाले तमाशे में जब दोनों पुतलियाँ दर्शकों के सामने नाचने और नखरे करने लग जाती हैं उस समय यह न भूल जाना चाहिए कि पर्दे के पीछे से कोई डोर खींच रहा है। उसी तरह जब देशी और विदेशी अखबार एक खास तरह के प्रचार का राग सहसा अलापने लग जायँ, जोर-जोर से, उस समय तुरन्त यही सोचना चाहिए कि गौरांग महाप्रभु अवश्य कोई नया कुचक्र रच रहे हैं, कोई नई व्यूह-रचना हो रही है। इसीलिए हमारा यह मत है कि आज जो सोवियत का हौआ हमारे देश में खड़ा किया जा रहा है वह समझौते का वातावरण तैयार करने के लिए ही। राष्ट्रीय पत्र इस सोवियत-विरोधी अभियान में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का हाथ इसलिए बँटाते हैं कि उनकी नीति उनके मालिकों द्वारा निर्धारित होती और उनके मालिक सभी बड़े-बड़े पूँजीपति हैं—जैसे बिड़ला, गोयनका आदि। ब्रिटिश पूँजीपतियों के ही समान भारतीय पूँजीपतियों की आँखों में भी सोवियत रूस गड़ता है। उनके मन का चोर भी यही है कि सोवियत रूस को नेस्तनाबूद कर देया जाय। इसीलिए अंग्रेजों के सोवियत-विरोधी अभियान में सहयोग देने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। भारतीय पूँजीपति भी सोवियत-विरोधी हैं। इसलिए उनके शासन में चलनेवाले समाचार-पत्रों की बातों को राष्ट्रीयता का वेदवाक्य मानने का कोई कारण नहीं है। हाँ, इस बात को कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि भोली जनता, राष्ट्रीय समाचार पत्रों में दी गई विचारधारा को ही सच्ची राष्ट्रीयता समझ बैठती है।

राष्ट्रीय समाचार पत्र यह भी प्रचार कर रहे हैं कि अमात्य शिष्टमण्डल (ईंती जादूगर !) भारत को स्वाधीनता देने आया है। स्वाधीनता कोई लड्डू है जो कोन आकर पकड़ा जायगा ! कैसी गुलामी की भावना है कि हम जल्दी से इस तरह की थोथी बातों को सच मान लेते हैं ! इस खतरनाक प्रचार के विरोध में हम केवल थोड़े से प्रश्न पूछना चाहते हैं और अपने पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे भी उन पर विचार करें और जब कोई उनसे यह बात कहे कि अमात्य-मण्डल भारत को स्वाधीनता दे सकता है तब वे पलटकर ये प्रश्न उससे पूछें—

* अंग्रेज़ अगर बिना रक्तपात के भारत छोड़ने को तैयार हैं तो जनता के शान्ति-पूर्ण, साम्राज्य-विरोधी प्रदर्शनों पर वे ऐसा पाशविक दमन क्यों चला रहे हैं ? क्या यह शान्ति से शक्ति हस्तांतरित करनेवालों के लक्षण हैं कि बात-बात पर गोली चलाई जाय और सैकड़ों-हज़ारों को भूनकर रख दिया जाय ? कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि की घटनाएँ क्या यह बतलार्ती हैं कि अंग्रेज़ बिना युद्ध के भारत छोड़ देंगे ?

*अब तक ऐटली ने भारत की स्वाधीनता की घोषणा क्यों नहीं की है ?

*अब तक शिष्टमण्डल की ओर से या ब्रिटिश सरकार की ओर से यह क्यों नहीं घोषित किया गया है कि प्रस्तावित विधान-परिषद् के निर्णय सर्वोच्च और सर्वमान्य होंगे ?

*जो विधान परिषद् बालिग़ मताधिकार के आधार पर नहीं बुलायी जायगी, क्या वह वास्तव में देश की जनता की आशा और आकांक्षा का प्रतिनिधित्व कर सकेगी ? विधान परिषद् को अगर देश की जनता के प्रति जवाबदेही करनी है तो उसे देश की जनता द्वारा चुना जाना होगा। सीमित मताधिकार के आधार पर संयोजित विधान-परिषद् देश का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, इसीलिए जनता की विधान-परिषद् की माँग कांग्रेस सदा से करती आयी है। क्या अंग्रेज़ सरकार ऐसी विधान-परिषद् के लिए तैयार है ? अगर है तो ऐसी घोषणा अब तक उसने क्यों नहीं की है ?

*ऐटली के नये भाषण में जिसकी बड़ी प्रशंसा चारों ओर हो रही है, नया क्या है ? सिवाय एक शब्द के—'आत्मनिर्णय' के स्थान पर 'स्वाधीनता' और एक नया वाक्यांश—'बहुसंख्यकों की प्रगति में हम अल्पसंख्यकों का बाधक न होने देंगे।'

*अगर अंग्रेज़ सरकार सचमुच 'बहुसंख्यको की प्रगति में अल्पसंख्यकों को बाधक नहीं होने देना चाहती' तो उसने लगे हाथ भारत की स्वाधीनता की घोषणा क्यों न कर दी ? यह व्यर्थ का ढोल पीटना कैसा ?

यह तो अंग्रेज़ों की पुरानी चाल है कि जब वह हमारे देश को बहुत आगे बढ़ता हुआ देखते हैं और जब उन्हें इस बात का विश्वास हो चलता है कि अब वे पुराने ढंग से राज न कर सकेंगे, तो तुरन्त एक छछूँदर छोड़ देते हैं। आखिर कब तक हम

इसी तरह उनकी छछूँदरों के पीछे दौड़ते रहेंगे ? हम कब यह अनुभव करेंगे कि अपनी आजादी की कुंजी हमारे हाथ में है, पेथिक लारेंस के हाथ में नहीं ? हम कब यह अनुभव करेंगे कि हमें इन तीन जादूगरों का मुँह न ताककर अपनी ही फौज को लड़ाई के लिए तैयार करना है ? हम कब यह अनुभव करेंगे कि दुश्मन पर विश्वास और भाई पर सन्देह करने से कभी आज़ादी नहीं मिलती ?

जून '४६]

गाँवों में शिक्षा-प्रचार का ढोंग

बच्चों की किताब का एक पाठ शुरू होता है—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। बहुत बड़ा सत्य इस एक वाक्य में है।

भारतीय मानवता का विशाल अंश गाँवों में ही रहता है। उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक दशा क्या है, सब जानते हैं। उसकी शिक्षा, उसके संस्कार (कु ?) आदि भी सभी जानते हैं। सही अर्थों में उसका जीवन पशु का है—उसी के बैल का-सा !

वही देश के लिए अन्न उपजाता है। वही देश की पुकार पर भी सबसे पहले दौड़ता है लेकिन वही सबके अधिक विपन्न है, सबसे अधिक अशिक्षित है। पर शायद यह कहना गलत है क्योंकि 'सबसे अधिक अशिक्षित' होने में भी कुछ शिक्षा की उपलब्धि निहित है, लेकिन यहाँ तो मामला बिलकुल साफ़ है। मेरे गाँव में नयी पीढ़ी के जितने हैं यानी वे जो मेरे हमजोली हैं, जिनके साथ मैं गुल्ली-डंडा या कोइना (महुए का बीज) खेला हूँ, वे तो सभी थोड़ा-बहुत पढ़े हैं, कोई उर्दू-हिन्दी मिडिल तक पढ़ा है, कोई और आगे एन्ट्रैंस पास है, कोई एफ० ए० में है, बी० ए० तक शायद कोई नहीं पहुँचा है। लेकिन नयी पढ़ी के किसान लड़के बी० ए०, एम० ए० तक पढ़ते हैं, तकलीफें सहकर पढ़ते हैं, लेकिन पढ़ जाते हैं। पर ऐसे थोड़े ही होते हैं। अधिकांश तो जल्दी ही खेत के काम पर बैल ही के समान जोत दिये जाया करते हैं। और पहले तो, यानी पचीस तीस साल पहले तो इतनी पढ़ाई का भी नाम नहीं था। आँकड़े मेरे सामने नहीं हैं : मैं अपने गाँव को ही ध्यान में रखकर बात कर रहा हूँ। मेरा ख्याल है कि मेरा गाँव सामान्य गाँवों का परिचय देने में समर्थ है। मेरे यहाँ पढ़ाई का यह हाल है कि कोई मकड़े की टाँग के समान अपना नाम 'बकलम खुद' लिखने में सक्षम है तो कोई बीस तक का पहाड़ा जानता है और कोई सौ तक की गिनती जानता है। कोई ऐसा भी है जो कौड़ी-कौड़ी करके गिन पाता है।

स्पष्ट है कि शिक्षा के इस धरातल पर रहकर देश कोई उन्नति नहीं कर सकता और आजादी के बाद की बात को अभी जाने भी दें, तो भी आजादी लाने के लिए ही जिस

उन्नत चेतना की आवश्यकता है, वही नहीं संभव होगी जब तक कि राष्ट्रीय संस्थाएँ इस ओर ध्यान न दें।

राष्ट्रीय संस्थाओं ने इस प्रश्न को ओर ध्यान अवश्य दिया है लेकिन सतही तौर पर। पिछले कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने अपने समक्ष जनसाक्षरता का एक लक्ष्य रखा था। अपने इस लक्ष्य को उन्होंने कहाँ तक पूरा किया, यह तो वही जान सकते हैं, लेकिन सामान्य जनता ने तो साक्षरता आन्दोलन को एक प्रकार की रस्म अदायगी या टोना-टोटका ही समझा। जिन व्यक्तियों को इस कार्य्य का भार सौंपा गया था, उन्होंने अपने चारों तरफ अपने मुसाहबों की एक सेना खड़ी कर ली और अपने घर के दरबार को ही जनसाक्षरता का आन्दोलन समझ लिया। इसका परिणाम जो हुआ वही स्वाभाविक था। किसी योजना के अन्तर्गत कार्य नहीं हुआ। न किसी योजना के अन्तर्गत किताबें लिखवायी गयीं, न किसी योजना के अन्तर्गत गाँव-गाँव पुस्तकालय खोलकर किताबें वितरित ही की गयीं, न इसके लिए संगठनकर्ताओं को ही ढङ्ग से काम सौंपा गया। जिसे चापलूसी करना आता है उसकी किताब ले ली गयी चाहे फिर वह कितनी ही कूड़ा किताब क्यों न हो। जो प्रकाशक अधिकारियों को हर तरह से प्रसन्न रख सकता है, उसको छूट मिली हुई है कि किसी तरह की किताब छापे, शिक्षा-प्रसार विभाग के ज़रिये उसकी खपत तो सुनिश्चित है! जहाँ इस तरह की गड़-बड़ियाँ घुस जाती हैं, वहाँ काम नहीं होता, काम का पाखंड होता है।

इस बार मंत्रिमण्डल बनने के साथ ही यह प्रश्न फिर उठेगा। इस बार सबका यह उद्योग होना चाहिये कि शिक्षाप्रसार का कार्य वास्तव में उसी स्फूर्ति और उसी भावना के साथ हो जो कि एक जनता के मंत्रिमण्डल के लिए उपयुक्त है। अगर जनता के मंत्रि-मण्डल में भी इस तरह के परम आवश्यक काम किसी व्यक्ति के शैथिल्य के दलदल में पड़कर नष्ट हो जायेंगे तो फिर जनता के मंत्रिमण्डल और जनता के दुश्मनों के मंत्रि-मण्डल में अन्तर ही क्या रहा? सोवियत रूस में जनशिक्षा के बिजली के समान प्रसार ने यह बात सिद्ध कर दी है कि अगर कोई जनता की सरकार अपने सामने जनशिक्षा की क्रान्तिकारी योजना रखकर काम करे तो बहुत थोड़े समय में वह लाखों-करोड़ों आदमियों को शिक्षित कर सकती है। कहा जा सकता है कि ये मंत्रिमण्डल पूर्णरूपेण स्वाधीन तो होंगे नहीं, कि उन्हें अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में कभी पैसे की कठिनाई पड़े ही न।

इस आपत्ति का समाधान करते हुए हम केवल यह कहना चाहते हैं कि ऐसा मंत्रि-मण्डल किसी काम का नहीं जिसे जनता को शिक्षित करने का भी पूरा अधिकार, पूरी सुविधाएँ न हों। जनता के मंत्रिमण्डल को आज की परिस्थिति में निरन्तर संघर्षशील

होना पड़ेगा—हर छोटी-बड़ी बात पर उसे संघर्ष करना पड़ेगा—जिसमें वह सारे विघ्नों से लड़ता हुआ जनता की सेवा कर सके।*

* तब से अब तक हमारी सारी उम्मीदों पर पानी फिर गया है और हम देख रहे हैं कि यह पूँजीवादी हकूमत भी जो कि अंग्रेजों के साथ गठबंधन के बल पर कायम हुई है जनता को शिक्षित नहीं होने देना चाहती, उसे मूर्ख रखना चाहती है।—ले० सन् '४६]

हमारे साहित्य का नया स्वर

कुछ वर्ष पहले संपादक प्रेम की कहानियों के मारे परीशान रहा करते थे। प्रेम का वही त्रिकोण, एक लड़की, उसके दो चाहनेवाले, या एक लड़का और उसकी दो चाहनेवालियाँ। सिनेमा और सर्कस। पार्क और बगीचा और नदी का किनारा। साँझ का धुँधलका या रात का घुप्प अँधेरा। इत्र में बसी रूमालें। चुम्बन या प्रेमी के सीने पर सिर रखकर सिसकियाँ और हिचकियाँ और हृत्तन्त्री के तारों का झनझनाना। ग़रज़ यह कि उसकी तबियत परीशान हो जाती थी इस चीज़ से।

यह बहुत सुख का विषय है कि उस तरह का साहित्य अब एक तरह से बोरिया-बँधना लेकर चला ही गया है। 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' और इसी तरह के कुछ और सस्ते पत्रों को अगर छोड़ दें (क्योंकि इन पत्रों ने तो गंदे चित्रों के प्रकाशनों के समान इस प्रकार का साहित्य प्रकाशित करना अपना धंधा बना लिया है) तो मानना होगा कि उस प्रकार का सस्ता रोमांटिक साहित्य अब हमारे यहाँ से भली प्रकार उठ चला है। पहले कोई भी कलम उठाता था तो शुरू में ऐसी ही चीज़ें लिखता था। कवि हुआ तो बिना हृत्तन्त्री का तार झनझनाये उसका काम न चलता था और कहानी-लेखक हुआ तो प्रेम का पचड़ा लेकर बैठ गया और लगा नायक से छत की कड़ियाँ गिनवाने और नायिका से सिसकियाँ भरवाने।

अब वैसी बात नहीं है। अब हमारे साहित्य का स्वर निश्चित रूप से बदल गया है। प्रगतिशील साहित्य के मूल सिद्धान्त, जीवन और साहित्य की अन्योन्याश्रता ने बड़े से बड़े से लेकर छोटे से छोटे लेखक तक की चेतना में अपनी सोरें डाल दी हैं, यह निर्विवाद है। यहाँ पर हम इस बहस में नहीं पड़ना चाहते कि इस विकास का कितना श्रेय प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन को है और कितना जीवन की उन निर्मम वास्तविकताओं को जो किसी प्रकार के भ्रम के पोषण का अवसर देने को तैयार नहीं हैं और ईमानदार लेखक को विवश कर रही हैं कि वह अपनी कल्पना के उच्च शिखर से नीचे उतरे जहाँ जीवन कीचड़ और खून में सना कराह रहा है। वाद के सम्बन्ध में लेखकों के मतभेद हो सकते हैं लेकिन ईमानदार लेखकों में इस बात पर परस्पर मतभेद की गुंजाइश नहीं है कि सबको कुचले हुए, नंगे-भूखे हिन्दुस्तान को ऊपर उठाना है। ऐसे काल में जब कि परिस्थितियाँ इतनी विषम नहीं थीं, किसीईमानदार लेखक के लिए

यह सोच सकना शायद संभव था कि देश को सदा उठाने का काम मेरा नहीं है, दूसरे हैं जो कि इस काम को कर सकते हैं और शायद मुझसे अच्छा कर सकते हैं, लेकिन आज वह बात नहीं है। आज तो देश पर विपत्ति इतनी बड़ी है कि उसे दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग आवश्यक है। किसी की उदासीनता के लिए जगह हां नहीं है (जगह है लेकिन राष्ट्र की उपेक्षा करके !), बड़े से बड़े कल्पना-विलासी की उदासीनता के लिए भी नहीं। और कोई ईमानदार लेखक इस हद तक कल्पनाविलासी नहीं हो सकता कि वह राष्ट्र की सारी पीड़ा, उसके अपमान की समस्त गहनता की उपेक्षा करके अपनी कल्पना की रँगरलियों में डूबा रहे।

और यही कारण है कि आज हमारे साहित्य में एक नया स्वर सुनाई दे रहा है—संघर्ष का स्वर। आज जो साहित्य आगे आ रहा है वह प्रेम के तराने नहीं गाता, युद्ध का सिंहनाद करता है; राष्ट्र के अपमान के चित्र खींचकर पाठक को कोड़े मारता है और उसे आगे बढ़ाकर दुश्मन से जूझने का संदेश देता है। संपादक की डाक में जो समस्त साहित्य आता है उसमें यही संघर्ष का स्वर प्रधान रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि कला की दृष्टि से इसमें बहुत-सी सामग्री अत्यन्त दुर्बल भी होती है। अकसर कोरी नारेबाजी होती है जो हृदय का स्पर्श नहीं करती। 'जयहिन्द' और 'सुभाषबोस' पर कविताएँ लिखना फैशन-सा हो गया है। ज्यादातर ये कविताएँ कमज़ोर होती हैं लेकिन राष्ट्र की आत्मा का परिचय तो वे भी देती हैं—अपनी सारी कमज़ोरियों के बावजूद।

और यह परिचय बहुत सन्तोषजनक है क्योंकि वह अपने आपमें देश की संग्राम-शीलता का, स्वाधीनता का बीज छिपाये हुए है।

सन् '४६]

हिन्दी में बालसाहित्य की कमी

हमारे घर में अकसर सोवियत रूस की चर्चा होती है। अकसर वार्तों में सोवियत रूस आदर्श के रूप में घूम-फिरकर आ खड़ा होता है। नारी-स्वाधीनता का प्रश्न माँ की ओर से उठा, तो उसकी भी परिणति सोवियत रूस की नारी-स्वाधीनता में है। यदि किसानों-मजदूरों की आजादी और सुख-समृद्धि की चर्चा हो रही है, तो उसमें भी सोवियत रूस का आदर्श सामने आता है। घर में लड़के अगर फौजी बहादुरी का जिक्र निकालते हैं तो उसमें भी सोवियत रूस सबके आगे है। ग़रज़ यह कि कोई बात हो, सोवियत रूस की चर्चा होनी आवश्यक है।

इसका प्रभाव घर के लड़कों पर भी पड़ा है। वे अकसर मुझसे सोवियत रूस के बारे में सवाल किया करते हैं, ऐसे सवाल जो उनकी बुद्धि में समाते हैं। बच्चे अकसर सोवियत रूस के बच्चों के बारे में ही पूछते हैं, स्कूल की पढ़ाई की बातें, खेल-कूद की बातें। मैं उन्हें जवाब दे दिया करता हूँ लेकिन कभी इतने विस्तार से उनसे बात नहीं कर पाता कि उनके सभी प्रश्नों का सम्यक् उत्तर दे सकूँ। स्पष्ट है कि पुस्तक का स्थान मौखिक चर्चा नहीं ले सकती। मौखिक चर्चा से तो किसी विषय में दिलचस्पी भर पैदा की जा सकती है और उसके आगे तो फिर निजी अध्ययन ही चल सकता है।

जब निजी अध्ययन के लिए बच्चों को कोई पुस्तक पकड़ाने की बात सोचता हूँ तब पाता हूँ कि पुस्तकें हैं ही नहीं, दूँ क्या। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, इतिहास, पुराण आदि विषयों पर बच्चों के लिए सरल, प्रामाणिक पोथियाँ ही नहीं हैं, वहां 'चलती रेल चलती रेल' या 'होलो आयी होलो आयी' के ढंग की कविताएँ और बाबा आदम के जमाने की दादी की कहानियाँ और वही पहेलियाँ जो बार-बार बुझायी और बूझी जाने पर भी जैसे बासी ही नहीं पड़तीं और वही हँसी के गोलगप्पे जिनसे अब बच्चों को भी हँसी नहीं आती क्योंकि वे उन्हें कण्ठस्थ हो गये हैं। किसी चीज में कोई नवीनता नहीं रह गयी है। बच्चों की पत्रिकाओं को उलट डालिए आपको मेरी बात की सत्यता का प्रमाण मिल जायगा। किसी बाल-पत्र ने अगर बहुत प्रगति की, तो गांधी, जवाहर या सुभाष बोस के बारे में कोई कविता या उनकी जीवनी उठाकर छाप

दी। इतने से ही हमारे बालकोपयोगी पत्रों के कर्त्तव्य की इतिश्री हो जाती है। बालक-बालिकाएँ हमारे राष्ट्र का कितना महत्त्वपूर्ण अंग हैं, कल के रोज वही राष्ट्र का भार उठायेंगे, इसकी चेतना का स्पर्श भी हमारे इन पत्रों को जैसे ठीक से नहीं है : अगर होता तो विश्व की प्रत्येक वस्तु और क्रिया-कलाप के ज्ञान को सरल शैली में बच्चों तक पहुँचाने का दायित्व हम अपने ऊपर अनुभव करते। अगर छुटपन से ही बच्चों को ऐसा दिमागी भोजन नहीं मिलता जायगा कि वे आगे चलकर अपनी जनता और अपने देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकें तो वे निश्चय ही उम्र पाने पर एक सूनापन-सा अनुभव करेंगे, उनके सामने उनके कर्त्तव्य की कोई ठीक रूपरेखा न होगी। यही कारण है कि प्रत्येक स्वतंत्र देश अपने बच्चों की शिक्षा और संस्कार पर विशेष ध्यान देता है क्योंकि अंततः उन्हीं पर सारे देश का दारोमदार है। हमने अभी इस चीज का महत्व काफी नहीं समझा है, और अगर समझा भी है तो उथले रूप में क्योंकि इस कमी को पूरा करने को कोई जबर्दस्त कोशिश किसी तरफ़ से नहीं हो रही है। अन्य प्रान्तीय भाषाएँ तो कुछ कर भी रही हैं। कम से कम गुजराती और बँगला तो इस दिशा में काफ़ी प्रगतिशील हैं। बँगला में बहुत उच्चकोटि का बालकोपयोगी साहित्य मिलता है, सभी विषयों पर। मेरा ध्यान भी अपने साहित्य की इस कमी पर तब गया जब मैंने एक दिन एक बँगला पुस्तकों के विक्रेता के यहाँ बेशुमार बालोपयोगी किताबें देखीं जिनमें 'छोटोदेर राजनीति' और 'छोटोदेर सोवियत' जैसी अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक पुस्तकें भी थीं। सबसे पहले तो उनका गेट-अप देखकर मेरी आंखें खुल गयीं। यों तो अच्छा निकलना सभी पुस्तकों के लिए जरूरी होता है लेकिन बच्चों की किताबों के लिए तो उसका बहुत बड़ा महत्व है क्योंकि उस समय बच्चों को पढ़ने के लिए आकर्षित करना ही मुख उद्देश्य होता है। वयस्क आदमी तो अपनी रुचि की किताब पढ़ेगा ही, उसका गेट अप चाहे जैसा हो (इसका यह आशय नहीं है कि वयस्क आदमी पर अच्छे गेट-अप का कोई प्रभाव नहीं होता, बहुत बड़ा प्रभाव होता है) लेकिन छोटा लड़का तो पुस्तक तभी पढ़ेगा जब उसे उसमें आकर्षण मिलेगा। इसलिए छोटे लड़कों की किताबें मोटे टाइप में, तरह-तरह के लाल-पीले रंगों में, तस्वीरों वगैरः के साथ छापी जाती हैं। हमारे प्रकाशक भी बालकोपयोगी पुस्तकों को भिन्न ढङ्ग से छापते हैं, इसमें संदेह नहीं, लेकिन हमारी पुस्तकों के गेट-अप और बँगला पुस्तकों के गेट अप में इतना ज़मीन आसमान का अंतर है कि कहा नहीं जा सकता। हमारे प्रकाशक किसी पुस्तक को लाल-पीले रंगों में छापने को ही कला की पराकाष्ठा समझते हैं। बँगला में ऐसा नहीं है। वे लोग सचमुच अपने बालकोपयोगी (और अन्य साहित्य भी) साहित्य की छपाई आदि में अपनी परिष्कृत, कलापूर्ण रुचि का परिचय देते हैं। वास्तव में उनके प्रकाशनों को देखकर ईर्ष्या होती है।

उनका बालकोपयोगी साहित्य विकासशील है—उसमें नयी चिन्ता, नयी भावधाराओं का समावेश होता चलता है। उनकी राजा-रानी की कहानी भी कुछ नया रंग लिये रहती है, हमारे यहाँ का-सा पिष्टपेषण उनके यहाँ नहीं है।

अप्रैल १९४६]

सोवियत साहित्यकार स्वतंत्र नहीं !

कुछ दिन पहले हमारे दैनिक पत्रों में एक छोटी-सी खबर यह छपी थी कि सोवियत सरकार ने मिखाइल ज़ोशचेन्को नाम के लेखक के ऊपर रोक लगा दी है, क्योंकि उसकी रचनाएँ सोवियत सरकार को पसन्द नहीं। इतनी-सी खबर थी, और संग में था रायटर का थोड़ा-सा मिर्च-मसाला जिसका आशय यही था कि यह देखिए एक नमूना सोवियत रूस के जनतंत्र का ! लेखकों की ज़बान पर ताला जड़ दिया जाता है, क्योंकि उनकी रचनाएँ कम्युनिस्ट पार्टी के लीडरों के मनोनुकूल नहीं पड़ती ! काफी भोलेपन के अन्दाज़ से रायटर ने दुनिया-भर में इस 'समाचार' को प्रचारित किया था ; लेकिन यह कितना बदमाशी से भरा हुआ प्रचार है, यह तो इसी बात से प्रमाणित हो गया कि दुनिया-भर में लोग थोड़ी देर के लिए इस खबर से गड़बड़ी में पड़ गये। रायटर की बदमाशी इसी बात में है कि उसने पूरी खबर नहीं दी और एक घटना को उसके प्रसंग से अलग कर यों संसार की जनता के सामने प्रस्तुत किया कि उससे सोवियत जनतंत्र के सम्बन्ध में लोगों के मन में शंका और सन्देह उत्पन्न हो। यह बात तो अब किसी से छिपी नहीं है कि ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद मिलकर एक सोवियत-विरोधी महायुद्ध की तैयारी कर रहे हैं। इस युद्ध में जनता को अपने साथ लाने के लिए सोवियत के सम्बन्ध में ज़हरीला, झूठा प्रचार करना ज़रूरी है। रायटर का समाचार उसी योजना का एक अंग है। इस समाचार को लेकर सभी देशों में पूँजीपतियों के अखबारों ने बड़ा बावेला मचाया। हमारे यहाँ भी कुछ पत्र इस झूठे प्रचार के बहाव में आ गये।

अब रायटर के उस समाचार का झूठ-सच मालूम हो रहा है जब कि ज़ोशचेन्को के सम्बन्ध के समाचार का पूरा विवरण सामने आ रहा है। अंग्रेज़ सरकार का बस चले तो ऐसे प्रगतिशील पत्र बाहर से आने ही न दे जिनमें सत्य का उद्‌घाटन रहता है। मगर कुछ पत्र आ ही जाते हैं—अंग्रेज सरकार जनतान्त्रिक होने के नाते कैसे खुल्लमखुल्ला किसी पत्र पर रोक लगा सकती है !

'माडर्न क्वार्टरली' नामक प्रगतिशील अंग्रेज़ी पत्रिका में यह घटना पूरे विस्तार के साथ छपी है। आइए, पहले उस घटना को समझ लें जिसे लेकर इतना तूमार बाँधा गया है।

घटना केवल इतनी-सी है कि मिखाइल ज़ोशचेन्को और ए० ए० अख़मतोवा नामक कवियित्री को सोवियत लेखकों के संघ की सदस्यता से खारिज कर दिया गया है, क्योंकि 'वे अपनी रचनाओं द्वारा संघ की नियमावली के पैराग्राफ़ 'ई' की उस शर्त को नहीं पूरा करते जिसके अनुसार सोवियत लेखकसंघ का सदस्य वही लेखक हो सकता है जो सोवियत सरकार का समर्थन करे और समाजवादी निर्माण में योग दे।'

अगर इस समाचार को तोड़कर प्रस्तुत करने में रायटर का उद्देश्य यह प्रमाणित करना था (जैसा कि निश्चय ही था) कि सोवियत सरकार भी एक प्रकार की हिटलरी तानाशाही सरकार है जिसके अन्तर्गत भाषण अथवा लेखन की कोई स्वतंत्रता नहीं है, तो वह उतने ही से असफल हो जाता है जितना कि अभी हमने ऊपर दिया।

ज़ोशचेन्को को सोवियत-सरकार-विरोधी तथा समाज-विरोधी रचनाएँ करने के दंड-स्वरूप फाँसी नहीं दी गयी, गोली से नहीं उड़ाया गया, देशनिकाला नहीं दिया गया, एक दिन के लिए भी जेल नहीं भेजा गया, यहाँ तक कि उसकी उन रचनाओं को ज़ब्त भी नहीं किया गया जिनके लिए उसे उचित ही दण्डित किया गया है। हिटलरी तानाशाही और सोवियत रूस के व्यापकतम जनतंत्र में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है, यह इतने से ही स्पष्ट है। जो लोग फासिस्ट जर्मनी के इतिहास से थोड़ा भी परिचित होंगे वे जानते होंगे कि आइन्स्टाइन और अर्न्स्ट टोलर और एरिक म्यूसम आदि लेखकों वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों को क्या-क्या दिन देखने पड़े, हिटलरी तानाशाही ने सचमुच कोड़ियों की तादाद में लेखकों को देशनिकाला दिया है, जेल में सड़ाकर यातनाएँ दी हैं और गोलियों से उड़ाया है।

इसके एकदम विपरीत सोवियत रूस में ज़ोशचेन्को को जो दंड मिला है इससे हल्के दंड की कल्पना भी नहीं की जा सकती। साथ ही वह एक ऐसा दंड है जो एक सर्वांगपूर्ण जनतंत्र में ही संभव भी है। यदि कोई समाज-विरोधी, जनविरोधी लेखक ऐसी रचना करता है जिससे समाज को, जनता के हितों को क्षति पहुँचती है तो क्या यही सर्वोत्तम जनतंत्रीय दंडप्रणाली न होगी कि जनता उक्त लेखक का सामाजिक बहिष्कार करे? और इस प्रकार उसे नैतिक रूप से इस बात के लिए विवश करे कि वह अपने को सुधारे और ऐसे साहित्य की सृष्टि करे जो समाज के लिए कल्याणकारी हो? इस प्रश्न पर दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक ऐसे साहित्यिक संघटन की कल्पना कीजिए जो देश के सभी महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों-कलाकारों का प्रतिनिधित्व करता हो और जिसे देश की समस्त जनता, विशेषकर साहित्यानुरागी जनता का नैतिक बल एवं समर्थन प्राप्त हो। सोवियत साहित्यकार-संघ (यूनियन आफ़ सोवियत राइटर्स) ऐसी ही संस्था है। फिर कल्पना कीजिए कि इसी साहित्यकार-संघ का सदस्य एक लेखक

अश्लील, व्यभिचार-मूलक साहित्य रचता है या ऐसा साहित्य रचता है जिससे देश के स्वाधीनता-आन्दोलन को गहरी चोट पहुँचती है। ज़ोशचेंको की जिन दो पुस्तकों के लिए, 'सूर्योदय से पहले' (बिफ़ोर सनराइज़) और 'एक बन्दर की कहानी' (द ऐडवेंचर्स आफ ए मंकी), सोवियत साहित्यकार-संघ को उसके खिलाफ़ कार्रवाई करनी पड़ी है, ऐसी ही किताबें हैं। 'सूर्योदय से पहले' नामक पुस्तक की आलोचना करते हुए 'बोलशेविक' नामक पत्र ने जनवरी सन् '४४ में लिखा था कि उक्त पुस्तक में 'बासठ गन्दी कहानियाँ हैं। 'एक बुड्ढा मरता है' शीर्षक कहानी तो इतनी अश्लील है कि सोवियत पत्रों में उसकी कथावस्तु की चर्चा तक नहीं की जा सकती। (संक्षेप में) वह एक बुड्ढे की व्यभिचार-वृत्ति का वर्णन है। हम इस अकथ्य अश्लीलता के उदाहरण देकर अपने पाठकों को थकाना नहीं चाहते, इतना ही कहना काफ़ी होगा कि इस किताब में गन्दगी और ग़लाज़त का एक समुद्र लहरें मार रहा है।'

ये बातें आज से तीन साल से भी ज्यादा पहले कही गयी थीं। इससे एक और बात जो तत्काल और सहज ही प्रमाणित हो जाती है, यह है कि ज़ोशचेंको संबन्धी घटना कोई क़हर नहीं है जो अचानक एक रोज़ आस्मान से नाज़िल हो गया है, बल्कि वह एक बरसों पहले से चली आती हुई साहित्यिक बहस का आखिरी नतीजा है, और कुछ नहीं।

यह तो हुई ज़ोशचेंको की अश्लीलता की बात। मगर इतने ही से बस नहीं है। ज़ोशचेंको की दूसरी रचना, एक बन्दर की कहानी, सोवियत देश की स्वाधीनता-रक्षा की लड़ाई को गहरी चोट पहुँचाती है। उसमें हिटलर के खिलाफ़ अपनी स्वाधीनता-रक्षा की जीवन-मरण की लड़ाई में गुँथी हुई सोवियत जनता का मखौल उड़ाया गया है। जैसा कि माडर्न क्वार्टरली का सम्पादक जान लुइस हमें बतलाता है, उसमें ज़ोशचेंको का नायक बन्दर 'एक सुरक्षित होटल' में 'स्तालिनग्राद और लेनिनग्राद के लोगों से कहता है कि तुम लोग निरे गधे थे जो लड़ते ही रहे और बमगोले खाते रहे ; इससे ज्यादा अक्ल तो अजायबघर के किसी भी बन्दर में होगी !'

संसार के लिए सोवियत के प्रतिरोध का कितना ऐतिहासिक महत्त्व है, अगर उस प्रश्न को यहाँ न भी उठायें तो भी कम-से-कम सोवियत-संघ के लिए लेनिनग्राद और स्तालिनग्राद के प्रतिरोध का कितना महत्त्व था, इसके बारे में तो किसी बहस की गुंजाइश ही नहीं। उसके बारे में लड़ाई के दौरान में इस लेखक के ये मनोभाव! यह सोवियत समाज की विचार-स्वाधीनता ही है जो ऐसे घृणित राष्ट्र-विरोधी, समाज-विरोधी विचारों तक को प्रकाश में आने से नहीं रोकती। अन्य किसी देश में ज़ोशचेंको के लिए कैसे दंड का विधान होता, यह आसानी से कल्पना की जा सकती है। आप स्वयं

गंभीरतापूर्वक इस समस्या पर विचार कर देखें तो आप भी इस निष्कर्ष पर विवश होकर आयेंगे कि यह वह न्यूनतम दण्ड है जो ज़ोशचेंको के अपराध के लिए उसको मिल सकता था—सभी सोवियत लेखकों के संघ की सदस्यता से निष्कासन।

हमें 'सूर्योदय से पहले' और 'एक बंदर की कहानी' पढ़ने का 'सौभाग्य' नहीं मिला है। पर हमने उसकी 'द वंडरफुल डाग ऐंड अदर टेल्स' और कुछ फुटकर कहानियाँ अवश्य पढ़ी हैं। उनके आधार पर हम 'बोल्शेविक' पत्र की निम्न उक्ति का अक्षरशः समर्थन करते हैं—

हमें आश्चर्य होता है कि यह कैसे हुआ कि लेनिनग्राद का एक लेखक जो हमारी सड़कों पर घूमा है, हमारे शानदार शहर में रहा है, जब लिखने बैठता है तो उसे अपनी कथावस्तु के लिए उन चीज़ों के सिवाय और कुछ नहीं मिलता जिनकी अब किसी को ज़रूरत नहीं है, जो कि हमारी प्रकृति के विरुद्ध हैं और जिन्हें हम भूल चुके हैं। ज़ोशचेंको गूदड़ बीननेवालों की तरह हीनतम प्रवृत्तियों की खोज में मनुष्यरूपी घूरों की खाक छानता फिरता है। न जाने क्यों हमें यह विश्वास करने में कठिनाई होती है कि अपने देश की रक्षा के इस महान युद्ध में, इस लेखक के लिए यह मुमकिन हुआ कि वह सिर्फ जहालत और गन्दगी के बारे में लिखे, गोकि वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि लेनिनग्राद के लोगों ने अपने शहर को बचाने के लिए कैसी लड़ाई लड़ी, लेनिनग्राद की स्त्रियों ने किस अपूर्व आत्मोत्सर्ग से काम किया। जब कि सोवियत जनता के काम्य चारित्रिक गुण विशेष रूप से देदीप्यमान हुए, जिससे उनके उद्देश्य की महत्ता का परिचय मिला, तब इस लेखक के मन को केवल जहालत और गन्दगी ने अपनी ओर आकृष्ट किया। × × × कुछ साल पहले (ज़ोशचेंको की रचनाएँ पढ़कर) हम अपने आपको समझा लिया करते थे कि ज़ोशचेंको गुज़रे ज़माने के इन खँडहरों को इस खयाल से हमारे सामने लाता है कि हम पुरानी नष्ट होती हुई दुनिया की भी तसवीरें देख लें। क्योंकि ओछापन, घृणित व्यर्थता, बुरी आदतें, ओछे लोगों की ओछी जिन्दगी, यही उसकी रचनाओं की मूल कथावस्तु है; उसके सभी नायक ऐसे ही हैं, बदमाश, समाजविरोधी कामों में लगे हुए लोग जो अपनी अँधेरी दुनिया में खड़े अच्छे दिनों के आने की बाट देख रहे हैं। मगर अब यह बात ज़रूरत से ज्यादा साफ़ हो गयी है कि ज़ोशचेंको खुद इसी क़िस्म का आदमी है।'

इस घटना में जिन बातों पर हमारा ध्यान विशेष रूप से जाना चाहिए, वे यह हैं:—

एक—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की ओर से ज़दानोव ने सबसे पहले ज़ोशचेंको और उसी ढंग के अन्य लेखकों के विरोध में आवाज़ उठायी

इसमें सन्देह नहीं, मगर इस आवाज़ के उठाने में पार्टी के मनोनुकूल बात न कहनेवाले का मुँह बन्द करने का भाव नहीं है (जैसा कि रायटर ने सिद्ध करना चाहा है, वर्ना वैसी सूरत में रचना छपने ही न दी जाती जैसा कि फ़ाशिस्त जर्मनी में होता था। सोवियत में सारी आलोचना रचना छपने के बाद होती है।) बल्कि वह इस बात की स्वीकृति मात्र है कि समस्त सोवियत जनता उक्त लेखकों की किन्हीं रचनाओं के लिए उनकी कड़ी भर्त्सना कर रही है और निश्चय ही इस प्रश्न पर आन्दोलित है। सोवियत जनता पढ़ी-लिखी सुसंस्कृत जनता है जिसके बारे में लगभग दस बरस पहले लिखते हुए किसी ने लिखा था कि वहाँ के मजदूर रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाहिरे' के नायक सन्दीप के चरित्र को लेकर आपस में बहस करते हैं। ऐसी जनता यदि ज़ोशचेंको की स्पष्ट ही ओछी, राष्ट्र-विरोधी कृतियाँ पढ़कर क्षुब्ध हो उठी हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। लेनिनग्राद डेढ़ साल से ऊपर बाकी दुनिया से एकदम कटकर घिरा पड़ा रहा—लेनिनग्राद को इतिहास का सबसे दीर्घकालीन घेरा सहना पड़ा था। इस घेरे के जमाने में अगर तिखोनोव (जो कि सोवियत साहित्यकार-संघ का सभापति था और लेनिनग्राद में था) और दूसरे लोग साहित्य की इन भयानक दूषित प्रवृत्तियों से परिचित नहीं हो पाये, तो इसमें भी कुछ आश्चर्य नहीं। ऐसी दशा में सोवियत जनता का पहले आन्दोलित होना और सबके बाद सोवियत साहित्यकार-संघ का इस ओर रुख करना ही अधिक स्वाभाविक था। इसलिए ज़ोशचेंको का विचार करते समय हमें यह न सोचना चाहिए कि पार्टी के एक बड़े पदाधिकारी ने एक बेचारे लेखक का गला घोट दिया, बल्कि यह कि उक्त लेखक की रचनाएँ इतनी दूषित हैं कि समस्त सोवियत समाज उनके बारे में गम्भीरता से सोच रहा है और बात कर रहा है।

दो—ज़ोशचेंको की किताबों पर रोक नहीं लगी है, केवल उनकी कड़ी आलोचना की गयी है।

तीन—यह कोई सरकारी सेंसरशिप नहीं है (जैसा कि हमारे देश में है) बल्कि सारा लेखक-समुदाय इस घटना से निकलनेवाली, इससे पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं पर सोच-विचार कर रहा है, अपना मत स्थिर कर रहा है। ज़ोशचेंको तो केवल एक साधन है; वास्तव में उसके माध्यम से वे आधुनिक साहित्य की गंभीर समस्याओं पर विचार कर रहे हैं।

ज़ोशचेंको हमारे साहित्यकारों के लिए एक सीख का उपादान बन सकता है। ज़ोशचेंको ने ऐसी राष्ट्र-विरोधी रचनाएँ इसीलिए कीं कि वह अपने देश के जीवन-मरण के संघर्ष से एकदम अलग रहा। जब तिखोनोव, सिमोनोव, गोरबतोफ, पेत्रोफ आदि बीसियों लेखकों ने फौजी वर्दी पहन ली और मोर्चे पर अपनी क़लम लेकर जा खड़े

हुए, तब ज़ोशचेंको ने खामोशी से सोवियत एशिया के अल्मा आटा नामक शहर में पनाह ली जहाँ उसी के शब्दों में 'तोपों की गड़गड़ाहट बिलकुल नहीं सुन पड़ती थी'। इस तरह तोपों की गड़गड़ाहट से उसने अपनी जान जरूर बचा ली, मगर इसी मारे उसे उस पवित्र अग्नि का संस्पर्श भी नहीं मिला जिसमें तपकर नये सोवियत लेखक और नये सोवियत मनुष्य, नारी और पुरुष, का जन्म हुआ। इसीलिए उसकी प्रवृत्तियाँ निर्माण की ओर उन्मुख न होकर विघटन की ओर उन्मुख हुईं।

ज़ोशचेंको को ध्यान में रखकर ही वे लोग इस साहित्यिक समस्या पर विचार कर रहे हैं कि क्या संघर्ष से अलग हटकर 'विशुद्ध कला' अथवा 'विशुद्ध साहित्य' की सृष्टि संभव है? इस प्रश्न पर वे विचार कर रहे हैं और आधुनिक साहित्य का यह एक ऐसा सनातन विषय है जिस पर हम सबको भी गंभीरता से विचार कर किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए।

मार्च १९४७

गांधीजी की हत्या और हमारे साहित्यिक

सहयोगी 'हिमालय' का गांधी अङ्क हमारे सामने है। उसमें कैसी क्या सामग्री है, उसके बारे में अभी हम कुछ खास नहीं कहना चाहते। गांधीजी की हत्या से प्रेरित कविताओं आदि पर हम कभी पूरे विस्तार के संग विचार करेंगे। यह साहित्य परिमाण में तो बहुत है, लेकिन अधिकांशतः है काफ़ी हीन कोटि का। कला की तो बात ही छोड़िए, सीधी-सच्ची अनुभूति भी उसमें नहीं है।

इन कविताओं में और कुछ न होता दर्द तो होता; वह भी गायब है। कहीं किसी अज्ञातनाम कवि की कुछ पंक्तियों में यहाँ-वहाँ कुछ दर्द झलक गया है तो उसकी बात और है; पर आमतौर पर सारी कविताएँ एक सिरे से बनावटी हैं। बड़े-बड़े नामी-गरामी कवियों ने चौराहे पर बैठकर दुःख के आवेश में सर के बाल नोचे हैं और छाती पीटी है, लेकिन उससे क्या कहीं अनुभूति का छिछलापन छिपता है?

सच्चे हृदय के उद्गार और कृत्रिम उच्छ्वास का अन्तर ये 'रस' के मर्मज्ञ कवि-गण न जानते हों यह भला कैसे हो सकता है, लेकिन जब अपनी अनुभूति में ही खोट है, जब अपना दर्द ही सच्चा नहीं है तो 'रस' की मर्मज्ञता क्या कर लेगी!

गांधीजी की मृत्यु के शोक में लिखी गयी सभी कविताओं की कटिंग अभी इस समय हमारे सामने नहीं है, क्योंकि इस समय हम उनपर विचार भी नहीं कर रहे; लेकिन 'हिमालय' का गांधी अङ्क तो है और उसमें जो थोड़े-से रत्न हैं उनकी कुछ बानगी अपने पाठकों के सामने रखने का लोभ हम नहीं संवरण कर सकते :

अरे हाय! कैसे हम झेलें अपनी लज्जा, उसका शोक!
गया हमारे ही हाथों से अपना राष्ट्रपिता परलोक!!

—मैथिलीशरण गुप्त

किया योग्य उसने अयोग्य को
यौगिक शक्ति जगाके

आपस में कटते-मरते थे
भूले देश-भलाई,
सिखलाया उसने, हैं हिन्दू—
मुस्लिम भाई-भाई,

मंत्र मुहब्बत का दोनों के
कानों में बिठलाके।

यों तो सारी कविता ही ऐसी लाजवाब है कि उसे पूरी की पूरी उद्धृत करने का मोह होता है, लेकिन स्थानाभाव है, इसलिए बस यह अन्तिम स्टैंजा और देख लीजिए :

भारतीय जीवन का सबसे
उज्ज्वल रूप दिखाके,
भारतीय संस्कृति का सबसे
व्यापक अर्थ बताके,
साथ हुआ गांधी गायत्री,
गीता गौ गंगा के !

—बच्चन

अधिक नहीं (बानगी तो बानगी ही है !) बस सोहनलाल द्विवेदी (दो-दो गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थों के संकलनकर्ता, जिनकी साँस-साँस में गांधीजी की भक्ति है !) के दो चरण और सुन लीजिए :

आज देश पर अनभ्र वज्रपात है हुआ !
आज देश के महान् प्राण मृत्यु ने छुआ !
बन अमृत जिला रही कि जिस फकीर की दया,
आज वही महाप्राण देश में
रहा नहीं !
कोटि-कोटि हैं मगर वही न एक आज है,
कोटि-कोटि हैं, मगर, वही न रहा राज है,
कोटि-कोटि हैं, मगर, रहा न शीश ताज है,
जा रहे महात्मा, अभाग्य ! चल
निहार ले !

हम बहुत नम्रतापूर्वक पूछना चाहते हैं कि क्या इन पंक्तियों में से किसी एक में भी शोक की सच्ची अनुभूति है ? क्या गांधीजी का इस प्रकार उठ जाना इन कवियों के हृदय में जो अपने को गांधीजी का परम अनुरक्त भक्त कहते हैं, इसी प्रकार की मुर्दा, पिटी-पिटाई, आर्यसमाजी गाने ('हे प्रभो आनन्द दाता ज्ञान हमको दीजिए'—अनाथालय के बच्चों द्वारा बहु-प्रचारित !) जैसी खोखली, बेजान, बासी तुकबन्दियाँ जगा पाता है !

यह नहीं कि इन कवियों ने अच्छी कविता न लिखी हो—'साकेत' 'यशोधरा'

'द्वापर' जैसी श्रेष्ठ कलाकृतियों के रचयिता की वाणी से ये केवल दो पंक्तियाँ फूटीं, और वे दो पंक्तियाँ भी कैसी, गहराई से शून्य, सच्ची पीड़ा की तिलमिलाहट से खारिज।

गांधीजी की मृत्यु से न जाने कितने लोगों की जिन्दगी का सूरज सदा के लिए डूब गया, अब उनकी जिन्दगी में फिर कभी सुबह नहीं होगी। स्वयं कवि के हृदय में भी तो गांधीजी के लिए असीम भक्ति और प्रीति थी। उन्हीं गांधीजी की ऐसी निर्ममता-पूर्वक हत्या की गयी, और कवि के हृदय में उसकी भावात्मक प्रतिक्रिया हुई इन दो पंक्तियों के रूप में जिनमें 'शोक' का शब्द भी है और शोकसूचक उद्‌गार चिह्न भी बीसियों हैं लेकिन वेदना की गहराई नहीं है।

खरी अनुभूति ही वह चीज है जो कविता में तिलिस्म पैदा कर सकती है। दो पंक्तियों से हमें शिकायत नहीं। वे दो पंक्तियाँ ऐसी भी हो सकती थीं—

रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ायल
जो आँख ही से न टपके वह लहू क्या है।

—ग़ालिब

इनमें भी शब्द बड़े सादे हैं, मगर सच्चे हैं, उनमें मार्मिक अनुभूति है, इसीलिए वे पाठक के मर्म को छूते हैं और मैथिलीशरण जी की ये पंक्तियाँ नहीं छूतीं।

'मधुशाला', 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' के कवि से भी ऐसी लचर चीज की उम्मीद नहीं की जा सकती। ऐसी कविता को आनुष्ठानिक तुकबन्दी कहना चाहिए। आनुष्ठानिक तुकबन्दी से हमारा अभिप्राय उस तुकबन्दी से है जो स्कूल या कालेज के पारितोषिक-वितरणोत्सव पर या इंस्पेक्टर साहब की शान में या ऐसे ही मौकों पर पढ़ी जाती है! गणित या भूगोल के मास्टर साहब, कोष की मदद से, इधर-उधर से जोड़-जाड़कर शब्दों का यह टीला खड़ा कर देते हैं जो इंस्पेक्टर साहब के सर पर सातवीं-आठवीं के किसी लड़के द्वारा गिरा दिया जाता है, फिर गले में माला डाल दी जाती है, फिर सब लोग 'हाफ डे' मनाते हुए खुशी-खुशी अपने घर चले जाते हैं!

हम समझ रहे हैं कि शिष्टाचार के नाते हमें इतनी कड़ी बात नहीं कहनी चाहिए, लेकिन कुछ ऐसी बातें होती हैं जहाँ शिष्टाचार ही सब कुछ नहीं होता।

अब हमें जरा इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि ऐसे सिद्धहस्त एवं मर्मी कवियों ने भी इस विषय पर ऐसी रचनाएँ क्यों कीं?

हमारी समझ में केवल एक कारण आता है,—उनकी अनुभूति खोटी थी।

इससे हमारा मतलब यह नहीं है कि गांधीजी की हत्या से उनको दुःख नहीं हुआ। दुःख हुआ, और अपनी जगह पर, अपनी सीमाओं में सच्चा दुःख हुआ, लेकिन

इन्हीं सीमाओं ने उस दुःख की क्वालिटी गिरा दी, उसकी शक्ति और उसका घनत्व कम कर दिया। वह सीमाएँ क्या थीं?

पहली सीमा, गांधीजी के प्रति उनकी भक्ति निरी शाब्दिक थी; उनके आदर्शों के अनुसार जीवन ढालने की कोशिश नहीं हुई, इसीलिए वे कभी कवि-मानस के अंग नहीं बने, उनकी स्थिति उस मूर्ति की थी जिसे भक्तजन आते-जाते हाथ जोड़ लेते हैं। बस इससे अधिक कुछ नहीं। इसीलिए जब उनकी हत्या हुई तो कवि के मन में यह भाव जगा कि उसकी वंद्य मूर्ति खंडित हो गयी, यह नहीं कि उसके कलेजे का कोई टुकड़ा किसी ने काटकर फेंक दिया। अतः अनुभूति में तीव्रता की कमी।

दूसरी सीमा, हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के सेनानी गांधी और कवि के बीच दरार जो कालान्तर में खाई बन गयी। घटना-चक्र को न समझ सकने के कारण, घटनाओं की अंध-प्रतिक्रिया के रूप में उसका बढ़ता हुआ मुस्लिम-विद्वेष, इस विद्वेष की पृष्ठभूमि में गांधी जी का ऐक्य-अभियान।

कवि के हृदय में, व्यक्ति के नाते अब भी गांधीजी के लिए सम्मान है, लेकिन अब उसकी भक्ति में बड़ी खोट आ गयी है, सांप्रदायिकता के विष से कवि-मानस स्वयं जर्जर है, इधर के गांधीजी उसकी समझ में बिलकुल नहीं आते, उसका मन प्रति-हिंसा के लिए छटपटाता है, गांधीजी एकता और शान्ति की बात करते हैं, कवि की अब गांधीजी पर वैसी एकान्त निष्ठा नहीं है, पुरानी बातों के आधार पर वह अब भी गांधीजी को मानता है लेकिन अब वह उनसे (मुसलमानों और उर्दू के मसले पर) बहुत दूर खिसक गया है, अब उसकी भक्ति में बहुत खोट आ गयी है;

तीसरी सीमा, इतिहास की गति को न समझ सकना। गांधीजी इस समय किन शक्तियों के प्रतीक थे, उनकी हत्या करनेवाले किन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, आज भारत को गांधीजी की क्या और कैसी आवश्यकता थी, उनके चले जाने से भारत के मानचित्र में क्या परिवर्तन हो गया, वह परिवर्तन शुभ है अथवा अशुभ—आदि बातों को न समझ सकने के कारण अपनी कविता में वे सिवाय व्यक्ति गांधी के लिए सिर धुनने के और कुछ नहीं कर सकते,—बहुत किया तो कुछ भारी-भरकम समस्त पद-विशेषणों से उन्हें विभूषित कर दिया!

बिना उस ऐतिहासिक दृष्टिकोण के कविता में वह एपिक गहराई या प्रसार या तीव्रता आ ही नहीं सकती जो ऐसे महान् व्यक्ति के शोक में लिखी गयी कविता के लिए आवश्यक है। कीट्स की मृत्यु पर लिखी गयी शेली की कविता 'अडोनेइस' और लेनिन की मृत्यु पर मायाकोव्स्की की कविता 'व्लादिमीर इलिच लेनिन' देखने से हमारी बात और भी साफ़ हो जायगी।

इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का और भी बढ़ा हुआ रूप वह क्रांतिकारी भावना है जो गांधीजी की हत्या के पीछे संगठित भारतीय प्रतिक्रिया का हाथ देखती है और जो इसीलिए गांधीजी के शव पर आँसू बहाने को गलत समझती है और प्रतिक्रिया पर सीधे वार करना चाहती है, और भारत से उन कुत्सित जीवों और उनका समर्थन करनेवाली धारणाओं का नामोनिशान मिटा देने के लिए भारतीय जनता का आह्वान करती है...

...पर श्री आरसी प्रसाद सिंह ने अपने नाटक में गांधीजी को वैतरणी के तीर पर ले जाकर उनकी जो छीछालेदर की है, वह द्रष्टव्य है। लेखक ने कस्तूरबा, गांधीजी, रवीन्द्रनाथ, तिलक, लेनिन आदि से जो भँड़ैती करायी है उसकी तो बात ही छोड़िए, ऐसे ओछे ढंग से उसने इन व्यक्तियों को प्रस्तुत किया है कि पढ़कर चिढ़ होती है, पात्रों की मर्यादा का रंचमात्र ध्यान इस यशस्वी नाटककार को नहीं रहा! खैर, उसकी बात छोड़िए, वह तो उसकी अक्षमता का परिचायक है और अक्षमता के लिए किसी को दोषी ठहराना न्याय नहीं! अभी तो हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि ये कवि और लेखक गांधीजी का नाम कंठी-माला लेकर जपते जरूर हैं, लेकिन उनकी आस्था भी सच्ची नहीं, अन्यथा इस तरह की चीजें स्वप्न में भी नहीं आ सकती थीं जिन्हें गांधीजी का क्रूर हत्यारा गोडसे अपने बचाव की दलील के रूप में पेश कर सकता है।

अन्ध आस्तिक हिन्दू जनता के सामने नाटककार ने रवीन्द्रनाथ के मुँह से बार-बार यह कहलाया है कि गांधीजी की हत्या गोडसे ने प्रभु के आदेश से की!

परदा खुलते ही कस्तूरबा रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पूछती हैं—गुरुदेव, आप मौन क्यों हैं? बोलते क्यों नहीं? स्वामी अभी तक नहीं आये?

रवीन्द्रनाथ इसका उत्तर देते हैं—देवी, यही तो मैं भी सोच रहा हूँ। भगवान नारद ने आज दोपहर में ही मुझसे कहा था कि नाथूराम नामक किसी व्यक्ति को प्रभु की आज्ञा मिल चुकी है। क्या वह समर्थ नहीं हो सका?

रवीन्द्रनाथ की शंका का समाधान किया तिलक महाराज ने—गुरुदेव, आश्चर्य है कि आप ऐसी बातें कर रहे हैं! त्रिलोक में ऐसा कौन पुरुष है, जो प्रभु की आज्ञा का निरादर कर सके? मेरा तो विश्वास है कि महापुरुष अभी आते ही होंगे। वह देखिए...

तभी गांधीजी वहाँ पहुँच जाते हैं, गोडसे ने प्रभु की आज्ञा का अक्षरशः पालन करके उन्हें स्वर्गलोक भेज दिया था!

भला बताइए इस तरह की बात लिखने का उद्देश्य सिवाय इसके और क्या है कि लोगों के मन में गांधीजी के हत्यारे के प्रति कटुता न उत्पन्न हो, लोग उसे प्रभु का एक आज्ञाकारी सेवक छोड़ और कुछ न समझें?

इतना ही नहीं, आगे चलकर लेखक ने रवीन्द्रनाथ (!) के मुँह से यह भी बतलाने की कोशिश की है, कि किस कारण से अब गांधीजी की हत्या ही ठीक थी! दृश्य यह है :

तिलक महाराज महाराष्ट्रीय होने के नाते गोडसे के लिए लज्जा बोध करते हैं—विधाता का भी कैसा न्याय है कि एक हिंदू, और उसमें भी महाराष्ट्रीय को ही शैतान का कार्यभार सौंपा गया! उसने तो केवल अपने देश को ही नहीं, सारे संसार को कलंकित किया।

तब गांधीजी उनकी मनोव्यथा दूर करते हैं—भगवन्, उसने तो प्रभु के आदेश का पालन किया और प्रभु की इच्छा की पूर्ति जिससे हो, उसमें आप जैसे विवेकशील व्यक्ति के लिए न्याय-अन्याय का विचार करना उचित नहीं।

तभी रवीन्द्रनाथ इन शब्दों में गांधीजी की बात का समर्थन करते हैं—

ठीक है महाराज! संसार में कौन किसको मारता है और कौन कब मरता है? सूत्रधार के हाथों में पड़ी हुई कठपुतलियों की तरह संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थ उसके इशारों पर नाचते फिरते हैं!...सृष्टि का जो एकमात्र संचालक है, वह जब देखता है कि किसी व्यक्ति-विशेष का विशेष कार्य समाप्त हो चुका और उसके अस्तित्व से आनेवाले समाज के अनिष्ट की आशंका है, तब वह उसको वापस बुला लेना ही पसन्द करता है......नाथूरामने भी तो यही देखा कि गांधी महाराज के रहने से किसी विशेष समाज (प्रतिक्रिया की संगठित शक्तियाँ या 'हिन्दू समाज'? साफ-साफ क्यों नहीं कहते?—ले०) का कल्याण खतरे में है; और ऐसा समझकर ही उसने महाराज को संसार के पर्दे से उठा दिया।

नाथूराम गोडसे को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए भला और क्या कहा जा सकता है? आश्चर्य है कि अब तक हत्यारे के वकीलों ने इसी प्रकार का कोई 'अलौकिक' तर्क क्यों नहीं उपस्थित किया?

इस बात को तो जाने ही दीजिए कि लेखक ने भाग्य और दैवी शक्तियों में जनता के अन्धविश्वास को और भी दृढ़ करके प्रतिक्रिया को, न्यस्त स्वार्थों को शक्ति पहुँचायी है। 'हम लोगों के किये कुछ नहीं हो सकता, जो कुछ होता है, भगवान् की मर्जी से होता है, हम लोग तो बस कठपुतलियाँ हैं...इसलिए जो हो रहा है, सब ठीक हो रहा है; बिना कान-पूँछ हिलाये अन्याय और अत्याचार सहे जाओ क्योंकि यही भगवान् की मर्जी है'

हम यही जानना चाहते हैं कि लेखक अगर बिड़ला का क्रीतदास होता, तो इससे अधिक क्या कहता?

पर हम आश्चर्यचकित हैं उसकी ईमानफरोशी की इस हद पर कि वह गांधीजी के हत्यारे को भी अपने 'अध्यात्म' की ओट में बचाने से बाज नहीं आता! हमें इस नाटक पर ध्यान देने की जरूरत न पड़ती अगर हम सोचते कि जनता इसके पाखंड

को समझ जायेगी और इसके पीछे से झाँकते हुए लेखक के मुखड़े को पहचान लेगी, अगर हम जानते कि वह इस तरह की चकमेबाजी में नहीं आयेगी। लेकिन संप्रति स्थिति इतनी अच्छी तो नहीं है। जनता को इस प्रकार भगवान् के नाम पर, रामनामी ओढ़कर गुमराह किया जा सकता है, इसीलिए यह नाटक और इसकी यह भावधारा बड़ी घातक और दुष्टतापूर्ण है।

फिर नाटककार ने जो कारण दिया है उसमें तो अपनी पोल बिलकुल खोल दी। अंतिम उद्धरण में रवीन्द्रनाथ नहीं, उन्हीं के श्रेणी के एक दूसरे कवि (कम से कम वह तो अपने को समझते हैं, दूसरा कोई उन्हें समझे न समझे उनकी बला से !) श्री आरसीप्रसाद सिंह का स्वर है। उन्हें साफ साफ यह कहने का साहस तो नहीं हुआ कि गांधीजी के जीवित रहने से किस 'विशेष समाज' का कल्याण खतरे में था, लेकिन हिन्दू महासभा से संबद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक प्रमुख कार्यकर्ता ने हिन्दू महासभा के नेता 'वीर' सावरकर के आदेमुशार यह हत्या की इससे पता चलता है कि 'विशेष समाज' से लेखक का मतलब 'हिन्दू समाज' से है। (सरकारी गवाह बाडगे ने यह अजब बात कह दी कि गांधीजी की हत्या का आदेश नाथूराम को सावरकर से मिला था; आरसी बाबू का तो कहना है कि नाथूराम को यह आदेश प्रभु से मिला था। जासूस के लिए समस्या : पता लगाओ यही सावरकर तो आरसी बाबू के 'प्रभु' नहीं हैं !)

अब आपके सामने कदाचित् यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि इस सारे अध्यात्मवाद के जरिये लेखक जो बात कहना चाहता है, अपना जो मत रखना चाहता है वह सिर्फ यह है कि उसकी सांप्रदायिकता के विष से अंधी दृष्टि में गांधीजी का जीवन हिन्दू समाज के कल्याण के लिए घातक था, इसलिए उनकी हत्या उचित ही हुई [इसी बात को युक्तप्रान्त के एक प्रमुख कांग्रेसी नेता ने गांधीजी की शोक सभा में (!) यों कहा कि गांधीजी तो एक प्रकार के ब्रेक थे, अभिप्राय यह था कि अब ब्रेक नहीं है और अब हिन्दू सांप्रदायिकता का इंजन धड़धड़ाता हुआ आगे बढ़ सकेगा !] दुःख अगर है तो बस एक बात का कि गांधीजी को जीवन के रंगमंच से अलग करने का काम एक हिन्दू के हाथों क्यों संपादित हुआ। (न जाने कितने कवियों ने इसी बात का रोना रोया है !) काश कि वह हिन्दू न होकर मुसलमान होता !!! तो सारी बात बनी-बनायी थी, फिर किसी बात का रोना न होता। अब तो उनके लिए मरना ही ठीक था, राष्ट्र को अर्थात् 'हिन्दू-राष्ट्र' को अब उनकी जरूरत न थी !

असल बात तो यही है। अगर चेतना में नहीं तो उपचेतना में, असल बात यही है, बाकी सब तो 'सभ्यता' है—आँसू भी 'सभ्यता' के हैं !

सन् '४८]

'प्रगतिशील साहित्य' पर नरेन्द्रदेवजी

अक्तूबर की 'जनवाणी' में आचार्य नरेन्द्रदेव ने 'प्रगतिशील साहित्य' शीर्षक से एक लेख लिखा है। इस लेख में उन्होंने प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा भी दी है और उससे संबंध रखनेवाले कई सवालों पर अपनी राय दी है।

प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा देते हुए आचार्यजी लिखते हैं: जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलनेवाला साहित्य प्रगतिशील साहित्य है।

यह परिभाषा यदि किसी भाववादी (आइडियलिस्ट) विचारक ने दी होती तो हमें कुछ खास आपत्ति न होती क्योंकि उसकी विचार-शैली ही वैसी है। लेकिन एक प्रमुख समाजवादी विचारक की लेखनी से निकलने पर यह परिभाषा और भी अर्थशून्य हो जाती है, क्योंकि समाज और साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या समाजवाद का बीज-मंत्र है। समाज की ऐतिहासिक व्याख्या से अभिप्राय है सामाजिक प्रगति को सामाजिक श्रेणियों के संघर्ष के परिणाम के रूप में देखना। उसी प्रकार साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या से अभिप्राय है साहित्य को श्रेणी-विभक्त समाज के आन्तरिक और बाह्य आलोड़न-विलोड़न, घातों-प्रतिघातों की मानसिक प्रतिच्छवि के रूप में देखना। अवश्य यह प्रतिच्छवि दर्पण पर पड़नेवाली निश्चेष्ट प्रतिच्छवि नहीं होती, मनस्वी, प्रतिभासंपन्न कलाकार की सजग चेतना पर पड़नेवाली प्रतिच्छवि होती है। यह अंतर तो अवश्य होता है, लेकिन प्रतिच्छवि में उस पदार्थ की स्थिति जैसे पहले ही से स्वीकृत होती है जिसकी कि छाया कहीं पड़ रही है, वैसे ही साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक परिवेश पहले ही से मान लिया जाता है। और सामाजिक परिवेश कोई निराकार, भाववादी संज्ञा नहीं है। सामाजिक परिवेश में समाज के सारे अंतर्विरोध, सारे श्रेणी-संघर्ष और उससे शाखाओं की तरह फूटनेवाले अन्य सारे संघर्ष और सारी हलचलें सब आ जाती हैं। समाज उन सबको लेकर समाज है, उनसे अलग या उनसे ऊपर, शून्य में समाज की स्थिति नहीं है।

आचार्यजी ने विश्लेषण की इस ऐतिहासिक प्रणाली को छोड़ा है, इसीलिए प्रगतिशील साहित्य की ऐसी हवाई परिभाषा उन्होंने दी है, जिसका, गौर से देखिए तो सचमुच कोई मतलब नहीं निकलता। मानव तो सारे साहित्य में ही चित्रित है, घोरतम प्रतिक्रियाशील साहित्य में भी तो मानव का ही चित्रण रहता है। यहाँ तक कि इलाचंद्र

जोशी के अवचेतनवाद का लबादा ओढ़े, घृणित कामुकतापूर्ण, समाज को रसातल (जिसे वे अवचेतना का अतल कहते हैं !) की ओर ले जानेवाले उपन्यासों में भी मानव नाम का जंतु ही तो चित्रित है—यह बात बिलकुल अलग है कि मानव का उनका संस्करण वास्तव में कार्तिक का श्वान है ! मगर कहने को तो है वह भी मानव, क्योंकि उसके भी वैसे ही हाथ-पैर, वैसे ही नाक-कान हैं जैसे कि आदमियों के होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा देनेवाले को यह बात साफ कहनी चाहिए कि उसका अभिप्राय इलाचंद्र जोशी के मानव से है या उस स्वस्थ, प्रगतिशील, क्रान्तिधर्मी मानव से जो भविष्य के प्रति आस्थावान् है, जिसे मानव की रचनात्मक शक्ति और पराक्रम में विश्वास है, जो समाज को उच्चतर स्तर पर ले जाने के लिए संतत प्रयत्नशील है ?

यह परिभाषा मूलतः भाववादी और अवैज्ञानिक है, इसीलिए उससे एक भी बात साफ नहीं होती और प्रगतिशील साहित्य की कोई साफ तसवीर आँखों के आगे नहीं आती। मानव से क्या अभिप्राय है, मानव नाम का ऐब्सट्रैक्शन या अस्थिमांस का मानव जो किसी विशेष समाज का अंग है, किसी खास ऐतिहासिक परिस्थिति में जीता है, साँस लेता है, काम करता है, संघर्ष करता है ?

आचार्यजी ने आगे चलकर लिखा तो है कि 'सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य को समाज से पृथक् करके, अमूर्त मानवता के स्वतंत्र प्रतीक के रूप में सीमित न कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप में देखे—ऐसे समाज के सदस्य के रूप में जिसमें निरन्तर संघर्ष हो रहा है और इन संघर्षों के कारण जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।'

यह बात कहने को कह तो दी गयी है, लेकिन हमारा विचार है कि आचार्यजी स्वयं किसी हद तक मनुष्य को समाज से पृथक् करके 'अमूर्त मानवता के स्वतंत्र प्रतीक के रूप में' देखते हैं, इसलिए उन्होंने कहीं समाज में निरंतर होनेवाले वर्ग-संघर्ष की बात नहीं उठायी है और इसीलिए उन्हें प्रगतिशीलता की अपनी व्याख्या में कहीं यह लाने की जरूरत नहीं पड़ी कि लेखक की प्रगतिशीलता या प्रतिक्रियाशीलता इस बात पर निर्भर होती है कि चेतन अथवा अचेतन रूप में वह उस वर्ग के साथ है जो आज समाज को आगे, नवजीवन की ओर, समाजवाद और साम्यवाद की ओर ले जा रहा है या पीछे, फासिस्ट अंधकार और अपमृत्यु की ओर घसीट रहा है। आज व्यक्ति और समाज को प्रत्येक क्षेत्र में यही संघर्ष चल रहा है और प्रगतिशीलता की कसौटी इसको छोड़ और कुछ नहीं है कि लेखक जड़-संस्कार और मृत्यु के बंधनों को तोड़कर जीवन और मुक्ति की शक्तियों का साथ दे, मेहनतकश जनता की रोज़ी-रोटी की लड़ाई का साथ दे।

लेखक एक स्थल पर यह तो कहता है कि 'समाज को अतीत की ओर ले जानेवाली तथा भविष्य की ओर ले जानेवाली शक्तियों में संघर्ष होता है' लेकिन यह नहीं कहता कि प्रगतिशील साहित्यकार अनिवार्य रूप से किसका साथ देता है या दे। उस जगह पर यह बात साफ तरीके से कहने की जरूरत है कि दो में से एक का साथ आपको देना पड़ेगा, न तो आप त्रिशंकु की तरह चिरकाल तक बीच में लटके रह सकते हैं और न तो तीसरे शिविर के मायाजाल में ही अपने आपको उलझाये रख सकते हैं। जिस तरह राजनीति के क्षेत्र में तीसरे शिविर की बात करना अपने आपको और दूसरों को धोखा देना है, उसी तरह साहित्य के क्षेत्र में भी। इतिहास ने, वर्ग-संघर्ष की आत्यंतिक तीक्ष्णता ने सभी की ओर से इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है और सच्ची बात यह है कि किसी के सामने अब कोई विकल्प नहीं बचा है और बहुत तेजी से वह समय आ रहा है जब आज का रहा-सहा नामशेष विकल्प भी न रहेगा। अगर कोई लेखक इस बात को नहीं देखता और स्वीकार करता तो वह या तो दूसरे के साथ या अपने साथ छल करता है।

यह बिलकुल आधारभूत महत्त्व की बात है लेकिन आचार्यजी के विवेचन में इसका कोई उल्लेख नहीं है, और उसका कारण मेरी समझ में यही है कि लेखक ने समस्या पर ऐतिहासिक भौतिकवादी, मार्क्सवादी ढंग से नहीं, भाववादी ढंग से विचार किया है।

'जीवन के केंद्र' के सम्बन्ध में भी वही बात लागू है। सामाजिक जीवन या समाजेतर जीवन ? समाजोन्मुख जीवन या समाज-विरोधी जीवन ? वर्गमुक्त जीवन या वर्गभुक्त जीवन ? विकासोन्मुख वर्ग का जीवन या ह्रासोन्मुख वर्ग का जीवन ?—इन सब प्रश्नों पर भी यह परिभाषा कोई रोशनी नहीं फेंकती।

और सबसे अन्त में, 'जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करने' से लेखक का क्या अभिप्राय है, यह भी कुछ समझ में नहीं आता।

हम कहना चाहते हैं कि इस परिभाषा (और इस लेख) की मूल कमजोरी यह है कि इसमें विद्वान् लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को छोड़कर भाववाद का सहारा लिया है, इसलिए वे उन बीसियों असंगतियों में जा पड़े हैं जिनकी अपेक्षा एक भौतिक-वादी से तो नहीं ही होनी चाहिए। इसी तरह की बातें लेख में भरी पड़ी हैं।

एक जगह पर आचार्यजी कहते हैं—

'जीवन के अन्तर्गत अनेक प्रकार के धर्मों—व्यक्ति, कुल, राष्ट्र तथा विश्व—के बीच एक प्रकार का संघर्ष जान पड़ता है। साथ ही उनमें एक प्रकार की अन्योन्या-श्रयता, शृङ्खला और परम्परा भी दिखाई देती है। वस्तुतः यह संघर्ष तभी दिखाई पड़ता है जब हम अन्योन्याश्रयता को दृष्टि से ओझल कर देते हैं और इन धर्मों का मर्यादित

नहीं कर पाते, उनका उचित सामंजस्य नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ राष्ट्रधर्म का हमें उससे भी उच्चतर विश्वधर्म के साथ सामंजस्य करना पड़ेगा।'

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से बचने का प्रयास यहाँ भी एक-एक पंक्ति में बोल रहा है। उसी के कारण विद्वान् लेखक को कुछ पिटे-पिटाये सिद्धान्त-वाक्यों (जो पाँचवीं-छठीं कक्षा की पाठ्य पुस्तकों में भी मिल जायेंगे) के पिष्टपेषण से सन्तोष करना पड़ा है। उसी के कारण लेखक को इस बात का साहस नहीं हुआ कि वह उस वर्ग-संघर्ष को खोलकर सामने रखे जो व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्र और विश्व में असामंजस्य, असंगति पैदा करता है। यह चीज साफ तरीके पर कही जानी चाहिए कि इनमें परस्पर जो संघर्ष दीख पड़ता है उसके मूल में पूँजीवादी समाज-व्यवस्था है, न्यस्त स्वार्थ हैं। पूँजीवादी विश्व-दर्शन अपनाने से सर्वत्र संघर्ष और असंगति दिखाई देगी और समाजवादी विश्व-दर्शन, श्रमिकवर्ग का विश्व-दर्शन अपनाने से ये सभी चीजें उस अन्योन्याश्रयता की शृंखला में बँध जाती हैं, जिसका उल्लेख आचार्यजी ने किया है। मगर यह बात साफ और पैने ढंग से कहने की जरूरत है। आचार्यजी ने विकृत राष्ट्रीयता का जिक्र भी किया है लेकिन बहैसियत एक 'समाजवादी' के यह नहीं कहा कि पूँजीवादी राष्ट्रीयता के मूल में ही विकृति के बीज होते हैं क्योंकि पूँजीपति की राष्ट्रीयता उसकी स्थूल व्यावसायिकता की ही राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रतिच्छवि होती है और व्यापारिक क्षेत्र की उसकी प्रतियोगिताओं और स्पष्ट आर्थिक स्वार्थों से निर्दिष्ट होती है। राष्ट्रधर्म और विश्वधर्म के सामंजस्य की बात हमें पण्डित नेहरू की राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता की परस्पर टक्कर की याद दिला देती है। कोई डेढ़-पौने दो साल हुए होंगे जब 'अन्तरराष्ट्रीयतावादी' पण्डित नेहरू ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि अन्तरराष्ट्रीयता बहुत भली चीज है, लेकिन जब राष्ट्रीयता से उसकी टक्कर होती है तब राष्ट्रीयता के लिए उसे जगह देनी ही पड़ती है! एक सच्चे जनवादी के सामने ऐसी कोई टक्कर आती ही नहीं, दोनों में परस्पर कोई विरोध है, जिसके सामंजस्य की आवश्यकता पड़े, यह स्वयं एक भ्रान्त धारणा है, दिमाग का एक कीड़ा है, विचार के सत्त को चूस जानेवाला एक घुन, एक मानसिक विकार जो स्वयं एक सामाजिक विकार का प्रतिफलन है—और वह सामाजिक विकार है पूँजीवादी न्यस्त स्वार्थ। इसलिए पण्डित नेहरू जब ऐसी बात करते हैं (ऐसे, पहले तो वह भी समाजवाद की दुहाई देते थे!) या जब उनके भेजे हुए दूत और अन्य कूटनीतिज्ञ राष्ट्रीयता के नाम पर अन्तरराष्ट्रीयता को छोड़कर सोवियत रूस, नये स्वाधीन जनतन्त्रों और नये, माओ त्से तुंग के क्रांतिकारी चीन के अन्तरराष्ट्रीय बन्धुत्व और साम्राज्य-विरोधी जनवादी शिविर को छोड़कर इंगलैंड और अमरीका के साम्राज्यवादी, जन-विरोधी शिविर में खड़े हो जाते हैं, (वह भी आचार्य नरेन्द्रदेव के तीसरे शिविर के झूठे

गोरखधंधे के नाम पर !) तब हमें बहुत आश्चर्य नहीं होता। लेकिन जब प्रमुख समाज-वादी विचारक आचार्य नरेन्द्रदेव भी वैसे ही बात करने लगते हैं, तब कुछ आश्चर्य जरूर होता है; गो होना नहीं चाहिए क्योंकि कोई 'समाजवादी' जब समाजवाद के मूल सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष को ही छोड़ देता है, तब उसके 'समाजवाद' और दूसरे किसी पूँजीवादी दर्शन में केवल नाम का ही अन्तर रह जाता है। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही मार्क्सीय दर्शन की क्रांतिकारी आत्मा है, उसका प्राण है; और मार्क्सवाद का पिछले सौ वर्ष का इतिहास हमको बतलाता है कि बीसियों 'विचारकों' ने भिन्न-भिन्न नामों से मार्क्सवाद में यही 'संशोधन' करने का प्रयास किया है और जिन्होंने भी मार्क्सवाद की क्रांतिकारी आत्मा वर्जित कर उसके निर्जीव शरीर को ही अपने से चिपटाये रखने का यत्न किया है, वे धीरे-धीरे विशुद्ध पूँजीवादी विचारक होकर रह गये हैं। इस पूँजीवादी विचार-प्रणाली के बीज इस लेख में ही वर्तमान हैं। लेखक ने एक स्थल पर लिखा है—

'प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी का काल निश्चय ही भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त गौरवपूर्ण अध्याय है। इस काल में भारतीय जीवन के प्रत्येक विभाग में सक्रियता के दर्शन होते हैं...विदेशों से भारत का व्यापारिक संबंध भी इसी काल में सुदृढ़ हुआ।' इसे लेखक ने 'गौरवपूर्ण' और 'पुरुषार्थ को प्रेरणा देनेवाला' अतीत कहा है। हम समझते हैं कि साम्राज्यवादी इतिहासकारों के मतानुसार गुप्तकाल को भारत का सुवर्ण-युग मान लेना एक समाजवादी के लिए कदापि श्रेयस्कर नहीं है। जहाँ तक उस युग में कला और संस्कृति का अभ्युत्थान हुआ, वह हमारा गौरवपूर्ण अतीत है, लेकिन उसमें संकीर्ण (शूद्रों को जानवर की हालत में रखने तक संकीर्ण), आक्रमणशील राष्ट्रीयता, गण-राज्यों का उच्छेद करके साम्राज्य-विस्तार, युद्ध और रक्तपात की जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनका महत्त्व अवश्य बहुत बड़ा है क्योंकि उन्होंने हमारे इतिहास की दिशा और गति को प्रभावित किया है, लेकिन एक समाजवादी के समीप वह कुछ बहुत गौरवपूर्ण नहीं है। एक समाजवादी को उस युग के इस मिले-जुले रूप को समझना पड़ेगा, गौरवपूर्ण तत्त्वों को उन तत्त्वों से अलग करके देखना होगा जो गौरवपूर्ण नहीं हैं, वर्ना एक समाजवादी और एक पूँजीवादी में फिर कोई अन्तर ही नहीं रह जाता।

यह निरा संयोग नहीं है कि इतिहास का चक्र घूमकर आज फिर भारतीय पूँजी-पतियों (पुराने श्रेष्ठियों के स्थान पर) के मुँह में सुदूरपूर्व और मध्यपूर्व के बाजारों और मंडियों को देखकर पानी भर रहा है और 'समाजवादी' विचारक आचार्यजी सक्रियता और पुरुषार्थ के नाम पर प्रच्छन्न रूप में उसकी सराहना कर रहे हैं जब कि उन्हें स्पष्ट

शब्दों में इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करनी चाहिए थी। यह बात आचार्यजी के झुकाव को ही व्यक्त करती है। इस तरह तो ट्रूमन और मार्शल का अमरीका सबसे अधिक सराहना का पात्र है क्योंकि आज दुनिया में सब जगह उसी का सिक्का चल रहा है। इस बात में साम्राज्यवाद के समर्थन के बीज मौजूद हैं, और 'पुरुषार्थ' और 'सक्रियता' से तो कलई और भी खुल जाती है क्योंकि सब जानते हैं 'पुरुषार्थ' और 'सक्रियता' जैसे शब्द फासिस्ट शब्दकोष में सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं। आचार्यजी अपनी बात के अन्दर छिपे हुए इस खतरे की तरफ से बेखबर न होंगे, ऐसा हमें समझना चाहिए।

अतीत के मूल्यांकन में भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण आवश्यक है क्योंकि सत् और असत्, प्रगतिशील और प्रतिक्रियाशील तत्त्वों के विवेक में उसी से सहायता मिल सकती है। ऐतिहासिक भौतिकवादी विचारपद्धति छोड़ने पर ही सारे घपले शुरू हो जाते हैं। इस लेख को ही इस बात के उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है।

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि ऐसा क्यों हुआ, क्यों विद्वान् लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवादी विचारप्रणाली को पूरी तरह या अंशतः छोड़ दिया है या क्यों पूरे विश्वास और पूरी आस्था के साथ अपने अनुसंधान में वह उसका उपयोग नहीं कर सका है, तब हमारा ध्यान थोड़ी देर के लिए हठात् विचारजगत से छिटक-कर व्यवहारजगत में चला जाता है और समाजवादी पार्टी की सारी राजनीति, सारा इतिहास हमारी आँखों के सामने घूम जाता है। उन सबके पीछे वर्ग-साहचर्य की छलना है। शायद यही कारण है कि विचारों के क्षेत्र में भी वर्ग-संघर्ष क क्रांतिकारी सिद्धान्त को तिलांजलि दी जा रही है और विचारों के क्षेत्र में भी (अभी) प्रच्छन्न रूप से उसी वर्ग-साहचर्य का पोषण किया जा रहा है, जिसका परिचय समाजवादी पार्टी अक्सर जनता के संघर्षों के साथ विश्वासघात करके देती आयी है।

नवंबर '४८]

'स्वाधीनता-दिवस' और हिन्दी-साहित्यकार

पन्द्रह अगस्त हमारे इतिहास का एक स्मरणीय दिन रहेगा। इस दृष्टि से नहीं कि उस दिन हमारा देश स्वतंत्र हो गया क्योंकि हम जानते हैं कि देश अभी स्वतंत्र नहीं हुआ है। वह स्मरणीय रहेगा इस दृष्टि से कि उस दिन जन-जन में उत्साह की एक वन्या-सी आ गयी थी। लोगों के हृदय का आवेग अपने को साकार देखने के लिए उन्मत्त था। नगर में अशोक की पत्ती एक न बची और दिगन्त दीपमालाओं के चकचक प्रकाश से भर उठा। लोग आजादी का दिन मना रहे थे। उनके युग-युग के पोषित स्वप्नों को आज आकार मिल रहा था। उस दिन लगभग दो सौ वर्षों के बाद हमारी दासता का प्रतीक यूनियन जैक भारत की पुण्य भूमि पर से हटा और उसका स्थान लिया हमारी राष्ट्रीय पताका ने।

वह एक उत्सव का दिन था, राष्ट्रीय पर्व था। स्वभावतः उस दिन हमारे मन की स्थिति भी ऐसी न थी कि हम आलोचक की कड़ी निगाह से किसी चीज़ को देखें। मगर अब बाढ़ आकर चली जा चुकी है और नदी का जल स्थिर हो गया है, हृदय में आवेग भी अब शांत हैं; इसलिए अब उचित है कि हम उस दिन के महत्त्व को ठीक-ठीक समझ लें। उस दिवस के महत्त्व को आवश्यकता से अधिक बढ़ाने से भी राष्ट्र की क्षति है और घटाने से भी। बढ़ाने से हमारा मतलब यह कहने से है कि हम अपने लक्ष्य पर पहुँच गये और हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई खत्म हो गयी। इस तरह का प्रचार बड़ा घातक है क्योंकि इससे जनता में यानी आजादी के सिपाहियों में आलस्य और प्रमाद फैलता है। यह बात जोर देकर कहने की है कि पन्द्रह तारीख को हमें जो 'आजादी' मिली है वह वही आजादी नहीं है जिसके लिए हमारे असंख्य शहीदों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। यह निश्चय ही वह आजादी नहीं है जिसने भगत सिंह को मुसकराते-मुसकराते फाँसी का वरण करने का साहस दिया था। वह पूर्ण स्वाधीनता के आदर्श से दीप्त था, यह पूर्ण स्वाधीनता नहीं है—कटा-छँटा, लँगड़ा-लूला डोमिनियन स्टेटस है, अभी गौरांग महाप्रभुओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने तक का अधिकार हमें नहीं मिला है। कवि के शब्दों में :

आज औपनिवेशिक स्वराज्य हमने पाया है।

आर बंह

प्रथम चरण है नये स्वर्ग का
है मंजिल का छोर
इस जनमंथन से उठ आयी
पहली रत्न हिलोर
अभी शेष है पूरी होना
जीवन-मुक्ता-डोर—
अभी शेष है मिटने को
दुःखों की अन्तिम कोर

—गिरजाकुमार माथुर

ध्यान देने की बात यह है कि औपनिवेशिक स्वराज्य भी संपूर्ण भारत को एक इकाई मानकर नहीं दिया गया है। भारत को धर्म के आधार पर इस प्रकार खंड-खंड कर दिया गया है कि उससे भारत की स्वतंत्रता ही नहीं, उसकी संस्कृति, उसकी आत्मा खतरे में पड़ गयी है। देश पाकिस्तान, हिन्दुस्तान और राजिस्तान (राजे-रजवाड़े) इन तीन भागों में विभाजित है। तीनों भाग 'स्वतंत्र' हैं, मगर चतुर शासकों ने विभाजन इस प्रकार किया है कि एक की स्वतंत्रता दूसरे की परतंत्रता हो जाती है। धर्म के आधार पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान इन दो राष्ट्रों की सृष्टि करके क्रूर शासकों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को चिरकाल के लिए एक दूसरे का शत्रु बना देने का षड्यन्त्र रचा है। राजाओं को स्वतंत्र पद देकर उन्होंने भावी भारत में अपनी जगह बनाने की सोची है। अंग्रेजों की सैन्यशक्ति पर ही आश्रित ये राजे-रजुल्ले सदा से ही उनके दास रहे हैं और नये विधान के अन्तर्गत उनको वह सत्ता सौंपी गयी है जिसके द्वारा वह आज की इस नयी भूमिका में भी अपने मालिकों के नमक का हक अदा कर सकें।

तीसरा संकट उपस्थित होता है अंग्रेज और भारतीय पूँजीपतियों के गठबन्धन की ओर से। बिड़ला और नफील्ड का गठबन्धन, ताता और आई० सी० आई० का गठबन्धन और इसी तरह के और भी कुछ गठबन्धन। ये गठबंधन तो ऐसे हैं जिनकी दुर्गन्ध इतनी अधिक थी कि दबायी न जा सकी; मगर ऐसे ही और न जाने कितने गठबन्धन होंगे जिनका अभी हमें पता नहीं है; मगर जिनके अनुसार अंग्रेज और भारतीय पूँजीपतियों ने हमारे शोषण की अपनी संयुक्त-नीति ठहरा ली होगी। भारतीय पूँजीपतियों की राष्ट्रीयता में विश्वास रखनेवाले कुछ भोले लोग हमारी इस बात को हँसकर उड़ा देना चाहेंगे, कहेंगे कि भारतीय पूँजीपति हैं तो आखिर को भारतीय, वे इतने गये-बीते कैसे हो जायँगे कि अपने देशवासियों को अंग्रेजों की शोषण की चक्की में ठेल दें। हम

अपने इन भोले बन्धुओं से ठेठी बोल में ही कहना चाहते हैं : जजमान ने नाई से पूछा—नाई रे नाई, सर में कित्ते बाल। नाई ने कहा—जजमानजी, घबरात काहे हो, अब हीं सब सामने आये जात हैं! खाने और कपड़े के क्षेत्र में राष्ट्रीयता के पुजारी भारतीय मुनाफाखोर-पूँजीपतियों ने सरकारी अफसरों के साथ मिलकर, घूस का बाजार गरम कर अपने देशभाइयों के ऊपर जो विपत्ति ढा रखी है उससे हमारे इन भोले बन्धुओं को इस बात का कुछ-कुछ आभास तो मिल जाना चाहिए कि अगर हमें इन पूँजीपतियों की सद्वृत्तियों पर ही निर्भर रहना पड़े तो अविलम्ब ही हमारी क्या स्थिति हो जायेगी! ब्रिटेन भारत को जो कुछ दे रहा है वह किन्हीं परिस्थितिगत विवशताओं के कारण, भारत के प्रति किसी अनन्य सौहार्द के वशीभूत नहीं—यह बात कहने की आवश्यकता न होनी चाहिए थी, क्योंकि यह एक स्वयंसिद्ध बात है; मगर इसे भी आज कहने की आवश्यकता पड़ती है और वह इसलिए कि बड़े-बड़े पूँजीपतियों द्वारा संचालित समाचार-पत्रों ने इधर काफी लम्बे अर्से से लोगों के दिमाग में उल्टी-उल्टी बातें ही बिठाली हैं। हाँ, तो जो कुछ ब्रिटेन ने दिया है वह बहुत दबाव में पड़कर और इसीलिए वे इस ओर भी सचेष्ट रहेंगे कि जो कुछ दिया है उसे फिर से हड़प लें। इसके साथ ही साथ यह बात भी न भूलनी चाहिए कि संसार आज जिस आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विकास को प्राप्त हो गया है उसमें उस पुराने ढंग के, फौज-फाटावाले साम्राज्यवाद के लिए कम गुंजायश है, आज तो 'डालर साम्राज्यवाद' का युग है, आर्थिक साम्राज्यवाद का युग जिसमें अमरीका नेतृत्व करता है। इस साम्राज्य-वाद में तोप-तलवार का काम सिक्के करते हैं। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है अगर ब्रिटेन ने भी हवा के रुख को पहचानकर नये चाल-ढाल के साम्राज्यवाद का प्रयोग भारतवर्ष में करने की ठानी हो। जरा एक उड़ती नजर से देखिए कि ब्रिटेन ने अपना हित साधने के लिए क्या-क्या सरंजाम कर लिये हैं तब आपको भी यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि यह कहना झूठ है कि हमारी लड़ाई खत्म हो गयी और देश पन्द्रह अगस्त को आजाद हो गया :

* भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो टुकड़ों में बाँट दिया गया। ब्रिटेन को विश्वास है और वह इसी दिशा में सर्वदा उद्योगशील रहेगा कि ये दोनों राष्ट्र परस्पर लड़ते रहें और ब्रिटेन को इस बात का अवसर देते रहें कि वह कभी एक, कभी दूसरे के संग अपने स्वार्थ के समझौते करता रहे, दोनों राष्ट्रों की लड़ाई से ही अपना उल्लू सीधा करे;

* राजाओं को भी इस बात की स्वतन्त्रता दे दी गयी कि वे भी पन्द्रह तारीख को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों से अलग अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर सकें, और

अगर विधान-परिषद् में शामिल हों भी तो किसी बाध्यता के कारण नहीं, स्वेच्छा से, अपनी शर्तों पर, जिनमें यह भी हो कि विधान मनोनुकूल न बनने पर विधान-परिषद् से निकल आने की भी उन्हें सुविधा रहे। इस तरह ब्रिटेन ने समूचे भारतवर्ष की धरती के एक पाँचवें हिस्से पर अपने शक्ति-केन्द्र स्थापित करने का इन्तजाम कर लिया। साथ ही यह बात भी स्मरण रखने की है कि ये छ सौ के लगभग राजे-रजुल्ले अपनी जागीरें लेकर हिन्दुस्तान-भर में इस तरह फैले हुए हैं कि अगर कोई विदेशी शक्ति उनका उपयोग देश के अनिष्ट-साधन के लिए करना चाहे तो भली-भाँति, अत्यन्त सफलतापूर्वक कर सकती है। और इसी बात की सकारण आशंका है;

* देशी पूँजीपतियों के संग मिल-जुलकर भारतीय जनता के शोषण के हेतु बड़े-बड़े सौदे-समझौते। इन्हीं के द्वारा ब्रिटेन अपना आर्थिक प्रभुत्व-विस्तार करना चाहता है।

कदाचित् इसी बात को ध्यान में रखकर कवि गाता है:

शत्रु हट गया लेकिन उसकी
छायाओं का डर है।
आज जीत की रात
पहरुए, सावधान रहना!

पन्द्रह अगस्त के बाद अब देश जिस नयी हालत में आ गया है उस पर हमने विचार किया। अब प्रश्न यह आता है कि इस स्थिति में प्रगतिशील साहित्यकारों का क्रान्तिकारी कर्तव्य क्या है।

राष्ट्र के सामने आज तीन मुख्य कार्य हैं—

पहला, देश को ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्ण रूप से स्वतंत्र-मुक्त करना।

दूसरा, देश में सच्चा जनतंत्र स्थापित करना।

तीसरा, ब्रिटेन की विभेद-नीति को परास्त करके देश को, देश की आत्मा को फिर एक करना।

बात को समझने-समझाने के लिए हमने ये तीन विभाजन किये हैं वर्ना कार्य मूलतः एक ही है, या यों कह लें कि इन तीनों कार्यों में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है।

देश ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्णरूपेण मुक्त तभी हो सकता है जब उसके स्वदेशी आधार ही गिरा दिये जायँ, और ब्रिटेन के स्वदेशी आधारों को गिराना ही देश में सच्चा जनतंत्र स्थापित करने की ओर बढ़ना भी है। ब्रिटेन के स्वदेशी आधार हैं, राजे-महाराजे, नवाब-जागीरदार, बड़े-बड़े जमींदार और बड़े-बड़े पूँजीपति। इनका उच्छेद करके ही स्वतन्त्र जनतान्त्रिक भारत का निर्माण किया जा सकता है। अतः हम

साहित्यकारों का भी यह सीधा कर्तव्य हो जाता है कि हम उपर्युक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए होनेवाले प्रत्येक जन-संघर्ष में भाग लें। हममें से सब हर संघर्ष में भाग ले सकेंगे, ऐसा सोचना भूल होगी। हमें अपनी जगह आप चुन लेनी होगी। हम गाँव के हैं तो हमें किसानों की लड़ाइयों में हिस्सा लेना चाहिए, शहर के हैं तो मजदूरों की लड़ाई में, किसी देशी राज्य के हैं तो वहाँ की जनता की लड़ाई में। जहाँ तक हो सकेगा, हम इन लड़ाइयों में अपनी कलम और कूंची लेकर ही जायँगे जिसका यह मतलब नहीं कि जरूरत पड़ने पर लाठी या भाले को हाथ भी न लगायेंगे।

इसी संघर्ष के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हमारा साहित्य ही सच्चा क्रान्तिकारी साहित्य होगा। हम बहुत बार लिख चुके हैं कि थोथी उत्तेजना के साहित्य का युग समाप्त हो गया। अब हमें क्रान्ति की दीक्षा लेकर क्रान्तिकारी साहित्य की सृष्टि करने का अधिकार अर्जित करना होगा। अब तक हमने जो बहुत-सा साहित्य रचा है उसमें काफी कुछ अनधिकार नहीं है, यह कहना वाचालता होगी। है, और यह मान लेने में कोई बुराई नहीं है। असल क्रान्तिकारी संघर्षों का युग तो अब प्रारंभ हो रहा है, उसमें अगर हम अपने क्रान्तिकारी कर्तव्य को पूरा कर सके, तो प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में आये-दिन उठनेवाले अनेक प्रश्नों का समाधान अपने आप हो जायेगा। प्रचार-मूलकता आदि अभियोगों का उत्तर हमें सत्यनिष्ठ, मर्मस्पर्शी, जीवन के समान ही वैविध्यमय, बहुरंगी, कलात्मक वैदग्ध्यपूर्ण क्रान्तिकारी साहित्य की रचना करके देना है। वह बिना जनसंगर में उतरे संभव नहीं। और मनुष्य का संवेदनशील मन लेकर, एक जोड़ा अंतर्दर्शी साहित्यकारोचित आँखें लेकर और विश्व के आज तक के सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति अपनी कलात्मक ईमानदारी लेकर मैदान में उतरने पर श्रेष्ठ क्रान्तिकारी साहित्य क्यों नहीं रचा जा सकता (अगर हमारी प्रतिभा में तेज है, और स्वयं उसमें ही खोट है तो बात अलग है!) यह हमारी बुद्धि से परे है। यों तो उसके सम्बन्ध में भी संदेहों और शंकाओं का बाजार गरम रहेगा ही और वह तो तब तक गरम रहेगा जब तक कि हमारे कृतित्व का प्रमाण इस तरह के संदेह-कातर, साहित्य के भविष्यत् के सम्बन्ध में भीरु व्यक्तियों को बिलकुल मौन नहीं कर देता। किन्तु यहीं पर हमारी परीक्षा भी हो रही है। हम इन जनसंघर्षों में हिस्सा लेते हैं या नहीं लेते, इससे सिद्ध यह होना है कि हम अपनी लेखनी के प्रति सच्चे हैं या नहीं। हम अपने जीवन की विवशताओं से ऊपर उठकर अपने नये ज्ञान को भावना की संपद् के रूप में परिवर्तित करते हैं या नहीं इससे सिद्ध यह होना है कि हमें किससे अधिक ममत्व है : अपने जीवन की विवशताओं से अथवा अपने प्रकृत साहित्यकार से। अपने साहित्यकार के प्रति अगर हमारा गंभीर ममत्व होगा तब तो राह निकलेगी, अन्यथा

नहीं। अगर प्रगतिशील साहित्यकार इस कसौटी पर खरे उतरे तो वे आज की, मध्यवर्ग के घेरे में संकुचित 'बाबू संस्कृति' को व्यापक 'जनसंस्कृति' का रूप दे सकेंगे, अन्यथा नहीं। बिना 'जन' के संस्पर्श के 'जनसंस्कृति' का निर्माण नहीं हो सकता। जब आप व्यापक जनतंत्र के निर्माण की बात करते हैं तब सीधा प्रश्न जनसंस्कृति के निर्माण का उठता है। उसे हल करने का दायित्व अगर आपका नहीं तो और किसका है? और सम्प्रति स्थिति यह है कि अगर आज जनता को साक्षर करा भी दिया जाय और वह टो-टोकर थोड़ा-बहुत पढ़ने भी लगे ता हमारे पास ऐसा आधुनिक साहित्य काफी नहीं है जिसे हम उसको इस सन्तोष के साथ दे सकें कि वह इसका रस ले सकेगी और साथ ही साथ उसके द्वारा नवीन समाजबोध के संस्पर्श में आ सकेगी। इस दारिद्र्य के लिए उत्तरदायी कौन है?

अब आइए उस दूसरे कार्य के सम्बन्ध में विचार करें जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है: बिभक्त देश की आत्मा को पुनः एक करने का आवश्यक कर्म।

हमारे शासकों ने जान-बूझकर हमारे इस प्राचीन गौरवशाली देश को हिन्दू और मुसलमान के आधार पर विभाजित किया है। इसके द्वारा वे भारत में सामाजिक विग्रह और सांस्कृतिक विघटन की ऐसी वन्या लाना चाहते हैं जिसके आवर्त में पड़कर हमारे गौरवशाली अतीत और असीम संभावनाशाली भविष्य का एक-एक कण सदा के लिए विलुप्त हो जायेगा, हमारी आशाओं का रंगमहल कर्दम का एक ढेर मात्र रह जायेगा।

भारत की संस्कृति हिन्दुओं और मुसलमानों की मिली-जुली संस्कृति है। आज उग्र हिन्दू साम्प्रदायिकता से पीड़ित कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि मुसलमान हमारे लिए विदेशी हैं—ब्रिटिश कुचक्र से यह बात आज सही भी हो गयी है—लेकिन इतिहास बतलाता है कि भारत में आकर इसलाम का रूप बदला, अनेक ऐतिहासिक कारणों से उसकी सामरिक विजय हिन्दुओं पर हुई जरूर, मगर सस्कृति आदि के क्षेत्र में उसे विजित हिन्दुओं का अवदान भी स्वीकार करना पड़ा और इस तरह हिन्दुओं के मेल-जोल से एक मिली-जुली संस्कृति का जन्म हुआ। आचार-विचार, रहन सहन, पूजा-पर्व, संगीत, भास्कर्य, साहित्य, भाषा आदि सबमें दोनों मतावलंबियों का प्रभाव एक दूसरे पर देखा जा सकता है। हाली ने अकारण ही नहीं लिखा है कि इस्लाम का पोत गंगा के दहाने में आकर डूब गया। मुसलमान आक्रान्ता के रूप में आये अवश्य लेकिन यहीं बस गये और यहाँ के रहनेवालों के बहुत-से तौर-तरीकों को अपना लिया। हिन्दुओं ने उनकी विशिष्ट संस्कृति से कुछ भी न लिया हो, यह भी बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि बहुत दिन तक दोनों में संस्कृति का आदान-प्रदान बहुत

मुक्त रूप से हुआ और उसी का परिणाम आज की भारतीय संस्कृति है, विशेषतः उत्तरभारत (मध्यदेश और पंजाब) और बंगाल की संस्कृति।

उत्तर भारत और बंगाल दोनों प्रदेशों की संस्कृतियाँ हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के युक्त सांस्कृतिक गौरव का निशान हैं। एक पर मुसलिम संस्कृति की अधिक छाप है, दूसरी पर हिन्दू संस्कृति की, मगर दोनों का जन्म हिन्दुओं और मुसलमानों के मिले-जुले जीवन से हुआ, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। यह कहना ठीक है कि इस पारस्परिक मेल-जोल को और भी अधिक घनिष्ठ होना चाहिए था, तब समन्वय भी और भी अधिक दृढ़ भित्ति पर आधारित होता। यह कहना भी ठीक है कि समन्वयमूलक शक्तियों के साथ-साथ विग्रहमूलक शक्तियाँ भी कार्यशील रही हैं, कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से (जिनके सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं है) अंग्रेज आधिपत्य हो जाने के बाद समन्वयमूलक शक्तियाँ निर्बल होने लगीं और धर्मान्ध साम्प्रदायिकता के वशीभूत मुसलमान अरब की संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा का स्वप्न देखने लगे और हिन्दू हिन्दू-धर्मग्रन्थों के आलोक में नयी संस्कृति का निर्माण कर चले। इस सबके मूल में नवजाग्रत हिन्दू और मुसलिम मध्यवर्ग की शिक्षा-दीक्षा, नौकरी-चाकरी आदि को लेकर परस्पर प्रतिद्वंद्विता थी, इसमें सन्देह नहीं। और चूँकि समाज पर उन्हीं का प्रभाव था, इसलिए हमारे पूरे सांस्कृतिक विकास पर इस प्रतियोगिता, इस होड़ का प्रभाव पड़ा और जो संस्कृति दोनों के युक्त जीवन के आधार पर तैयार हो रही थी उसका विकास रुद्ध हो गया, क्योंकि दोनों ही अपनी-अपनी भ्रष्ट बुद्धि के अनुसार उस मिले-जुले उत्तराधिकार को अपनी ओर खींचने और उसमें अपनी दृष्टि से विशुद्ध सजातीय लेकिन उस युक्त संस्कृति की मिली-जुली प्रकृति की दृष्टि से विजातीय तत्त्वों का समावेश करने लगे। परिणाम यह हुआ कि विकास जहाँ का तहाँ रुक गया।

और अब जब कि देश का विभाजन इस ढंग पर हुआ है कि साम्प्रदायिक विग्रह की शक्तियों की प्रबलता बढ़े, तब इस युक्त सांस्कृतिक उत्तराधिकार की रक्षा का प्रश्न अत्यन्त गंभीर रूप में हमारे सामने आ गया है। इस समय वास्तव में इस बात की आशंका उत्पन्न हो गयी है कि कहीं दोनों राष्ट्रों की सरकारों की सांस्कृतिक नीति इस युक्त उत्तराधिकार को एक दम परे फेंककर राष्ट्र का सांस्कृतिक संघटन धार्मिक कठमुल्ले-पन के आधार पर करने की न हो जाय। इस अपवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए दोनों ही 'राष्ट्रों' में प्रतिगामी शक्तियाँ प्रयत्नशील हैं। आज के वातावरण में उनसे लोहा लेना और उन्हें पछाड़ना प्रगतिशील शक्तियों के लिए सरल कार्य नहीं है। पाकिस्तान को शरीयत के अनुसार परिचालित करने के लिए मुसलमान कठमुल्ले

एड़ी-चोटी का ओर लगा रहे हैं। संभव है, उन्हें इसमें सफलता भी मिल जाय। उसी तरह से हिन्दुस्तान को हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के आधार पर चलाने के लिए सांप्रदायिकता-वादी लोग, महासभा आदि पूरी कोशिश कर रहे हैं, पर उन्हें सफलता मिलेगी, इसकी आशा कम ही है। साठ साल के राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण हिन्दुस्तान के पास प्रजा-तांत्रिकता की एक परंपरा है जो पाकिस्तान के पास नहीं है। इसलिए नये राष्ट्र की संस्कृति को पुराने आदर्शों पर चलाने की आशंका पाकिस्तान में अधिक है। हिन्दुस्तान में भी यह आशंका निरन्तर बनी रहेगी और प्रगतिशील शक्तियों को इस बात के लिए निरन्तर चेष्टा करनी होगी कि जो युक्त सांस्कृतिक उत्तराधिकार हमको मिला है, हम उसे और भी विकसित करें, न कि हिन्दुत्व के आवेश में इस उत्तराधिकार से भी हाथ धोयें और 'विशुद्ध हिन्दू संस्कृति' की मृग-छलना में कुछ अजब एक चों-चों का मुरब्बा बनाकर बैठ जायें। आज जब कि 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्थान' का नारा ही चारों ओर सुन पड़ रहा है, तब हमारी यह तूती की आवाज कोई सुनेगा भी या नहीं, कहना कठिन है, मगर हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि अगर हम भारत को फिर से एक, आत्मा की दृष्टि से एक देखना चाहते हैं, तो हमें उसे संस्कृति की दृष्टि से एक करना होगा अर्थात् बंगाली, बिहारी, गुजराती, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, युक्तप्रांतीय सब प्रदेशों की हिन्दू और मुसलिम जनता के युक्त सांस्कृतिक उत्तराधिकार को अपनाकर, उसे आगे विकसित कर, घनिष्ठतर सम्मिलित जीवन के आधार पर उस प्रदेश की संस्कृति में अभिन्नतर समन्वय की सृष्टि करके। इसके अलावा दूसरा पथ नहीं है। और सारे पथ अन्ततोगत्वा सांस्कृतिक विनाश की ओर ले जानेवाले हैं। इसमें क्षति हिन्दुओं की भी होगी और मुसलमानों की भी। अत्यधिक सांप्रदायिक उत्तेजना के इस तमिस्र युग में यही बात अधिक संभव है कि हमारी बात पागल का प्रलाप समझी जाये, मगर उत्तेज-नाओं का शमन होने पर जब हम पिछली बातों पर दृष्टि डालेंगे तब हमें पता चलेगा कि हमारा मस्तक धूलि में पड़ा हुआ है, क्योंकि हमने अपने आवेश में वही डाल काट दी जिसपर कि हम बैठे हुए थे। पिछले बीस-पचीस सालों से यों ही दोनों मतावलंबियों में समन्वय के स्थान पर पार्थक्य के लिए अधिक आग्रह दिखाई पड़ने लगा था। अब तो यह आग्रह अनायास ही द्विगुण या दशगुण हो जायेगा। मेरे पिता और उनके पिता और उनके पिता, उन सबकी शिक्षा-दीक्षा अरबी-फारसी के माध्यम से हुई थी। मगर मेरी पीढ़ी आते-आते 'उर्दू मुसलमानों की भाषा है' यह भाव इतना काफी प्रबल हो गया था कि मेरी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी में हुई। उर्दू-फारसी हमारे घर में बुरी तरह घर कर गयी थी, वह जाती तो भला कैसे, मगर हिंदी के प्रति पक्षपात का भाव हमारे यहाँ भी आने लगा था, इसमें सन्देह नहीं। आप किसी स्कूल की उर्दू-कक्षाओं के पिछले कई साल के रजिस्टर निकलवाकर देखिए, आप पायेंगे कि उर्दू पढ़नेवाले हिन्दू

लड़कों की संख्या प्रतिवर्ष कम होती जा रही है, और अभी उस रोज एक स्थानीय हाई स्कूल के एक अध्यापक-मित्र कह रहे थे कि अब स्वयं लड़कों की ओर से यह आन्दोलन उठाया जा रहा है कि हम सेकंड फार्म के रूप में भी उर्दू नहीं पढ़ना चाहते! इतने से ही आप अंदाजा लगा सकते हैं कि आज हवा का रुख किधर है। उर्दू का जन्म युक्तप्रान्त में हुआ, सबसे अच्छी उर्दू युक्तप्रान्त के ही एक नगर में बोली जाती है; सर सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमानों का जो पुनर्जागरण हुआ, उसका केन्द्र भी युक्तप्रान्त ही है। उसी युक्तप्रान्त में आज उर्दू के प्रति यह भाव पाया जाता है। एक समय वह था जब कि कबीर, रहीम, रसखान, जायसी, खुसरो न जाने कितने मुसलमान कवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया था और न जाने कितने हिन्दू कवियों और गद्यकारों ने उर्दू साहित्य को समृद्ध किया था और एक समय आज है। तब द्वित्व का कोई भाव न था, आज उसके अलावा और कोई भाव ही नहीं। आज तो हम अपनी नाक कटाकर पड़ोसी का असगुन करने तक को तैयार हैं! इसे अगर हम साम्राज्यवादी नीति-कौशल की आश्चर्यजनक सफलता न कहें, तो और क्या कहें? अब तो देश विभक्त हो जाने पर हिन्दू और मुसलिम सांस्कृतिक पुनर्जागरण की विरोधी धाराएँ, जिनकी टकराहट पिछले सत्तर-अस्सी सालों से चली आ रही है, मगर तब भी जनता के सम्मिलित जीवन से जिनकी उग्र पृथकता खर्व होती आयी है, तड़ित् के समान अव्याहत गति से यों बढ़ेगी कि जल्दी ही ऐसी कोई चीज न बचेगी जिसे हिन्दू और मुसलमान समान रूप से अपना सांस्कृतिक उत्तराधिकार मान सकें। जो बात उत्तर-भारत की संस्कृति के लिए सही है, वही बात और भी आग्रह के साथ बंगाली संस्कृति के बारे में कही जा सकती है, क्योंकि अन्य किसी भी जाति की अपेक्षा बंगाली जाति के रूप में हिन्दू और मुसलमान सबसे अधिक सुदृढ़ रूप में युक्त हुए। यों तो बिहारी, गुजराती, पंजाबी सभी के बारे में यह बात कही जा सकती है कि उन सबके हिन्दू और मुसलमान एक जाति हैं ('नैशनैलिटी' के अर्थ में) और मोटे रूप में यह बात ठीक भी है (बावजूद दो धर्मों के आधार पर दो राष्ट्रों के निर्माण के, जिसे कोई प्रगतिशील विचारक कभी स्वीकार नहीं कर सकता) मगर बंगाली जाति के अन्तर्गत ही भाषा-संस्कृति आदि की दृष्टि से हिन्दुओं और मुसलमानों में अद्भुत एकता दिखलाई देती है। उसी बंगाली जाति को अब खंडित कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि पूर्वी बंगाल के प्रतिक्रियाशील मुसलमान मौलवी लोग अब वह काम कर पायेंगे जो अब तक कोशिश करके भी नहीं कर पाते थे, अर्थात् बंगाली मुसलिम जन-साधारण को उनके बंगाली हिन्दू भाइयों से पृथक् करके उन्हें अरब के मुसलिम आदर्शों की ओर ले जाना, बंगाली संस्कृति के प्रति उनके मन में यह कहकर घृणा उपजाना कि यह तो हिन्दू संस्कृति है।

चतुर्दिक सांस्कृतिक विघटनकारी शक्तियों को अपूर्व सुयोग मिला है। हमें अपने हृदय का रक्त देकर भी विनाश की इस बाढ़ को रोकना होगा। पन्द्रह अगस्त को हमें जो 'आजादी' मिली है, यदि हमने उसके इन भयानक पहलुओं पर अच्छी तरह गौर करके उनका मुकाबला करने और देश की सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के लिए आप्राण उद्योग न किया, तो हम पायेंगे कि हमारी बढ़ती हुई शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के दबाव में पड़कर दुश्मन अगर पीछे हटने पर मजबूर हुआ है तो पीछे हटने के साथ-साथ उसने एक ऐसा शैतानी जाल भी बिछा दिया है जिसमें फँसकर राजनीतिक विनाश के साथ-साथ हमारा सांस्कृतिक विनाश भी हो जायगा। माउंटबैटन की इस योजना का विकराल रूप तो धीरे-धीरे हमारे सामने प्रकट होगा।

कवि ने सम्भवतः विशेष करके संस्कृति के पहरुओं को लक्ष्य करके कहा है, पहरुए सावधान रहना।

अन्यथा तुम्हारी प्राचीन संस्कृति का एक-एक तार छिन्न-भिन्न हो जायगा। पन्द्रह अगस्त का यही हम लोगों के लिए सन्देश है।

भारत को जातीय आत्मनिर्णय के आधार पर पुनः एक करना है, मैत्री से, सद्भाव से, युक्त सांस्कृतिक परम्परा को और समृद्ध करके। यह कार्य हमारा है—टंडन जी के हिन्दू रक्षकदल का नहीं।

सन् ४७]

साहित्यिक आभिजात्य !

जुलाई के 'पारिजात' में श्री हंसकुमार तिवारी का एक लेख छपा है जिसका शीर्षक है 'किसके लिए'। अपने लेख में उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि साहित्य किसके लिए रचा जाता है ? और उत्तर दिया है कि साहित्य समझदारों के लिए रचा जाता है। यहाँ तक तो कोई बुराई नहीं ; बुराई उस जगह पर आती है जहाँ लेखक अनोखे आत्म-विश्वास के साथ बहुत कुछ दावे की शकल में यह बात कहता है कि समझदारी का ठेका कुछ थोड़े से लोगों का ही रहता है ; जिस पाठकवर्ग को हम जनता कहकर जानते हैं, उसे साहित्य के भले बुरे का कतई कोई विवेक नहीं है, इसलिए 'लोकरुचि साहित्य की कसौटी नहीं हो सकती।' विद्वान् लेखक ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि साहित्य के रसज्ञ पाठकों का तो अपना एक अलग वर्ग है, जिसे हम साहित्य का अभिजात वर्ग कह सकते हैं, शेष जन-समाज तो मूर्ख और अशिक्षित है, निरक्षर भट्टाचार्य है, 'काला अक्षर भैंस बराबर' है। "सर्वसाधारण के बीच जो पढ़नेवाले भी हैं, उनकी रुचि इतनी परिमार्जित नहीं कि 'छबीली भठियारिन' और 'किस्सा साढ़े तीन यार' से ऊपर उठ सकें। आखिर साहित्यकार इस कुकर्म पर उतरे क्यों ? वह लोकरुचि के निर्माण के बदले विकृत लोकरुचि का सहायक क्यों हो ?' इसी बात को और भी स्पष्ट ढंग से लेखक यों रखता है : जनता के लिए किसी हद तक साहित्यकार को सुगम होना हो, तो संभव भी है, एकबारगी निम्नस्तर में उतर जाने की इच्छा कैसे हो सकती है ? जरूरत पड़े तो देवता को मानव बनाया जा सकता है, लेकिन उसे पशु बना देना किसे गवारा होगा ? अगर भाव और भाषा के सुगम होने से ही साहित्य जनसाहित्य की कोटि में आ सकता, तो समझौता हो जाता। यहाँ तो इसकी भी संभावना नहीं कि साहित्य भाव-भाषा सरल-सहज होने से ही वह जनोपयोगी हो उठेगा। लेखक चाहे जिस धरातल पर भी क्यों न उतर आये, सर्वसाधारण के लिए कोई लाभ नहीं। बहरे के आगे गवैये को इस बात का तो दुःख होता नहीं है कि वह पक्का संगीत नहीं समझता। मुश्किल तो यह है कि उसके आगे गजल और बिरहा भी बेकार है—वह सुन ही नहीं सकता।"

हम कठोर शब्द नहीं इस्तेमाल करना चाहते, मगर हम कहने को विवश हैं कि इन उक्तियों में जो दर्प बोल रहा है वह अधिक करुण है या वीभत्स, यह कहना

हमारे लिए कठिन हो रहा है। कितने उच्च शिखर पर से वह बोल रहा है—अकल्पनीय। उसके शब्दों की व्यञ्जना को जरा और खोलकर तो देखिए, तब आपको पता चलेगा। 'आखिर साहित्यकार इस कुकर्म पर उतरे क्यों ?' में ध्वनि यह है कि अपनी बात को सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाना एक प्रकार का कुकर्म है।

'जनता के लिए किसी हद तक साहित्यकार को सुगम होना हो (ओफ्फोह, ऐन मेहरबानी है हुजूर की जो आप इतने के लिए तो राजी हुए, मगर हुजूर ने यह तो बताया नहीं कि किस हद तक आप अपनी बुलंदियों से नीचे उतर सकते हैं!) तो संभव भी है, एकबारगी निम्न स्तर में उतर जाने की इच्छा कैसे हो सकती है ?' (शिव शिव शिव शिव, किसने आपसे ऐसी बुरी बात कह दी ? कोई कहाँ तक नीचे उतर सकता है आखिर, उसकी भी तो सीमा है, देवता को आप मनुष्य बना सकते हैं, जानवर तो नहीं बना सकते ! जड़ता के जिस अतल अंधकूप में आपकी 'जनता' पड़ी हुई है वहाँ सूरज अगर नहीं पहुँच सकता तो उसमें सूरज का क्या दोष है !)

यह आपने नहीं देखा कि किस सुगमता से, कितने अनायास ढंग से विद्वान लेखक ने अपने को देवताओं की कोटि में बिठाल लिया और जनता को पशु की संज्ञा दे दी।

देवता बनते ही हंसकुमारजी इन्द्र के पारिषद् भी बन गये और गन्धर्वों तथा किन्नरों की श्रेणी में आ गये क्योंकि अगले ही क्षण वह गवैये की भूमिका में आपके सामने आते हैं—'बहरे के आगे गवैये को इस बात का तो दुःख होता नहीं है...' अद्भुत दृश्य है, संगीत मार्तण्ड किंवा संगीत-प्रभाकर (जो भी रुचि के अधिक अनुकूल हो !) श्री हंसकुमार तिवारी नील नभ की चौकी पर से पक्का गाना गा रहे हैं और नीचे धरती पर किलबिल करता हुआ श्रोताओं का समाज उस स्वर्गिक स्वर-लहरी के संस्पर्श से एक बार भी मुग्ध नहीं होता, एक बार भी सिर नहीं हिलाता ! कितने अरसिक श्रोता हैं, भर्तृहरि ने ठीक ही लिखा है, अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख !

विद्वान् लेखक ने अपने लेख में एक से एक बेशकीमत मोती पिरोये हैं। जरा उनको एक नजर देख लें तो आगे बढ़ें :

XX साहित्य के बारे में लोकदृष्टि का भरोसा नहीं किया जा सकता, विशेषज्ञ की राय विश्वसनीय मानी जा सकती है।

XX चूँकि जनता की रुचि है नहीं, इसलिए लोकप्रियता साहित्य की कसौटी हो नहीं सकती। XXX

'...जो रुचि-विशेष को ही साहित्य की कसौटी मान बैठते हैं, उनके लिए संस्कृत

कवि ने एक बड़ा ही सुंदर उदाहरण दिया है—किसी सिंह ने वन में हाथी का मस्तक फाड़ डाला था, जिससे गजमुक्ता बाहर छिटक पड़ा था। बेर बीनने को एक भीलनी बन में गयी हुई थी। दूर से उसने उसे जो देखा तो दौड़ी-दौड़ी उसके पास गयी। लेकिन हाथ में उसे उठाकर जब देखा कि वह बेर नहीं है, तो फेंक दिया। भीलनी के इस तिरस्कार से मोती के मूल्य में कमी हो गयी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।...

हंसकुमारजी के इन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा से और किसी को लाभ हो चाहे न हो, साहित्य की हाट में हीरे-जवाहरात के नाम पर रंग-बिरंगे पत्थर लेकर डोलनेवाले बिसातियों की जरूर बन आयेगी! अब उनके हाथ का हर चमकदार पत्थर गज-मुक्ता होगा!

अपने मत के समर्थन में उन्होंने रवीन्द्रनाथ का उद्धरण दिया है: 'सती जैसे अपने पति के सिवा दूसरे को नहीं देखती, अच्छी कविता सहृदय के सिवा और किसी की अपेक्षा नहीं रखती' मगर जरा गौर से देखिए तो यह बात हंसकुमारजी के खिलाफ जाती है—'विशेषज्ञ' वगैरः की लंबी-चौड़ी बातें इस उक्ति के सामने ढह पड़ती हैं, क्योंकि यहाँ पर प्रश्न 'विशेषज्ञता' का नहीं 'सहृदयता' का है। सर्वसाधारण 'विशेषज्ञ' नहीं हो सकते, नहीं होते भी, लेकिन 'सहृदय' हो सकते हैं, और होते हैं और कदाचित् हंसकुमारजी भी इस बात को स्वीकार करेंगे कि जहाँ तक सहृदयता का संबंध है निरे गँवार, पढ़े-लिखे सफेदपोश लोगों से कुछ बढ़कर ही होते होंगे, घटकर तो नहीं होते और जनता के बहुधा अलिखित साहित्य, लोक-गीतों आदि में (और जब विद्वान् लेखक ने भिखारीदास का नाम लिया है तो कहना चाहिए कि उसके 'बिदेसिया' में भी) और साहित्यिक बातें हों चाहे न हों, सहृदयता तो निश्चय ही बहुत है, उतनी जितनी कि सफेदपोशों के अधिकांश साहित्य में नहीं मिलती।

रवीन्द्रनाथ की बात का जो अर्थ हमने लिया है वही सही है, इसका प्रमाण यह है कि आज रवीन्द्रनाथ के गान बंगाल के गाँव-गाँव में प्रचलित हैं, सामान्य किसान और माँझी भी उन्हें गाते हैं, उनमें अपने सुख-दुःख और आशा-आकांक्षा का मानस-चित्र पाते हैं।

हंसकुमारजी के लेख पर इतने विस्तार से लिखना हमने इसलिए आवश्यक समझा कि जिस भावना (या दुर्भावना) का परिचय इस लेखक ने दिया है, वही भावना, कमोबेश साहित्य की पुरानी मान्यताओं में विश्वास रखनेवाले अधिकांश लेखकों में पायी जाती है। किसी में वह स्पष्ट हो, किसी में प्रच्छन्न, यह बात और है। किसी में उसे इतनी सफाई और इतने बेलाग ढंग से कहने का साहस न हो यह बात भी और है। कुछ लोग इसी बात को घुमा-फिराकर, या दूसरे शब्दों में कहें, तो कुनैन की

टिकिया को चीनी में लपेटकर प्रस्तुत करते हैं पर बात मूलतः यही रहती है। साहित्य की समाजोन्मुखता का विरोध करनेवाले सभी लेखकों ने अपने-अपने युग और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ी-थोड़ी भिन्नता के साथ यही बात कही है। हंसकुमार जी के लेख की उल्लेखनीयता इस बात में है कि आज भी यानी जनता की शक्ति और चेतना के अभूतपूर्व प्रसार के इस युग में भी ऐसी बात कहने का साहस कुछ लोग करते हैं!

जनता की रुचि के सम्बन्ध में जो बातें लेखक ने कही हैं उनमें सिर्फ इतना तथ्य है कि जनता अशिक्षित है इसलिए उसकी रुचि अभी काफी परिमार्जित नहीं है और देश के स्वतंत्र होने पर जब उसमें वास्तविक शिक्षा-प्रचार (कोरा साक्षरता-प्रचार नहीं) होगा तब उसकी रुचि में और भी मार्जन, और भी निखार आयेगा, इस बात में तो कोई सन्देह ही नहीं। लेकिन अगर कोई इसी बात के सहारे यह कहना चाहे कि लोकरुचि में सत्-असत् साहित्य का कोई विवेक ही नहीं है तो यह बात गलत होगी। किसी भी बात को जाँचने का सबसे अच्छा ढंग प्रयोग है। हमारा विश्वास है कि हंसकुमारजी ने जनरुचि की कदर्यता के सम्बन्ध में जो बातें इतने साधिकार कही हैं, उनके पीछे उनके निजी अनुभव का, उनकी अपनी अभिज्ञता का प्रमाण होगा। मगर हमारा अनुभव तो कुछ और है। मैं दो बहुत महान् प्रतिभा के कथाकारों—गोर्की और प्रेमचन्द की बात कहता हूँ। प्रेमचन्द से बड़ा और उनसे अधिक जन-जीवन से स्पंदित कहानीकार अब तक हिन्दी में उत्पन्न नहीं हुआ है—यह कहना कदाचित् अत्युक्ति न होगी। अपढ़ किसानों तक में उनकी कृतियों का कितना प्रचार है, यह बात स्वयं हंसकुमारजी की भूल को प्रमाणित कर देती है। विद्वान् लेखक चाहें तो स्वयं इस बात का प्रयोग करके देख सकते हैं। प्रेमचन्द की श्रेष्ठतम कहानियाँ 'कफन', 'पूस की रात', 'गुल्लीडंडा', 'पंच-परमेश्वर', 'ईदगाह', 'अलग्योझा', या जो भी कहानी जो उनके जीवन से सम्बद्ध हो, उनके सम्मुख पढ़कर देख लें। हमें विश्वास है कि जितनी रसज्ञता से वे श्रोता उन कहानियों का उपभोग करेंगे, उतनी रसज्ञता सफेदपोश पाठकों में सामान्यतया मिलेगी ही नहीं। उनके क्लांत, अवसन्न, बोझिल मन में तो रसोपभोग की वैसी सहज क्षमता ही नहीं रहती, जहाँ तक हमने देखा है।

उसी तरह गोर्की का उपन्यास 'मा' या 'छब्बीस और एक', 'पतझड़ की वह रात', 'नर-पशु', 'शेलकश' आदि कहानियाँ उनको पढ़ने को दीजिए। लेखक दूसरे देश का, परिस्थितियाँ बहुत कुछ भिन्न, लेखनशैली अनेकांश अपरिचित लेकिन इस सबके बावजूद हमारे देश की सामान्य जनता उनका रस ले सकेगी, इसका हमें पूर्ण विश्वास है।

जो भारतीय जनता व्यास, वाल्मीकि, तुलसी, सूर, मीरा, विद्यापति और कबीर की रचनाओं का रसास्वादन करने में समर्थ हो, उसकी रुचि को विकृत कहना साधारण साहस का काम नहीं है।

अपने लेख के अन्त में लेखक ने कुछ 'प्रगतिशील' रचनाओं की दुर्बलता पर कटाक्ष करते हुए जो बात कही है, वह कुछ अंशों में सही तो है, मगर लेख के मूल विषय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक स्वतंत्र और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, लेकिन लेख की मूल प्रतिपाद्य वस्तु की दृष्टि से अवान्तर प्रश्न है। विद्वान् लेखक का कथन है:

'जो अनुभूति साहित्य की जान है वह तभी जीवन्त हो सकती है, जब साहित्यकार की अपनी हो। × × सर्वसाधारण के साहित्य में हमें आज तक आत्मीयता ही नहीं, कृत्रिमता ही मिलती रही है (यह सबका परम दुर्भाग्य है !—सं०)।

'कवि ने भूखे बंगाल पर कविता लिखी, लेकिन दिल्ली में रहकर। झोंपड़ों का वर्णन किया, किन्तु महलों की विलासिता में। गरीबी पर रोया किया, पर रईस की पार्टी में 'व्हाइट हार्स' और '५५५' पीते हुए; पूँजीवाद को शाप दिया, मगर अपने रुपये कारोबार में लगाये। पंतजी ने तो स्वीकार ही किया है कि उनकी 'ग्राम्या' बौद्धिक सहानुभूति का फल है (आत्मिक नहीं !)। ऐसे भी राष्ट्रकवि आज मिल रहे हैं, जो चार दिन पहले राष्ट्र के दुर्दिन में उसके दुश्मन के चारण थे। ये हैं जन-साहित्य की सच्चाई के कुछ नमूने। ऐसे कृत्रिम प्रयत्न से कोई लाभ नहीं। साहित्य उसके स्रष्टा की जीवन-साधना है, केवल यश और अर्थ का आधार नहीं। रचना के साथ इसीलिए रचनाकार की सच्चाई और ईमानदारी अपेक्षित है।' कुछ लोगों के सम्बन्ध में लेखक के मत से हमारा ऐक्य हो सकता है; पर यह लेख का विषय नहीं है। लेख के मूल विषय पर लेखक फिर अंतिम पैरे में पहुँचता है।

'इन बातों का सारांश है कि मौजूदा हालत में जनसाहित्य का व्यापक लाभ नहीं, जब तक कि जनता में सुशिक्षा और साहित्यिक संस्कार नहीं पैदा होता।'

पर हमारा प्रश्न है कि वह पैदा होगा कैसे जब तक उसके लिए उचित वातावरण, उचित परिस्थितियाँ न मिलेंगी? बिना स्वतंत्रता-प्राप्ति (कहना न होगा कि १५ अगस्त को जो ब्रिटेन मार्का आजादी मिलनेवाली है, हम उसके हामी नहीं) के भला वह कैसे संभव है? और स्वतंत्रता क्या बिना जनता को आन्दोलित किये हुए, उसके हृदय को स्पर्श किये हुए प्राप्त की जा सकती है? यह कार्य जन-साहित्य का नहीं तो क्या और किसी का है? हाँ, यह सही है कि उसका उतना व्यापक लाभ न मिल सकेगा, क्योंकि जनता अशिक्षित है, मगर क्या परिस्थिति विषम है इसीलिए यह कहना ठीक है कि वह कार्य ही करने योग्य नहीं है?

भाव और भाषा को सहज से सहजतर बनाते हुए जनता का सच्चा साहित्य तैयार कीजिए तब आप पायेंगे कि जनता आपको हाथों हाथ लेने के लिए तैयार है। वह सुन्दर कला-कृतियों की भूखी है, उसकी माँग केवल इतनी है कि वे कला-कृतियाँ निरी गगन-विहारिणी न हों, उनमें जीवन का संस्पर्श हो। यदि कलाकार ने सफलतापूर्वक, कलात्मक ढंग से जीवन को रूपायित किया है, तो सर्वसाधारण से भी उसे अर्घ्य मिलेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। गोर्की ने एक जगह लिखा है :

भाग्यशाली हैं वे लोग जो यह जानते हैं कि जनता शक्ति का अक्षय स्रोत है और उसमें सारे स्वप्नों को वास्तविकता में बदल डालने की क्षमता है। मैं उन्हें भाग्यशाली इसलिए कहता हूँ कि जनता के सजीव संस्पर्श से उन्हें रचनात्मक स्फूर्ति प्राप्त होती है। और अब उचित है कि स्फूर्ति का यह भाव और भी बढ़े और उनके हृदय को गहरे उल्लास और एक नयी संस्कृति को नये-नये रूप देने की तीव्र प्यास से भर दे।

सन् ४७]

साहित्यसृजन का लक्ष्य....

साहित्य-सृजन का लक्ष्य स्थिर करने की समस्या इतनी बड़ी है कि इसने अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी साहित्य-समीक्षकों तथा अन्य आचार्यों और विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है और उन्हें अपना मत देने के लिए बाध्य किया है। वास्तव में समस्या ऐसी ही महत्त्वपूर्ण है और ऐसी ही कठिन और इसीलिए शायद कभी भी किसी के लिए यह कहना बड़े दुःसाहस का काम होगा कि अब हमने इस समस्या पर हर पहलू से विचार कर लिया।

साहित्य का सम्बन्ध अगर अकेले साहित्यकार से हो तो कोई समस्या न उठे और साहित्यकार अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के अनुसार जैसा मन में आवे वैसा ही साहित्य रचकर संतोष लाभ कर सके। लेकिन समस्या तो तब आ खड़ी होती है जब हम यह देखते हैं कि साहित्यकार समाज से अलग कोई इकाई नहीं बल्कि स्वयं एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए समाज के प्रति उसका उत्तरदायित्व है जिससे मुकरना ईमानदारी न होगी—न अपने प्रति, न समाज के प्रति और न अपनी कला के प्रति क्योंकि कला को भी तो अन्ततोगत्वा समाज से ही अपनी सामग्री संग्रह करनी पड़ती है?

साहित्य लिखा जाता है तो हज़ारों-लाखों आदमी उसको पढ़ते हैं, चित्र बनाया जाता है तो हज़ारों-लाखों आदमी उसे प्रदर्शिनियों में और ऐलबमों में और पत्र-पत्रिकाओं में देखते हैं। लोग साहित्य पढ़ते और चित्र देखते हैं तो उसका उनके मन पर असर पड़ता है, उनकी चेतना बनती है। उनकी चेतना उनके कार्यों को प्रभावित करती है। उनके कार्यों का संबंध उनके समाज और उनके राष्ट्र से है। इसलिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो पड़ता है कि किस प्रकार का साहित्य रचने के लिए समाज में वातावरण तैयार किया जाय। इसीलिए सभी पूरबी और पच्छिमी, पुराने और नये विचारकों ने इस प्रश्न पर अपना मत दिया है। अगर उनका रचनात्मक साहित्य से सीधा संबंध नहीं भी रहा है, तब भी उन्होंने उक्त विषय पर अपना मत प्रकट किया है क्योंकि अंततोगत्वा यह एक समाज-विधायक प्रश्न है।

और यह एक समाज-विधायक प्रश्न है, यह तो इसी से सिद्ध है कि 'माधुरी' के दिक्कालातीत संपादक तक ने अभी हाल में इस ओर ध्यान दिया है! मामूली तौर पर वे ऐसी समस्याओं के पीछे अपनी नींद नहीं खराब करते; लेकिन शायद यह देखकर कि

साहित्य में क्रांतिकारी, प्रगतिशील धारा काफ़ी ज़ोर पकड़ती जा रही है जिसके कारण साहित्य की गतानुगतिक मान्यताओं के रंगमहल के ढह जाने की आशंका पैदा हो गयी है, उन्होंने भी इस नयी धारा को काटने की कोशिश की है। इस काम को करने का कोई एक ढंग नहीं है, अनेक ढंग हैं।

अप्रैल के अंक में उन्होंने किन्हीं पं० श्री लाल शुक्ल का एक लेख छापा है 'आधुनिक कवि-सम्मेलन'।' इस लेख में लेखक की बुद्धि के अनुसार बड़े कौशलपूर्ण ढंग से प्रगतिशील कविता की खिल्ली उड़ायी गयी है। शुक्ल जी लिखते हैं—

कवि होने का, तात्पर्य यह, महाकवि, प्रख्यात कवि होने का दूसरा मार्ग है, अपने आपको बदलिए। मैंने 'कुरुक्षेत्र' सुनाकर बहुतों की दृष्टि में अपने को उठा हुआ नहीं पाया। 'कुरुक्षेत्र' में एक बुराई है, वह शुद्ध हिन्दी में है। उसमें एक और बुराई है, उसमें 'जवानी' 'तूफ़ान' 'इन्क़लाब' 'मौत' 'खून' 'सरमायादार' 'मज़दूर' ऐसे शब्द नहीं। मेरी प्रशंसा तब हुई जब मैंने एक कविता सुनायी—'आज के कवि से'।

लेखक शायद यह कहना चाहता है कि आज हिन्दी में बहुत-सा छद्मकाव्य केवल इसलिए ख्याति पा लेता है कि उसमें 'जवानी' 'तूफ़ान' 'खून' 'सरमायादार' जैसे शब्द रहते हैं। हाँ, यह बात कुछ अंशों में सही है कि आज उक्त प्रकार का प्रगतिशील नामधारी छद्मकाव्य भी हमारे सामने आ रहा है और यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसका प्रतिकार होना चाहिए। लेकिन लेखक इस प्रवृत्ति का उल्लेख इसलिए नहीं कर रहा है कि उसका प्रतिकार हो और श्रेष्ठ प्रगतिशील कविता जिसमें कवि की ईमानदारी एक-एक शब्द से, एक-एक स्वर से झंकृत हो रही हो, लिखी जाय; बल्कि इसलिए कि वह इस प्रगतिशील नामधारी छद्मकाव्य के हल्ले में समस्त प्रगतिशील कविता और प्रगतिशील साहित्य पर ही बग़ली मार करना चाहता है। इसीलिए हमें इस बात की आवश्यकता हुई कि हम शुक्लजी की बात के झूठ-सच पर विचार करें। उक्त प्रकार के कोरे प्रचारात्मक, छद्मकाव्य के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने में कोई बुराई नहीं है। बहुत-से ऐसे तरुण कवि जो नये-नये लिखना शुरू करते हैं, ऐसे ही विषयों की ओर आकृष्ट होते हैं क्योंकि वे देखते हैं कि आज समाज में ऐसे ही साहित्य की माँग है, समाज में आज यही हवा बह रही है। हवा के साथ बहना आसान होता है, इसलिए थोड़े ही प्रयास से मिलनेवाली ख्याति के लोभ से वह उक्त प्रकार की कविता लिखने लगता है और चूँकि उसके मूल में उसका निजी अनुभव या अनुभूति नहीं होती, इसलिए उसका काव्य काव्य न होकर छद्मकाव्य हो जाता है। हमें इस स्थल पर उस 'कविता' को जो जान-बूझकर सस्ती ख्याति पाने के लिए लिखी जाती है, उस कविता से अलग करना होगा जिसके पीछे शोषित मानवता के लिए बौद्धिक सहानुभूति

तो काफी होती है लेकिन उसका निजी परिचय कम। इस बड़ी कमज़ोरी के लिए दूसरे प्रकार की कविता की भर्त्सना करने के बाद भी उसे पहले प्रकार की 'कविता' से अलग करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि एक के पीछे कम से कम कवि की व्यक्तिगत, वैचारिक ईमानदारी तो है, दूसरे के पीछे तो वह भी नहीं, वह तो शुद्ध जाल है। लेकिन इस छद्मकाव्य पर विचार करते हुए हम अगर यह बात ध्यान में रखें कि सभी ज़ोर-पकड़ते आन्दोलनों में इस तरह के लोग घुस आया करते हैं, तो कोई गड़बड़ी न होगी। जिस समय हमारे साहित्य में छायावाद का बोलबाला था, उस समय ये ही नवयुवक (याने इन्हीं के पूर्ववर्ती लोग) जो आज प्रगतिशील ढङ्ग का छद्मकाव्य रचते हैं, छायावादी ढङ्ग का छद्मकाव्य रचते थे और सभी मासिक पत्र-पत्रिकाओं में कवियों की हृत्तन्त्री के तार झनझनाया करते थे। जिस प्रकार यह छायावाद नामधारी छद्मकाव्य छायावादी कविता की काव्य-सम्पदा और सौंदर्य को तिरोहित नहीं कर सका, उसी प्रकार आज का यह प्रगतिशील नामधारी छद्मकाव्य प्रगतिशील कविता की शक्ति और ओज को चोट न पहुँचा सकेगा, इसका हमें विश्वास है। यहाँ पर यह भी कहने की आवश्यकता है कि जो बहुत-सी निर्बल प्रगतिशील कविता हमें दिखलायी पड़ती है उसमें बहुत थोड़ा अंश ऐसा होता है जिसे हम सस्ती ख्याति के लोभ से रचा गया कह सकते हैं। हम यह बात उन तमाम कविताओं के आधार पर कह रहे हैं जो नित्य हमारे यहाँ आती हैं और जिन्हें हम इसी कारण लौटाने पर वाध्य होते हैं कि उनमें सच्चे काव्य की प्रेरणा नहीं होती। उनमें सच्चे काव्य की प्रेरणा नहीं होती कहने से हमारा यही अभिप्राय है कि उनमें शोषित मानवता के लिए वह संवेदना नहीं होती जो कि काव्य का एक अनिवार्य उपादान है। यह संवेदना कवि में आ भी नहीं सकती जब तक कि उसने उक्त मानवता को पास से, उनके बीच रहकर देखा न हो। कोरी बौद्धिक सहानुभूति और दूर रहकर संचय किये गये ज्ञान से विवेचनात्मक गद्य का काम भले चल जाय, कविता या कहानी या नाटक का काम नहीं चल सकता। यह वे सभी लोग जो कविता या कहानी या नाटक लिखते हैं, स्वीकार करेंगे। यदि आज परिस्थिति यह है कि शक्तिशाली प्रगतिशील साहित्य काफी मात्रा में सामने नहीं आ रहा है तो इसका एक बहुत बड़ा कारण है कि हमारे नये साहित्यिक अपनी सामाजिक परिस्थितियों या व्यक्तिगत संस्कारों के घेरे से अपने को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं। इसके लिए दृढ़ता की ज़रूरत है, लेकिन यदि हम वास्तव में प्रगतिशील साहित्य से अनुराग रखते हैं और आज के समाज में उसकी अपरिहार्य जरूरत समझते हैं, तो हमें राह दिखानी होगी। अपने परिचित संसार से विदा लेना किसी के लिए सरल नहीं होगा, लेकिन अगर हमारे साहित्य को युग का सबसे शक्तिशाली और युगान्तरकारी साहित्य बनना है तो हमें

अपनी पीड़ित जनता के साथ अपने को मिलाना होगा, उनके पास जाकर, उनको अपना हृदय देकर उनको समझना होगा। युग-युग से उन्हें उच्चवर्ग के लोगों से वंचना ही मिलती आयी है, इसलिए उस वर्ग के लिये उन्होंने अपने हृदयकपाट बंद कर लिये हैं। इन बंद दरवाजों को खुलवाना टेढ़ी खीर होगी। इसके लिए हमें उन्हीं में से एक बनना पड़ेगा। जो लोग राजनीतिक कार्य के प्रसंग में मज़दूरों या किसानों के सम्पर्क में आते भी हैं, वे भी यह बात स्वीकार करेंगे कि राजनीतिक माँगों से आगे बढ़कर उन लोगों के दिल की बात को जान लेना बहुत सरल नहीं है। लंबे परिचय और आत्मीयता के बाद ही, बहुत-से मनोवैज्ञानिक अवरोधों को चकनाचूर कर देने के बाद ही वे लोग खुलना शुरू करते हैं और हमें सही अर्थों में उनके व्यक्तित्व के, उनकी आत्मा के, उनके दर्शन होते हैं। कवि या कहानीकार को इस शोषित समाज के इसी लंबे, आत्मीय परिचय की जरूरत होती है, सतही बातों से उसका अधिक काम नहीं चलता और ज्यादा दिन नहीं चल सकता। प्रगतिशील साहित्यकार जब यह बात स्वीकार करते हैं कि सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग मज़दूरों और उससे घटकर किसानों का है और उन्हीं को गतिशील बनाने से समाज भी गतिशील होगा, तो फिर हमारे पास इस बात की क्या दलील है कि हम इन शोषित वर्गों के जीवन को एकदम पास से नहीं जानते और उनके जीवन का चित्रण करने के लिए भी अपनी कल्पना की प्रखरता का आश्रय लेने के लिए बाध्य होते हैं? यह बात किसी भी दशा में ठीक नहीं कही जा सकती। अगर इस प्रवृत्ति का उचित प्रतिकार और नियंत्रण नहीं किया गया तो इस बात की आशंका है कि यह प्रवृत्ति जोर पकड़े और प्रगतिशील साहित्य में यथार्थवाद की मात्रा घटे और कल्पना-विलास की मात्रा बढ़े। अगर थोड़ी देर को यह भी मान लें कि ऐसा नहीं होगा तब भी यह बात तो बिलकुल सही है कि हमारे प्रगतिशील साहित्य की वाञ्छित श्रीवृद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक हमारे प्रगतिशील साहित्यकार साधना का कठोर पथ अपनाकर नित नये उपजनेवाले तरुण साहित्यसेवियों को उचित मार्ग नहीं दिखलाते। सबकी ज़िन्दगी में मजबूरियाँ हैं। उन्हीं मजबूरियों में से हमें राह बनानी होगी। परिस्थितियों का मुँह जोहने से जब कहीं क्रान्ति नहीं होती, तब साहित्य के क्षेत्र में ही क्या क्रान्ति होगी क्योंकि साहित्य तो जीवन का निचोड़ है, रस है।

सामाजिक परिस्थितियों के निर्मम उद्घाटन और विकास ने, मार्क्सवादी विचार-धारा और प्रगतिशील साहित्य-समीक्षा ने मिलकर आज हमारे साहित्य में लगभग सभी से यह बात मनवा ली है कि सत्साहित्य जीवन से पराङ्मुख नहीं हो सकता। यही बात प्रगतिशील साहित्य की आधारशिला है। यह एक बहुत संतोषजनक विषय है कि लोग नये साहित्य के इस आधारभूत सिद्धान्त को स्वीकार करने लगे हैं। लेकिन इस आधारभूत सिद्धान्त को मानते हुए भी प्रगतिशील साहित्य पर आक्रमण होते हैं। अब

तो पत्र-पत्रिकाओं में प्रगतिशील साहित्य के विरोध में जो लेख निकलते हैं उनका मूल स्वर यही होता है। ख्यातिलब्ध साहित्यकारों में महादेवी वर्मा ने प्रधान रूप से प्रगतिशील साहित्य के इस पक्ष पर प्रहार किया है। 'आधुनिक कवि सम्मेलन'-शीर्षक जिस लेख से पहले मैंने उद्धरण दिया है, उसमें भी एक जगह इसी तरह की बात आती है : मैं किसी भी प्रगतिवादी से बढ़कर इस बात का समर्थक हूँ कि साहित्य युग का परिभाषक है। परन्तु युग की आड़ में अपने साहित्य को नीचे गिराना और अपनी प्रख्याति को ऊपर उठाना नीचता है।

यह एक बे-सिर-पैर की बात है। कोई दावे के साथ यह कैसे कह सकता है कि किसी साहित्यकार ने कोई चीज़ ईमानदारी के साथ नहीं बल्कि अपनी प्रख्याति को ऊपर उठाने के लिए की है? यह तो एक ऐसा तारकोल है जिसे आप किसी के भी मुँह पर मलने के लिए दौड़ सकते हैं। साहित्य की जो भी प्रवृत्ति आपको न रुचे, वह युग की आड़ में अपनी प्रख्याति को ऊपर उठाने के लिए की गयी है! औरों के बारे में तो श्रीलाल शुक्लजी ही कह सकते हैं। लेकिन स्वयं उनके बारे में उनके लेख का कोई भी पाठक कह सकता है कि उन्होंने एक 'प्रगतिवादी' रचना सस्ती ख्याति के लिए की! उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। वास्तव में जो ऊटपटांग बातें शुक्लजी ने कही हैं, वे अपने ही जैसे लोगों के बारे में कही हैं जिनका अपना कोई जीवन-दर्शन या सिद्धान्त नहीं होता और जो यों ही हवा के बहाव में इधर-उधर उड़ा करते हैं! ऐसे लोगों से ही प्रगतिशील साहित्य का सबसे अधिक अकल्याण हुआ है।

हम यह बात मानते हैं कि उन सभी लोगों की, जो प्रगतिशील साहित्य में दोष निकालते फिरते हैं, नीयत सदा साफ नहीं होती। लेकिन साथ ही हमारे लिए यह न मानना भी भूल होगी कि साफ़ नीयतवाले लोगों को भी हमारे साहित्य में यह एक बड़ी कमी खटकती है। यह कमी हमारे अन्दर है, इसे हमसे अधिक और कौन जान सकता है? इस कमी को देखते हुए ही उपर्युक्त सुझाव रखा गया है। इसका सबसे बड़ा सुफल जहाँ यह होगा कि हमारे साहित्य में और अधिक दृढ़ता तथा स्थायित्व आयेगा, वहाँ एक बड़ा सुफल यह भी होगा कि नये लेखकों को भी इस बात का प्रोत्साहन मिलेगा कि वे अपने गाँव के या टोले-पड़ोस के लोगों से अधिक संपर्क में आवें। नवीं, दसवीं, इंटरमीडिएट के लड़के किसानों-मज़दूरों के लिए प्रयाणगीत लिखते हैं जिसमें वे उनके लिए अपने हृदय की सारी समवेदना उँडेल देते हैं! लेकिन रचना शक्तिशाली नहीं हो पाती, अकसर किसी सफल प्रगतिशील कविता की दूरागत प्रतिध्वनि या फीकी छाया होकर रह जाती है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि वे उन वर्गों के जीवन से परिचित ही नहीं हैं। मज़दूरों के जीवन से तो तनिक

भी परिचित नहीं हैं, और किसानों के जीवन से केवल इतना परिचय है कि जब गाँव के मदरसे में पढ़ते थे तब किसानों के बच्चों के साथ खेलते थे। जबसे शहर पढ़ने चले आये, यह सम्पर्क भी छूट गया। और अब केवल एक धुँधली-सी याद है—काले शरीर, मैले कपड़े जाड़े में, और काले शरीर अन्य ऋतुओं में, कुछ खेत, कुछ पेड़, कुछ कच्चे-अधकच्चे मकान। यह मैं मध्यम वर्ग के उन लोगों की बात कह रहा हूँ जिनका पुश्तैनी घर गाँव में है। जो सदा से शहर के रहनेवाले हैं, वे तो बिलकुल संभ्रान्त नागरिक हैं (!) जो अपने आस-पास, टोले-पड़ोस के नर-नारियों के बारे में कुछ नहीं जानते, हाँ, सिगरेट की किस्मों और सिनेमा की तारिकाओं के बारे में उनसे जो चाहे पूछ लीजिए। गाँव से कुछ संबंध रखनेवाले मध्यमवर्गीय लोग लिखते हैं तो बहुधा वही कच्चा, उच्छ्वसित 'प्रगतिशील' साहित्य और शहर के लोगों में से जब लेखक पैदा होते हैं तो वे 'रंगभूमि' मासिक और 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' के पन्नों को सुशोभित करते हैं और दिन-रात उस लड़की के लिए सिर धुनते हैं जिसे उन्होंने किसी सिनेमा या पार्क में देख लिया था। यह बात हम इतने विस्तार से इसलिए कह रहे हैं कि हमारा अनुभव है कि तरुण लेखकों का यह वर्ग दिशाहारा-सा घूम रहा है, इनको मार्ग दिखाने और संगठित करने की समस्या एक बड़ी समस्या है जिसे जब हम हल करने चलेंगे तब स्वयं हमारा भी विकास होगा। ऐसी अनेक रचनाएँ रोज हमारे कार्यालय में आती हैं जिनमें किसानों-मज़दूरों के जीवन का चित्रण करने की ईमानदार लेकिन असफल कोशिश होती है। यह साहित्य कमज़ोर होता है, लेकिन इससे यह पता चलता है कि हवा आज किस ओर बह रही है और प्रगतिशील साहित्य का नेतृत्व करनेवालों का आज क्या कर्तव्य है : शोषित जनता के अधिक से अधिक पास जाना।

× × ×

अभी ऊपर विचार करते समय हमने यह कहा था कि आज लगभग सभी महत्त्व-पूर्ण लेखक इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि सत्साहित्य जीवन से पराङ्मुख नहीं हो सकता। यह बात कहते समय हम 'माधुरी' के यशस्वी संपादक को भूल गये थे! उनके यहाँ कभी ऋतु-परिवर्तन नहीं होता। अभी हमने उनके पत्र में प्रकाशित एक लेख पर विचार किया। आइए अब हम स्वयं संपादकजी की बातों पर विचार करें। कविता के स्वरूप पर विचार करते समय उन्होंने अद्भुत सादगी से कुछ बातें कह दी हैं और बस कहते चले गये हैं, कोई केन्द्रीय बात नहीं है जिस पर विचार किया जा सके। लेकिन जो बातें उन्होंने अलग-अलग कही हैं उनसे एक विशेष प्रकार की मानसिक गठन का पता चलता है। पांडेयजी अपना विवेचन शुरू करते हैं—'दार्शनिक पंडित हेगेल ने रूपकर्म की सूची में कविता को ही प्रथम—सर्वश्रेष्ठ—स्थान दिया है। इसका कारण

यह है कि और सब सत्कर्मों का अवलंबन एकान्त वास्तव वस्तुएँ होती हैं किन्तु कविता का अवलंबन बिलकुल दूसरे ही प्रकार का होता है। कविता का उपकरण है सुन्दर, मनोहर छन्दोबद्ध भाषा। यह भाषा संपूर्ण रूप से मन की सृष्टि है, मनुष्य की मानसी कन्या है। इसी कारण इस स्थान पर कविता का वास्तव के साथ बहुत थोड़ा ही संबंध है।'

अगर इतने से लेखक का मंतव्य स्पष्ट न हुआ हो तो यह लीजिए :

'कविता एक धनीमानी बुनियादी घर की स्त्री है, साधारण घर की नहीं; इसी कारण उसे विशेष देश की, खास पोशाक की जरूरत होती है। जिसमें उसकी प्रतिष्ठा झलक उठे, वह उसके योग्य वेश है। उसे साधारण सादी सारी नहीं सोहाती, उसे चाहिए रंगीन, रेशमी, ज़री-किनारी की सारी।'

इसी भाव को लेखक और आगे बढ़ाता है :

'सुन्दर के लिए कोई भी पोशाक होने से काम चल सकता है, इस उक्ति का समर्थन करने को जी नहीं चाहता। बल्कि ऐसा देखकर मन विद्रोह ही कर बैठता है। ग़रीब के घर सुंदरी कन्या नहीं सोहाती यही तो लोगों की साधारण धारणा है। इतना रूप! इतने गुण! इसका उपयुक्त स्थान तो राजा के ही घर में है, ऐसा ही तो लोग कहते हैं।'

इसी भाव को लेखक एक और ढंग से व्यक्त करता है :

शकुंतला जैसी कुसुम-कोमल कलेवरवाली युवती को वल्कल पहने देखकर हमारे मन को कष्ट होता है।

अब ज़रा हमें ऊपर की तमाम उक्तियों पर विचार करना चाहिए। लेखक ने यह बतलाने के लिए कि कविता में ललित छन्दोबद्ध भाषा का प्रयोग होना चाहिए, यह सारा बंधान बाँधा है। यह एक सामान्य तथ्य है, एक स्वयंसिद्ध बात है कि भाव के अनुरूप ही भाषा को होना चाहिए, अधिक से अधिक भाववाही। इसमें तर्क की गुंजाइश नहीं है। लेकिन जो रंगीन-रंगीन उत्प्रेक्षाएँ देकर लेखक ने यह बात कही है, उससे हमारे मन में यह संदेह जागता है कि लेखक का इंगित भाववाही भाषा की ओर नहीं, अधिक से अधिक आलंकारिक भाषा की ओर है, भाव उससे व्यक्त होता हो चाहे न हो। सच पूछिए तो लेखक के आगे भाषा ही महत्त्वपूर्ण है, भाव का उसके लिए अस्तित्व ही नहीं है, उसकी कहीं वह चर्चा हो नहीं करता। भाव की पृष्ठभूमि में भाषा के प्रश्न को रखकर ही भाषा के प्रश्न को ठीक से समझा जा सकता है। भाव की पृष्ठभूमि स्पष्ट न होने से भाषा का प्रश्न भी उलझ जाता है, जैसा कि पाण्डेयजी के इस विवेचन में उलझ गया है। पाण्डेयजी को शकुन्तला को वल्कल पहने देखकर कष्ट होता है, लेकिन हम समझते हैं कि ऐसे लोगों की संख्या अधिक न होगी जो ऋषिकन्या शकुन्तला

को ज़री किनार की सारी पहने देखकर खुश हों ! परिधान वही होना चाहिए जो पात्र के उपयुक्त हो। पात्र से अलग परिधान की मीमांसा नहीं हो सकती और अगर हो सकती है तो इसी अनर्थकारी रूप में। यदि आप रूपक को तोड़कर पाण्डेयजी की बात पर विचार करें तो आप पायेंगे कि पाण्डेयजी शकुन्तला और पण्य स्त्री दोनों के लिए एक ही परिधान की व्यवस्था करना चाहते हैं। भाव अगर सादा है तो उसके लिए सादी भाषा ही काम देगी, उसी प्रकार जैसे शकुन्तला के शरीर पर वल्कल ही सोहता है। सादी, निरलंकार भाषा भी उदात्त भावों को व्यक्त कर सकती और करती है, यह ज़ोर देकर कहने की जरूरत है। अक्सर ऐसे भाव हो सकते हैं जहाँ अन्य कोई भाषा कविता की हत्या कर देगी, उसी तरह जैसे पाण्डेयजी की अत्यन्त प्रिय ज़री किनार की सारी पहनकर शकुन्तला कण्व के तपोवन की नैसर्गिक सुषमा नहीं, गणिका जान पड़ेगी।

हमारे मत से लेखक की इन भ्रान्त, चमत्कारपूर्ण उक्तियों के मूल में यह ग़लती है कि लेखक ने भाषा और भाव के परस्पर संबंध को बिलकुल नहीं देखा है। इस बात के अलावा उपर्युक्त सभी उद्धरणों में से एक और बात साफ है कि लेखक कविता की कल्पना एक अत्यन्त कोमलांगी, ख़ूबसूरत नाज़नीन के रूप में करता है जो ज़री की सारी में लिपटी हुई है और जिसके शरीर पर 'एक-दो भारी क़ीमती अलंकार' (छोटे-मोटे अलंकारों की संख्या पर कोई रोक नहीं !) हैं और जो राजा के दरबार में छूम-छूम नाच रही है ! या अगर इसी बात को दूसरी तरह कहें तो कहेंगे कि पाण्डेयजी ने कालिदास की —

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः

यक्ष-पत्नी को ज़री किनार की खास बनारसी सारी और यहीं के कन्हैयालाल सराफ़ के यहाँ के बने हुए पुराने चाल के एक-दो भारी क़ीमती अलङ्कार पहनाकर अपने हृदय के अन्तःपुर में बिठा लिया है !

पाण्डेयजी की इस टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि वे उन लोगों में हैं जो नये, समाजोन्मुख, युगधर्मी साहित्य की भूमि को आदि से अन्त तक अस्वीकार करके आज के युग में भी पुरानी रसवादी परम्परा को ज्यों का त्यों हृदय से चिपटाये बैठे हैं। उनका तो शायद यह भी मत जान पड़ता है कि संस्कृत साहित्य के बाद दुनिया में या भारत में ही कभी कोई साहित्य रचा ही नहीं गया ! यह बात हमें बड़ी अजब मालूम पड़ती है कि एक प्रतिष्ठित हिन्दी पत्र का सम्पादक कविता के स्वरूप पर विचार करते हुए मुख्य या गौण किसी भी रूप में हिन्दी कविता पर विचार न करे और अपनी बात समझाने या अपना मत प्रतिपादित करने के लिए कालिदास, भवभूति और जयदेव के काव्य की

ओर ही बार-बार अंगुलिनिर्देश करे ! पाण्डेयजी के लेख की उक्त प्रवृत्ति का विरोध करने में हमारा उद्देश्य कालिदास या भवभूति या जयदेव के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित करना नहीं है, वरन् यह दिखलाना है कि लेखक के मन में समस्त हिन्दी काव्य के प्रति उपेक्षा का भाव है। और इस उपेक्षा के मूल में भी साहित्य की वही गतानुगतिक चिन्ताधारा है जो पाण्डेयजी के सम्मुख कविता को एक तन्वी श्यामा के रूप में उपस्थित करती है। हमारे मत में रूढ़ियों के विष से ही यह समस्त दृष्टिकोण जर्जरित है। यह वही घातक दृष्टिकोण है जो साहित्य को समाज से मुख मोड़कर अपने रंगमहल में रहने के लिए कहता है और इस प्रकार साहित्य और समाज दोनों ही का घोर अकल्याण करता है। 'सुसाहित्य मानव-जीवन को पूर्णता की ओर ले जाता है और इसके विपरीत असत् साहित्य मानव-जीवन को अधोगामी करता है। इसलिए समाज के सम्मुख साहित्यिक का बड़ा भारी दायित्व है। जो लोग यह कहते हैं कि रस की सृष्टि करना ही साहित्यिक का प्रधान कार्य है वे यह भूल जाते हैं कि साहित्यिक का प्रकृत आदर्श क्या है। वे यह भूल जाते हैं कि रस-साहित्य की सृष्टि उच्च स्तर की भी हो सकती है और निम्न स्तर की भी। यदि साहित्य रस-सृष्टि करके मनुष्य की नीच प्रवृत्ति को जाग्रत करे और उसके फलस्वरूप मानव-समाज में उच्छृंखलता दिखायी दे तो हमें कहना होगा कि ऐसे साहित्य से समाज की असीम क्षति होती है। कोई शक्तिमान लेखक यदि यह भूल जाय कि साहित्य का आदर्श क्या है और शब्दों तथा वाक्यों के मायाजाल से विभ्रान्त मानव-मन में अबाध भोग-लालसा की प्रवृत्ति जाग्रत करे, तो कहना होगा कि वह लेखक मनुष्य का असीम अकल्याण कर रहा है। इसके ठीक विपरीत एक सुसाहित्यिक रस-सृष्टि द्वारा मानव-चित्त को उच्च आदर्शों की ओर उद्बुद्ध करेगा और इस प्रकार सामाजिक जीवन को सुष्ठु, सुन्दर और सुश्रृंखल बनायेगा।' *

पुराने और नये साहित्यिक दृष्टिकोण में यही अन्तर है कि एक भाववादी साहित्य का समर्थक है, दूसरा यथार्थवादी साहित्य का, एक व्यक्तिकेन्द्रिक साहित्य का समर्थक है, दूसरा समाजकेन्द्रिक साहित्य का। व्यक्तिकेन्द्रिक साहित्य से प्रयोजन उस साहित्य से है जो समाज से व्यक्ति को विच्छिन्न करके उसके ऐकांतिक सुख-दुःख और आशा-आकांक्षा की आलोचना करता है। पाण्डेयजी के विवेचन और चुन-चुनकर दिये गये उनके उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे व्यक्तिकेन्द्रिक भाववादी (सो भी श्रृंगारिक !) साहित्य के कट्टर समर्थक हैं !

जुलाई १९४९]

---

* श्री नगेन्द्रनाथ सेन गुप्त : 'समाजविवर्तने साहित्येर स्थान' परिचय, ज्येष्ठ संख्या